सूर्यकुमारी पुस्तकमाला—२८

निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

लेखक

डा० मोतीसिंह

प्रिंसिपल

डिग्री कालेज, गाजीपुर
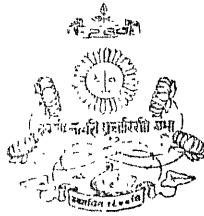
नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, राष्ट्रभाषा मुद्रण, काशी

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ : संवत् २०१६ वि०

मूल्य ७.५० न. पै.

प्रकाशकीय

नागरीप्रचारिणी सभा में सूर्यकुमारी पुस्तकमाला का आयोजन संवत् १९७६ वि० में महाराजाधिराज श्रीमान् सर उम्मेदसिंह, शाहपुरा (राजस्थान) द्वारा अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती सूर्यकुमारी जी की स्मृति में प्रदत्त दान द्वारा हुआ। खेतड़ी (शेखावटी) के यशस्वी विद्याव्यसनी तथा गुणग्राही महाराज श्री अजीतसिंह की वे सुपुत्री थीं। अपने एकमात्र भाई कुँवर जयसिंह के स्वर्गवास तथा अपनी एकमात्र अनुजा श्रीमती चाँदकुँवर बाई (धर्मपत्नी स्व० युवराज महाराजकुमार श्री मानसिंह जी) के वैधव्य तथा संततियों की अकाल मृत्यु की प्रताड़ना वे न सह सकीं और उनका भी असमय स्वर्गवास हुआ। वे अध्ययनशील अति शिक्षित महिला थीं। स्वामी विवेकानंद जी से वे अत्यंत प्रभावित थीं और मृत्यु के कुछ समय पूर्व उनकी यह कामना थी कि स्वामी विवेकानंद जी के समस्त प्रवचन, भाषण एवं ग्रंथों का हिंदी में प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित किया जाय। हिंदी के प्रति उनका अनन्य अनुराग था। वे चाहती थीं कि हिंदी में एक ऐसी अक्षय निधि की व्यवस्था की जाय जिससे हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन की व्यवस्था हो सके। अपने अंतिम समय में हिंदी की इस महान् सेविका ने एक लाख रुपए मूल्य के अपने आभूषण हिंदीप्रचार के लिये दानस्वरूप दिए। उन्हीं एक लाख रुपयों की निधि के सूद में से महाराज सर उम्मेदसिंह जी ने सभा को हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये संवत् १९७७ से १९८० वि० तक १९९८४ रुपए दान दिए। इन रुपयों से ही इस ग्रंथमाला का संचालन तब से सभा कर रही है।

इस ग्रंथमाला में प्रकाशित ग्रंथों का हिंदी जगत में विशेष आदर हुआ है। इसमें अब तक २८ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें निम्नांकित अब भी उपलब्ध हैं

(१) ज्ञानयोग, २ भाग (३) करुणा (४) शशांक (५) बुद्धचरित (६) मुद्राशास्त्र (७) अकबरी दरबार, भाग १ (८) पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास (९) हिंदू राजतंत्र, भाग १ (१०) अकबरी दरबार, भाग २ (११) कर्मवाद और जन्मांतर। (१२) हिंदी रसगंगाधर, भाग १ (१३) हिंदी गद्यशैली का विकास (१४) अकबरी दरबार, भाग ३ (१५) हिंदी रसगंगाधर, भाग २ (१६) गुलेरी ग्रंथ, भाग १ (१७) हिंदी रसगंगाधर, भाग ३ (१८) भारतेंदु ग्रंथावली, भाग २ (१९) भारतेंदु ग्रंथावली

भाग ३ (२०) तुलसी की जीवन भूमि (२१) असीम (२२) पाषाण कथा (२३) ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत (२४) तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य।

इस ग्रंथमाला का यह ग्रंथ काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पी एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबंध है। आशा है, अपने क्षेत्र में इस ग्रंथ का आदर होगा।

नववर्षारंभ

२०१६ वि०

सुधाकर पांडेय

प्रकाशन मंत्री

भूमिका

इधर संत साहित्य के संबंध में हिंदी तथा हिंदीतर साहित्यिकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ है। उसके विविध पक्षों पर गवेषणात्मक विवेचना करते हुए, एक ओर जहाँ उन्होंने विभिन्न संप्रदायों के बाह्योपचार को अपने विश्लेषण का विषय बनाया है, वहाँ रचनागत अनुभूत्यात्मक सत्यों तथा हृदय के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया है। ऐसा करने के लिये आवश्यक था कि संत साहित्य को व्यापक अर्थ में स्वीकार किया जाता।

संत साहित्य की व्याप्ति का मुख्य कारण है उसका नैरंतर्य। यह नैरंतर्य तब और भी दीर्घकालीन प्रतीत होने लगता है, जब हम उसे समग्र भारतीय चिंताधारा की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखते हैं। व्यापक अर्थ में यह 'मध्यकालीन साधना' के नाम से भी अभिहित होता है। उसके विवेचन का प्रयास आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने महत्वपूर्ण अनुशीलन 'मेडिवल हिंदू मिस्टीसिज्म' में पहली बार किया। दादूदयाल की रचनाओं पर उनका दूसरा प्रबंध भी इसी विचारधारा पर आधारित है। किंतु भारतीय चिंता के महत्तर परिनिवेश में मध्यकालीन हिंदी संतों की साधना और उनकी चिंतना को स्थापित कर, उसके अटूट और अनवरत नैरंतर्य को आँकने और परखने का प्रौढ़ और परिपक्व प्रयास आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने हिंदी साहित्य की भूमिका, सूर साहित्य, नाथ संप्रदाय और कबीर नामक ग्रंथों में किया। वास्तव में उन्होंने अपनी इन रचनाओं के द्वारा न केवल हिंदी के संत और निर्गुण साहित्य के मूल प्रेरणास्रोतों को सर्वप्रथम जिज्ञासुओं के संमुख उपस्थित किया, बल्कि साहित्य के अध्ययन, रसास्वादन और मूल्यांकन के लिये सर्वथा नवीन दृष्टिकोण भी उपस्थित किया। अभी तक केवल शब्दगत, अर्थगत और भावगत सौंदर्य के लिये ही सहृदय पाठक साहित्य का अनुशीलन और अध्ययन - अध्यापन करते थे, पर द्विवेदी जी ने मध्यकालीन संतों और साधकों की रचनाओं को सांस्कृतिक स्रोतों से अनुस्यूत प्रभावों के आलोक में देखने और परखने की चेष्टा की और इस प्रकार अतीत कालीन साधना और उसके अनेक अदृश्य और धुँधले दृश्यपटलों को हमारे नेत्रों के

संमुख प्रत्यक्ष किया। अतीत काल से हमारी संस्कृति का प्रवाह जिन उपकरणों से निर्मित होता आ रहा है और उनसे सलिलवान् होता हमारे देश का मानसधरातल अपनी उर्वरता के कारण जिस कलात्मक सौंदर्य के उच्च प्रतिमान तक पहुँचा हुआ है, इसका प्रथम संवेदनशील उद्‌घाटन द्विवेदी जी के ही कृतित्व से हिंदी-संसार को हुआ। प्रस्तुत प्रबंध का उद्देश्य उन्हीं के संकेत चिन्हों के आधार पर, उस सुदूर अतीत के रहस्यसंकुल प्रदेश में प्रवेश कर तत्कालीन जीवन के मूल्यों का संधान करते हुए देश की महती विचारधारा और जीवनादर्शों के परिपार्श्व में संत कवियों की वाणी और अभिव्यक्ति के मर्म को समझना है। (साहित्य के माध्यम से राष्ट्र और जातिजीवन के मूल्यों को उनकी समग्रता में भी समझने का प्रयास किया गया है। कहा गया है कि साहित्य देश की आत्मकथा होता है। वास्तव में आत्मकथा हम उसे इसी रूप में कह सकते हैं कि उसमें राष्ट्रीय और जातीय जीवन में व्याप्त अनेक प्रकार के विचारों और चिंताओं का अंतर्द्वंद्व और घात-प्रतिघात अत्यंत सच्चे और सफल रूप में अभिव्यक्त होता है। साहित्य और काव्य की सार्थकता उसकी इसी व्याख्या और मूल्यांकन में है।)

निर्गुण साहित्य के सांस्कृतिक प्रेरणास्रोतों का अनुसंधान करते हुए हमने भारतीय संस्कृति और प्रतिभा के जिस रूप का साक्षात्कार प्रत्येक संक्रांति-काल में किया है, वह है इस देश की चिंताधारा का संतुलन और समन्वय की अपूर्व क्षमता। हमारा देश एक गौरवपूर्ण और अत्यंत समृद्धशाली पुरातन परंपरा का वाहक और उत्प्रेरक है। उसमें प्रागैतिहासिक काल से आजतक अनेक नई जातियों, संस्कृतियों, धर्मों और जीवनादर्शों का आगमन और संक्रमण होता रहा। ऐसा सर्वप्रथम संक्रमण का काल, जिसका हमें ज्ञान है, आर्येतर और आर्य जातियों के परस्पर मिलन के समय उपस्थित हुआ था। उस समय की विचार-परंपरा, सांस्कृतिक मान्यताएँ और जीवनादर्शों का हमें जिन स्रोतों से परिचय मिलता है, बहुत प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते। वे बहुत कुछ केवल अनुमानसाध्य हैं उन्हीं के आधार पर उस काल में उपलब्ध सांस्कृतिक उपकरणों के विश्लेषण क प्रयास किया गया है। उस समय से संतसाधना के प्रारंभ काल तक अनेक प्रकार विचारों का आवर्तन और प्रत्यावर्तन हमें देखने को मिलता है। वैचारिक औ सांस्कृतिक जीवन के ये परिवर्तन आकस्मिक नहीं थे, उनके पीछे शताब्दियों की अने सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक मान्यताओं की शक्तियाँ प्रेरक का काम कर रही थीं। संत कवियों ने इन प्रेरणाओं को कभी भी अविचारित ढंग से स्वीकार नहीं किया उन्होंने इनके संनिवेश से उद्‌भूत नई सामाजिक धार्मिक परिस्थितियों से पूर्ण प्रतिक्रि

विचारधारा का सामंजस्य स्थापित किया और इस प्रकार एक गतिशील चिंतन की भी प्रतिष्ठा की। भारतीय संस्कृति में निहित इस चिरंतन प्रगतिशील तत्व को स्पष्ट करते हुए संतकाल तक भारतीय विचारणा के चरणचिह्न का संधान ही प्रस्तुत ग्रंथ में किया गया है। ऐसा करते हुए लेखक ने भरसक तटस्थ और निरपेक्ष रहने का प्रयास किया है। उसका किसी प्रकार का ऐसा पूर्वाग्रह न था और न है, जिससे चालित और अनुशासित हो समस्त विचारपरंपरा को उससे अनुरंजित करने की चेष्टा की गई हो। इतना अवश्य है कि उसके मन में देश की सांस्कृतिक विरासत के प्रति आदर और आस्था की भावना है और उसका विश्वास है कि अनेक प्रगतिकामी शक्तियों और परिस्थितियों के रहते हुए भी, इस देश की प्रतिभा सर्वदा जीवन के मूल उत्स से प्रेरणा लेती रही है और इसी कारण सभी प्रकार के झंझा और वात्याचक्र के आघातों के फलस्वरूप कहीं भी स्खलित नहीं हुई, बल्कि उलटे उनको ठेलती हुई बराबर अग्रसर होती गई। संत कवियों की साधना और रचना में उसे देश की इसी प्रतिभा के दर्शन हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में संतमत में पौराणिक प्रवृत्तियाँ, देवतामंडल और सृष्टि-प्रक्रिया शीर्षक अध्याय भी रखे गए हैं, जिनमें यह देखा गया है कि जिन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में संतसाधना की सार्थकता समझी जाती है, उन्हीं का ह्रास उसी मत के अनुयायियों और उनके समर्थकों की सहमति से हुआ। विचार, साधना और जीवन के आदर्शों में पुनः एक प्रकार की जड़ता, अवरोध और कुंठा सी व्याप्त हो गई। उसके पीछे भी जिन प्रतिक्रियावादी शक्तियों का प्रभाव था, उन्हें भी समझने की चेष्टा की गई है।

इस ग्रंथ को लिखने में मुझे संत साहित्य और भारतीय साधना के अनेक अनुसंधित्सु पंडितों की रचनाओं से सहायता मिली है। संत साहित्य और मुख्य रूप से कबीर के विचारों में कितनी शक्ति और प्रखरता थी, उसका प्रमाण उनकी रचनाओं की विभिन्न व्याख्याओं और टीकाओं से ही लगता है। महाराज विश्वनाथ सिंह ने पाखंडविनाशिनी टीका लिखकर उनको सर्वथा वैष्णव धर्मानुयायी सिद्ध करने का यत्न किया है। त्रिज्या टीका के टीकाकार महात्मा पूरन साहेब ने उनकी रचनाओं को सर्वथा पंथ के सांप्रदायिक परिवेश में देखा है। इसके अतिरिक्त आधुनिक और प्राचीन अनेक विद्वानों ने उसकी योग, प्रेम, संस्कृति और साधना परक व्याख्याएँ की हैं। इन सबकी टीकाओं और व्याख्याओं से भी हमने पर्याप्त लाभ

उठाया है। मैं उन सभी विचारकों, साहित्यिकों और आलोचकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के प्रति उनके ऋण के लिये अपना आभार प्रदर्शित कर, उसके महत्व और गुरुता को औपचारिक रूप प्रदान कर, मैं उसे हल्का नहीं बनाना चाहता। उनकी सहानुभूति और अंतर्दृष्टि से ही लाभान्वित होकर प्रस्तुत ग्रंथ इस रूप में उपस्थित हो सका है।

प्रथम वसंत नवरात्र
संवत् २०१६ वि०

मोतीसिंह

विषयसूची

प्रथम अध्याय

भारतीय संस्कृति, साहित्य और निर्गुण पंथ

१

भारतीय संस्कृति और निर्गुण-पंथ

कहा जाता है कि साहित्य युग-चेतना का प्रतिबिंब होता है। यह कथन अंशतः ठीक भी है, किंतु साहित्य को केवल युग-सापेक्ष्य कहना भी ठीक नहीं। यह केवल दर्पण नहीं जिसमें समय की परछाईं पड़ती है, किंतु यह एक क्रियात्मक और निर्माणकारी शक्ति भी है, जिसके द्वारा समाज और युग अपने रूप-विधान की प्रेरणा और इंगित पाता है। साहित्य की यह शक्ति गतिहीन अथवा जड़ नहीं, जो केवल एक समय किसी विशेष परिस्थितिवश जागरूक हो गई, फिर कुछ समय के लिये सुप्त अथवा निष्क्रिय हो गई। वरन् साहित्य काल-क्रम से बँधा हुआ एक ऐसा चिरंतन प्रवाह है, जो मानव सृष्टि के आदि काल से ही जब से मनुष्य में कलात्मक रचना की प्रतिभा मुखरित हुई, भिन्न-भिन्न रूप में उसके अंदर की कशमकश, संघर्ष और द्वंद्व को अभिव्यंजित करता और उसके समष्टि विकास का मार्ग प्रशस्त करता चला आ रहा है। अतः साहित्य युग-चेतना के उद्बुद्ध और प्रेरक शक्ति का रूप है। हिंदी साहित्य में निर्गुण मत के उद्भव और विकास को ठीक तरह से समझने के लिये हमें उसे इसी अनुबंध में देखना होगा।

निर्गुण मत मनुष्य की उस शाश्वत प्रेरणा का परिणाम है, जो मानवजीवन को उसके सहज, निसर्ग और संतुलित रूप में विकसित देखना चाहती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह सबसे अधिक संवेदनशील और सजग जीव है। उसकी मानसिक प्रकिया अत्यंत जटिल और गूढ़ है। अतः उसकी समस्याएँ भी उसी प्रकार उलझन ग्रस्त हैं। उसकी समस्याओं के वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक आदि अनेक पक्ष हैं। इसीसे उसकी दृष्टि इन्हीं अनेक आवेष्ठनों में फँसी रहती है। ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि वह इन आवेष्ठनों में फँस जाने के कारण अपने मूल-निसर्ग रूप को भूल जाता है। तत्व को भूल कर ऊपर की खाल को ही

सर्वस्व मान बैठता है। ऐसे ही अवसरों पर उसका सहज जीवन अपना संतुलन खो बैठता है। मनुष्य जीवन का चरम आनंद जीवन की विविधता के बीच संतुलन प्राप्त करना ही है। स्वाभाविक संतुलन के द्वारा अपने मूल मानव को पाने के ही चेष्टास्वरूप निर्गुण-संप्रदाय और निर्गुण साहित्य की सृष्टि हुई।

यदि हम यहाँ अपने देश में सभ्यता के उद्गम काल से लेकर संत साहित्य के जन्म तक के काल-व्यवधान पर एक विहंगम दृष्टि डालें तो हमें यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि हमारे देश के सांस्कृतिक जीवन में प्रायः ऐसी शक्तियों का संघर्ष प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में निरंतर होता रहा है, जिसमें एक ओर तो मनुष्य अपने सहज रूप को सुरक्षित रखते हुए उसी मार्ग पर अपना विकास करना चाहता है और दूसरी ओर धर्म, संप्रदाय आदि की शक्तियाँ अनेक रूपों से उसकी दृष्टि को धूमिल कर वाह्य उपचारों में फँसाए रखना चाहती हैं।

हमारे यहाँ धर्म का स्रोत प्रायः निगमागम कहा गया है। तुलसीदास ने अपने मानस में भी रचना की परिधि के संबंध में इसका उल्लेख किया है[1]। यह स्पष्ट ही है कि निगम से तात्पर्य तो वेदों से है, किंतु 'आगम' शब्द की कोई स्पष्ट रूपरेखा खींचना बहुत कठिन होगा। आगम संभवतः उन सभी धारणाओं, विश्वासों और मान्यताओं का सूचक है, जो वेद वाह्य स्रोतों से आकर भारतीय संस्कृति और धर्म का अनिवार्य अंग बन गईं। इस आगम का स्रोत प्राक्-ऐतिहासिक काल से आरंभ होता है, जो आज तक बराबर चला आ रहा है। यदि हम भारतीय विचारों और आदर्शों को आरंभ से देखें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि आर्य जब इस देश में आए और उन्होंने तीन वेदों की रचना की[2] तथा उनमें लिखे हुए आदर्शों और आचरणों को ही वे विहित और काम्य समझते थे, उसी समय संभवतः इस देश में असुर या आर्येतर सभ्यता का भी प्रचलन था और संभवतः वह सभ्यता और संस्कृति भी काफी उन्नत थी। आर्यों ने आरंभ में उस सभ्यता को अत्यंत उपेक्षा की दृष्टि से देखा और उन्होंने अपने तीनों वेदों में अपने ही देवताओं की स्तुति, प्रशंसा की है। युद्धों और संघर्षों में अपनी सफलता पर बलि और यज्ञ का विधान किया है। खान पान आदि में वे किसी निषेध अथवा वर्जना से बँधे नहीं थे। वे अनेक प्रकार के मांस आदि के प्रेमी थे।

---

१. 'नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्'
तुलसीदास : रामचरितमानस, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी पृष्ठ २।

२. प्रो० रीस डेविस : बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २१३।

सोम और सुरा तो उन्हें सचमुच स्वर्गीय आनंद की वाहक थीं। उनके अधिकांश देवता भी प्रकृति की ऐसी शक्तियों के प्रतीक थे, जो या तो त्रासदायक थीं अथवा जिनकी कृपा पर उनका जातीय जीवन अवलंबित था, किंतु अत्यंत आश्चर्य की बात है कि उन्हीं के समकालीन और उनसे भी पूर्व की प्राक्ऐतिहासिक आर्येतर सभ्यता का जो संभवतः उनसे भी अधिक उन्नत और उदार थीं, सामान्य संकेत भी आर्यों के ग्रंथों और रचनाओं में नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है, आर्यों के आगमन के समय उन्हें आर्येतर जातियों से युद्ध करने में अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ी और उनके समाज के कुछ थोड़े से व्यक्ति जो युद्ध की जिम्मेदारी से मुक्त थे, देवताओं की पूजा और बलि के कार्य में नियुक्त हुए। उन लोगों ने कुछ ही समय में आर्यों के पार्थिव संघर्ष में रत रहने का लाभ उठा कर, पुरोहितवाद और कर्मकांड का ऐसा वितंडावाद बना डाला, जिसमें सारी आर्य जाति, विशेष रूप में सैनिक वर्ग जो युद्ध के द्वारा जातीय जीवन की रक्षा करता था और विजय होने पर उसका उपभोग करता था, पुरोहितों और उनके देवताओं की कोपदृष्टि और कृपादृष्टि दोनों के कारण उनके बहुत कुछ अधीन हो गया।

यह संघर्ष बहुत समय तक चलता रहा। अनेक रूप में और अनेक ढंग से प्रच्छन्न रूप से अधिकार की यह होड़ चलती रही होगी। पुरोहितों ने अपने द्वारा निर्धारित सिद्धांतों और कर्मकांडों को प्रधानता देने के लिये संभवतः आर्येतर जातियों के आचार और रहन सहन का भरसक कहीं उल्लेख नहीं किया और यदि कहीं उनका उल्लेख हुआ है तो अत्यंत तिरस्कृत रूप में। किंतु पुरोहित ही सारा समाज नहीं थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरोहितों के अतिरिक्त आर्यों का सामान्य जन-समुदाय बराबर आर्येतर जातियों के संपर्क में आता रहा और उनके बीच आर्येतर विचार और सिद्धांत धीरे धीरे प्रवेश करने लगे। आर्यों का अंतिम चौथा वेद अथर्ववेद निश्चित रूप से इन आर्येतर स्रोतों से आनेवाले प्रभावों की समष्टि प्रतीत होता है। इसमें अनेक प्रकार के अभिचार की साधन-प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन है। यह स्पष्ट है कि पुरोहितवाद के विधि-निषेध के बावजूद भी जन जीवन में उदार ग्राहिकावृत्ति वर्तमान थी। वैदिक साहित्य में जिन्हें अनिंद्राः (इंद्र के न माननेवाले) अयज्ञाः (यज्ञ प्रथा को न मानने वाले) और असुर कहा गया है, वे कुछ विद्वानों की संमति में आर्येतर जातियाँ थीं, जिनका संस्कार उच्च और आचरण प्रशंसनीय था। यक्ष, नाग, विद्याधर, किन्नर आदि संभवतः ऐसी ही जातियाँ थीं, जिनके ललित कला के ज्ञान की श्रेष्ठता को पौराणिक युग में आर्य ग्रंथकारों ने भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया था। आर्य वास्तव में संघर्षशील युद्ध-प्रेमी और खान पान में रुचि

रखनेवाले लोग थे, किंतु आर्येतर जातियाँ नृत्य, गान, शिल्प और सौंदर्य की ज्ञाता, प्रेमी और स्रष्टा थीं। मय नाम के असुर ने ही पांडवों के हस्तिनापुर का अप्रतिम राजमहल बनाया था, जिसके समान निश्चित रूप से उस समय आर्य जाति में एक भी कलाकार नहीं था। सौंदर्य और कला प्रेम में भी यक्ष, किन्नर आदि जातियाँ आर्यों की अपेक्षा बहुत आगे रही होंगी। इनका जीवन अधिक मुक्त था। देववाद और पुरोहितवाद से भी वे बहुत कुछ स्वतंत्र थे। उनमें शिश्न पूजा भी प्रचलित रही होगी, जिसको शिश्न पूजक कह कर आर्य ग्रंथकारों ने अपनी उपेक्षा और घृणा का परिचय दिया था और इन्हें कर्मकांड आदि में जाना वर्जित कर दिया था, किंतु इनके कोमल और मधुर जीवन और मुक्त आचार की ओर आर्य जन समुदाय निश्चित रूप से आकृष्ट हुआ। ब्राह्मण ग्रंथों के कर्मकांडवाद के बाद उपनिषदों के चिंतन का समय आता है, जिसमें जीवन, जगत् और सृष्टि-प्रक्रिया की अत्यंत सूक्ष्म और गंभीर चिंतना हुई है। यह चिंतन भी पुरोहितों के द्वारा नहीं हुआ है, वरन् अधिकतर क्षत्रिय तथा अन्य विचारकों द्वारा हुआ। उपनिषद के बाद सारे उत्तरी भारत में स्वतंत्र धार्मिक चिंतन और निर्भीक विवेचना का काल आता है। यह निश्चित है कि इस काल की धार्मिक और दार्शनिक चेतना पुरोहितवाद और कर्मकांड के विरुद्ध विद्रोह के रूप में थी। आर्य लोग ऋग्वेद के बहुदेववाद के उपरांत प्रमुखतम देववाद की कल्पना के समीप आकर एक ब्रह्म की कल्पना कर चुके थे, किंतु सारी वैदिक परंपरा ही इस समय संशय और विरोध और विद्रोह का विषय बनी हुई थी। कपिल ने अपने सांख्य-दर्शन और चार्वाक ने अपने पदार्थवादी दृष्टिकोण के द्वारा चिंतन के क्षेत्र में बौद्ध और जैन धर्म के उदय का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पुरोहित वर्ग जनता में बढ़ती हुई इस निरंकुशता की भावना से आतंकित हो चुका था और उसे रोकने के लिये अपने ढंग से सक्रिय भी था। संभवतः इसी समय 'नास्तिको वेद निन्दकः' का फतवा दिया गया। वैसे ईश्वर में विश्वास न रखनेवाला नास्तिक कहा जाता है, किंतु उस समय वैदिक मर्यादा की रक्षा करना पुरोहितों के लिये ज्यादा आवश्यक था। इसीसे उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न को ओट देकर, वेदों की मर्यादा की रक्षा करने का बीड़ा उठाया। बौद्ध और जैन दर्शन दोनों न केवल वेद विरोधी थे वरन् अनीश्वरवादी भी थे—कम से कम उन्होंने कभी प्रकाश्य रूप से ईश्वर में आस्था नहीं दिखाई। राजकुमार सिद्धार्थ और महावीर स्वामी दोनों ही क्षत्रिय थे। डा० रीस डेविस के मत से अनीश्वरवादी दर्शन के रचयिता कपिल भी क्षत्रिय थे। इस आधार पर अधिकांश पाश्चात्य विचारकों ने प्रायः इस युग के

धार्मिक उद्वेलन का विवेचन करते हुए क्षत्रिय और ब्राह्मण के संघर्ष का चित्रण किया है। असल में यूरोप का अधिकांश इतिहास इसी प्रकार से सत्ता को अधिकृत करने के लिये चर्च और राजशक्ति के संघर्ष का इतिहास है। १२वीं से १७वीं शताब्दी तक का योरप का इतिहास धार्मिक और राजकीय शक्तियों के संघर्ष की छाया में विकसित हुआ है। अतः स्वाभाविक है कि उन्होंने भारत के भी इतिहास में उन्हीं शक्तियों का संघर्ष देखने की चेष्टा की है। प्रो० रीस डेविस ने अपनी पुस्तक 'बुद्धिस्ट इंडिया' में बौद्ध धर्म के जन्म और विकास में इन्हीं तत्वों और स्वार्थों का संघर्ष दिखलाया है। स्मिथ, सिलवन् लेवी आदि दूसरे विद्वानों ने भी तत्कालीन सांस्कृतिक और धार्मिक विचारधाराओं की उत्पत्ति और विकास का विश्लेषण इसी आधार पर किया है। वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास और प्रगति के मूल रूप को पहचानने की गलती इन विद्वानों के इस विश्लेषण के कारण है। भारतीय संस्कृति न संघर्ष मूलक है, और न उसके विकास के लिये संघर्ष ही अपेक्षित है। अर्थात् वर्ग, जाति या संप्रदाय का संघर्ष हमारी संस्कृति के विकास के मूल में नहीं रहा है। वास्तव में भारतीय जीवन और संस्कृति का मूल केंद्रविंदु समन्वय है। अतः हमारी संस्कृति मूलतः समन्वयवादी रही है। "किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों में या सामाजिक संबंधों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करनेवाले उन उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए। समस्त सामाजिक जीवन की परिणति संस्कृति में ही होती है।"[1] विभिन्न सभ्यताओं का उत्कर्ष तथा अपकर्ष संस्कृति के द्वारा ही नापा जाता है। उसके द्वारा ही लोगों को संघटित किया जाता है। इसीलिये संस्कृति के ही आधार पर विभिन्न धर्मों, संप्रदायों और आचारों का समन्वय किया जा सकता है।[2] वास्तव में उस काल में या उसके बाद अन्य अवसरों और संक्रमण

१. कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवन व्यापारेषु सामाजिक सम्बन्धेषु वा मानवीयत्व दृष्ट्या प्रेरणा प्रदानाम् तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः। वस्तुतस्तस्यामेव सर्वस्यापि सामाजिक जीवनस्योत्कर्षः पर्यवस्यति। तथैव तुलया विभिन्न सभ्यतानामुत्कर्षापकर्षौ मीयेते। किं बहुना, संस्कृतिरेव वस्तुतः सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय (छान्दोग्योपनिषद्–८।४।१) इत्येवं वर्णयितुं शक्यते। अतएव च सर्वेषां धर्माणां संप्रदायानामाचाराणां च परस्परं समन्वयः संस्कृतेरेवाधारेण कर्तुम् शक्यते।

–प्रबंध प्रकाश, भाग २, पृ० ३

२. मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का विकास, प्र० सं०, पृ० ३-४।

की अवस्थाओं में देश के सांस्कृतिक जीवन में उद्वेग और विक्षोभ दिखलाई पड़ता है, वह समन्वय के ही प्रयास और क्रियाशीलता का चिह्न है। समन्वय के प्रयास में जो अवरोध उपस्थित होते हैं, उन्हीं के कारण संघर्ष की तात्कालिक उत्पत्ति होती है। किंतु यह संघर्ष आनुषंगिक होता है। सांस्कृतिक जीवन के मूल में स्थित नहीं रहा है।

वास्तव में समन्वय के मार्ग में जो शक्तियाँ गतिरोध उपस्थित करती हैं, उनके विरुद्ध अवश्य भारतीय संस्कृति ने अभियान किया है। आर्य जब इस देश में आये तो उन्होंने आर्येतर जातियों की संस्कृति, रहन-सहन और आचार आदि को अपनाने की चेष्टा की। उनको इस समन्वयवाद के मार्ग से विरत करने के लिये स्थिर स्वार्थवाले पुरोहितों ने अवरोध अवश्य उपस्थित किया। उन्होंने कर्मकांड के पाश को बहुत ही दृढ़ किया। यज्ञ और अनुष्ठान की क्रियाएँ अत्यंत क्रूर और हृदयहीन हो गईं। उनका प्रतिकार और प्रतिक्रिया निस्संदेह बौद्ध और जैन धर्म के रूप में हुई। प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान श्री एम० सिलवेन लेवी ने अपने अत्यंत पांडित्यपूर्ण ग्रंथ में उस पुरोहितवाद के निष्ठुर कर्मकांड का वर्णन इन शब्दों में किया है:—

ब्राह्मणों के कर्मकांडवाद से अधिक क्रूर और पदार्थवादी प्रथा की कल्पना कठिन है। ऐसे विचार जो क्रमशः संस्कृत होते गए और जिन्होंने नैतिकता का परिधान धारण कर लिया, अपनी हिंस्र यथार्थता से हमें आश्चर्य चकित कर देते हैं।[1] इस प्रकार कर्मकांड को जानबूझकर ऐसा बना दिया गया था, जिससे उसके बंधन को तोड़ कर किसी उदार विचारधारा का विकास और संवर्धन असंभव हो जाय। किंतु ऐसी शक्तियों की जो वास्तव में किसी स्थिर स्वार्थ की रक्षा में जितनी ही दृढ़ और एकाग्र होती हैं प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होती है और वे सदैव रक्षक के स्थान पर घातक सिद्ध होती हैं। इस तरह यह कर्मकांड की कठोरता ही नए उदार बौद्ध और जैन धर्म की उद्‌भाविका हुई। अतएव बौद्धधर्म वस्तुगत परिस्थिति के विरुद्ध, प्रतिक्रिया था, किसी जाति विशेष के विरुद्ध नहीं। इस प्रकार की प्रतिक्रियां कर्मकांड के विरुद्ध ही नहीं—बौद्ध और जैन धर्म के रूप में—उपनिषद काल की बुद्धिवादिता और गहनता के विरुद्ध भी प्रकट हुई। ईश्वर, प्रकृति और जीव को लेकर उपनिषद काल में जितनी सूक्ष्म विवेचना हुई है, वह सामान्य मनुष्य को

---

१. रीस डेविस : बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २४०।

दिग्भ्रम करानेवाली है। इसीसे भगवान बुद्ध ने बराबर ही ईश्वर और जीव आदि विवाद ग्रस्त विषयों पर कभी टीका नहीं की। बौद्ध धर्म वास्तव में मानव जीवन का एक सामान्य आचारशास्त्र (एथिक्स) है, जिसमें दार्शनिक प्रतिद्वंद्विता के मार्ग को छोड़कर सरलता के आधार पर मानव जीवन को पुनः आर्यों के आदि कालीन समता के मार्ग पर लाने का प्रयास मिलता है। यहाँ इस संबंध में यह भी द्रष्टव्य है कि बौद्ध धर्म का सरल आचारशास्त्र औपनिषदकालीन उस बुद्धिवादिता के भी विरुद्ध प्रतिक्रिया है, जिस क्षेत्र में तत्कालीन क्षत्रिय विचारकों ने ही प्रमुखता हासिल की थी। जनक, प्रवहरण, सत्यकाम, कपिल आदि प्रसिद्ध दार्शनिक क्षत्रिय ही थे। अतएव बौद्ध धर्म को ब्राह्मणवाद के विरुद्ध क्षत्रियों का विद्रोह मानना युक्ति संगत नहीं होगा।

भारतीय चिंता की धारा के सतत् प्रवहमान और प्रगतिशील रूप को समझने के लिये हमें इस देश की इस मौलिक प्रतिभा को पहचानना होगा। यह मौलिक प्रतिभा किसी भी विचारधारा के प्रति दुराग्रह और जड़ निश्चय के रूप में व्यक्त नहीं होती, वरन् परिस्थिति और युग की माँग को देखते हुए, उसमें अपेक्षित परिवर्तन और सुधार तथा संस्कार करते हुए जन जीवन के विकास और प्रस्फुरण को समुचित अवसर और अवकाश प्रदान करती है। यह मार्ग संतुलन और समन्वय का है। यही बौद्ध धर्म का 'मज्झिम' मार्ग है, गीता के 'युक्ताहार-विहार' का मार्ग है, सिद्धों और नाथ साधकों का सहज मार्ग है और संत कवियों का 'निर्गुनी मार्ग' है। जब जब धर्म के नाम पर कट्टर संप्रदायवादी, जीवन के अबाध और स्वतंत्र प्रवाह को अपनी जड़ एकांगिता और अतिवादिता से अवरुद्ध करने में कुछ अंश तक सफल होने लगे, तब तब हमारे देश की सांस्कृतिक प्रतिभा अपने शतधा प्रवाह में फूटकर इस अवरोध को खंड खंड कर दिया और पुनः जन जीवन को अपने शीतल कोमल और कल्याणकारी स्पर्श से पुलकित और आर्द्र करने लगी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति मूलतः सामाजिक और समष्टिमूलक है। जातीय जीवन का संरक्षण, उन्नयन और विकास इसका लक्ष्य रहा है। जनजीवन का वियोग इसके लिये दमघोंट सा रहा है, इसलिये जो थोड़े लोग इसे अपने स्वार्थ की सीमा में बाँधने के लिये सचेष्ट हुए, वे चाहे पुरोहित थे, चाहे तत्ववादी पंडित थे, अथवा राजकीय शक्तियों के प्रतीक महत्वाकांक्षी नरेश थे, सबके पाश को उच्छिन्न करती हुई, यह लोक जीवन से ही जीवन और खाद्य पाकर, अभिनव सौंदर्य और शक्ति के साथ जन जन के मन और हृदय को आलोकित करती हुई चली आ रही है।

भारतीय चिंता का प्रभूत जीवन तत्व ऐसे अवसरों पर विशेष रूप से प्रकट हुआ है, जब इसका संपर्क अपने ही समान दूसरी चिंतन धाराओं से हुआ। ऐसे अवसरों पर प्रायः बलवती विचारधारा अपने से दुर्बल को सदैव के लिये आत्मसात् कर लेती है, किंतु भारतीय चिंता ने इस समस्या को जीत-हार के रूप में नहीं देखा है। उसने सदैव ही ऐसे अवसरों पर केवल एक कसौटी पर अपना कर्त्तव्य-पथ निर्दिष्ट किया है—वह है समष्टि जीवन का व्यापक हित और कल्याण का आदर्श। जिस ढंग से और जिस विधि से इस आदर्श की प्राप्ति हुई, उसे ही उसने अपनाया। इस-लिये सबको अपने में पचाकर यह आज भी अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण बनाए हुए है।

इस कसौटी पर आचरण करने का पहला अवसर हमारे इस देश में आर्य जीवन के प्रारंभ में आया। आर्य लोग जब आए तो उनकी सभ्यता और सामा-जिक संगठन ग्राम्य जीवन पर अवलंबित था। उनमें विकेंद्रीकरण की सुविधा के साथ जातीय जीवन के विकास और उन्नयन का आदर्श था। उनका जीवन मुख्यरूप से सैनिक जीवन की तरह सरल स्पष्ट और यथार्थवादी था। उन्हें यहाँ आने पर यहाँ के असुर, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, विद्याधर आदि जातियों की एक ऐसी संस्कृति मिली, जो मुख्यतः नागरिक जीवन पर अवलंबित थी[1]। उसका दृष्टिकोण व्यष्टिगत था। जीवन का संगठन और राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन का ढाँचा केंद्रमूलक था, अर्थात् इकाइयों के स्थान पर केंद्रीय सत्ता दृढ़ थी, जिससे उनके जीवन का संचालन होता था। उनमें कला का निखार अधिक प्रखर था। संगीत, नृत्य शिल्प आदि में आर्यों की अपेक्षा वे अधिक उन्नत थे। आर्य जीवन जो भारतीय चिंतन का उपजीव्य हुआ, शीघ्र ही आर्येतर संस्कृति से इन सभी उपा-देय तत्वों को ग्रहण कर, धीरे धीरे आत्मसात् करने लगा और तदनुकूल उसमें नयी उन्नत विचारधारा का समावेश हुआ और उसका बहुत कुछ प्रभाव बौद्ध-जैन-धर्म के रूप में हमारे संमुख आया। उसी प्रकार उनकी नागरिक सभ्यता और दृढ़ केंद्र सत्ता का रूप सर्वप्रथम भारतीय साम्राज्य के रूप में मौर्यकाल में प्रकट हुआ। आर्यों के ग्राम संगठन का ढाँचा देश के सुदूर प्रांतों में यथावत बना रहा किंतु सत्ता को दृढ़ और राज्य को अडिग बनाने के लिये एक दृढ़ और सबल कर्मचारी वर्ग का संगठन हुआ। और उसके साथ उसका नेतृत्व और संचालन करने के लिये शक्ति का केंद्रीकरण किया गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का मुख्य स्वर इन्हीं दोनों विचारों को व्यक्त करता है। इसीसे उस काल में अनेक गणराज्यों का भी अस्तित्व समाप्त कर दिया गया था।

१. राफ टर्नर : ग्रेट कलचरल ट्रेडिशन, पृ० १६८।

दूसरा सांस्कृतिक संक्रमण का अवसर पुराण-युग है। जातीय जीवन अब पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत और व्यापक हो गया था। भारतीय संस्कृति के क्रोड़ में न केवल उत्तर भारत के सब प्रांत, मध्य एशिया और अफगानिस्तान आदि देश ही थे, वरन् सुदूर दक्षिण के उत्कल, आंध्र तक भारतीय सभ्यता पहुँच चुकी थी। इसी बीच देश में अनेक जातियों और उनके प्रभावों का आगमन हो चुका था। यूनानी, यवन, शक, सिदियन, हूण, कुशन अनेक जातियाँ आईं और यहाँ पर बस गईं थीं। उनको लेकर समाज संगठन की नई समस्या आ गई थी। चातुर्वर्ण्य के विभाजन के कारण सामाजिक विकास बहुत कुछ अवरुद्ध हो गया था। इसमें भी परिवर्तन अपेक्षित था। नई जातियों और नये रक्तों को अपने में मिला कर एक में किया गया। जो जहाँ खपनेवाले थे, उनको वहाँ खपाया गया। इस प्रकार भारतीय समाज को नया रक्त देकर इसे एक प्रकार से पुष्ट ही किया गया।

विचार और चिंता के क्षेत्र में भी इसी प्रकार बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अभी तक भारतीय चिंता मुख्य रूप से बुद्धिवादी और आचारवादी थी। शुष्क ज्ञान की प्रधानता वेद, उपनिषद काल की विशेषता थी। बौद्ध और जैन दर्शन आचार प्रधान था। उसमें विवेक की प्रधानता थी। अभी तक हृदय-तत्त्व देश की चिंताधारा से बहुत कुछ उपेक्षित था। दक्षिण के आलवाड़ और दूसरे लोक धर्म के अनुयायी आचार्यों की भाव-प्रवणता उत्तर भारत की भ्रमणशील आभीर जाति का लोक रंजक गोपाल रूप और गीता और भागवत के माध्यम से आती हुई वसुदेव और भागवत संप्रदाय की विचारधारा, सबका कालक्रमानुसार संगम हुआ और इस प्रकार सारे देश के जन मन को आप्लावित करनेवाली भक्ति धारा का उदय और विकास हुआ। अनेक शास्त्रीय मर्यादाओं और नैतिक वर्जनाओं में पड़कर हृदय का राग जो तड़प रहा था, उसे पुराण युग की शांति और व्यवस्था ने उभड़ने के अनुकूल परिस्थिति दी। इसलिये एक ओर जहाँ भागवत धर्म का हृदय हुआ, जो शास्त्रानुमोदित होने के कारण हृदय की भाव-साधना का समर्थन करते हुए भी नियमन युक्त था, वहीं बहुत काल की दबी हुई उद्दाम वासना अपने प्रबल आवेग में सभी बंधनों को तोड़ कर, शिश्न-पूजा, यौन-पूजा, पंचमकारवाले घोर शाक्त और शैव-मार्ग के रूप में प्रवाहित हो चली। समाज के निचले वर्ग में इस प्रकार की अनेक गुह्य पद्धतियाँ आईं, जो शास्त्र और आगमों की उँगली पकड़ कर एक नये आचारवाद का सहारा लेकर चलीं। वास्तव में आदिम जातियों में प्रचलित अंधविश्वाश और अनेक प्रकार की यौन

संबंधी प्रक्रिया, जो अब तक दमित और प्रच्छन्न रूप में धीरे धीरे आर्यों में भी प्रवेश कर रही थी, इस समय जब बुद्धि और विवेक का नियंत्रण ढीला हुआ, शैव और शाक्त आगम के रूप में चल पड़ी। इन्हीं विचारधाराओं से बौद्ध धर्म का विकृत और पतनप्राय शून्यवाद, सहजयान और वज्रयान भी मिल गया। इस प्रकार इस युग के आचार उच्छृंखल समय में सभी प्रकार के लोगों ने इस नियंत्रणहीनता का लाभ उठाया। हृदय तत्व का समावेश कर जिस अभाव की पूर्ति का प्रयास भारतीय संस्कृति ने किया, उसमें पुनः एकांगिता और अतिवादिता आई, सामाजिक जीवन का संतुलन बिगड़ गया। परिणामस्वरूप कठोर आचारवादी हठ संप्रदाय और नाथ संप्रदाय का जन्म हुआ। विचार के क्षेत्र में पुस्तक और पांडित्य को अनुपयुक्त समझनेवाले सहज-सिद्ध-संप्रदाय की उत्पत्ति हुई। पुस्तक और पंडितों से इस समय एक व्यापक अरुचि और वितृष्णा व्याप्त दिखाई पड़ती है। जीवन के कर्तव्य का निर्देश करने के लिये सहज अनुभूति की ही आवश्यकता समझी जाने लगी। इसी बीच देश में मुसलमानों का आक्रमण हुआ। सारा देश एक नई शक्ति और सत्ता के धक्के से झकझोर उठा। केवल हृदय तत्व की प्रधानता समाज में विश्रृंखलता और क्लीवता का संचार करनेवाली थी। सामाजिक विषमता और रूढ़ियों का खंडन और सहजानुभूति के समर्थन की जो सिद्धनाथ की विचारधारा प्रमुख रूप से समाज में फैल रही थी, वह भक्ति की उपासना पद्धति और आचारवाद से मिल कर, संत वाणी के रूप में अभिनव स्वरूप पाकर छोटे, बड़े, मूर्ख, पंडित सबके मानस में लहरा उठी। मुसलिम सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में भारतीय विचारधारा ने जो नया धरातल ढूँढा, वह वेद, शास्त्र या पुराण का सहारा लेकर नहीं पैदा हुई, वरन् सीधे लोक मानस से बल पाकर जनजीवन में समादृत हुई।

द्वितीय अध्याय

निर्गुण साहित्य का परिचय

२

निर्गुण साहित्य का परिचय

निर्गुण साहित्य के अंतर्गत रूढ़ रूप से हम कबीर और उनके परवर्ती निर्गुण उपासक हिंदी कवियों की रचना की गणना करते हैं, किंतु जब सहजिया सिद्ध तथा नाथ संप्रदाय का भी साहित्य प्रकाश में आ चुका है और स्पष्ट रूप से सबके अंतराल में प्रायः एक ही विचार-धारा, चिंतन-प्रद्धति प्रवाहित मिलती है तब कोई कारण नहीं कि हम उसका भी समावेश इसके अंतर्गत न करें। वास्तव में बौद्ध धर्मानुयायी सहज सिद्धों और नाथ मतावलंबी सिद्धों की वाणियों के ही प्रकाश में कबीर, दादू और नानक आदि परवर्ती संतों के मर्म को हम ठीक तरह से समझ सकते हैं। यदि हम सिद्ध काल से लेकर नानक और दादू प्रभृत्ति संत कवियों की रचनाओं को देखें तो हमें निर्गुण साहित्य में प्रायः दो प्रकार की प्रधान प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक प्रवृत्ति तो साधनाजन्य चरम आनंद को श्रद्धा और उल्लास से व्यक्त करनेवाली है और दूसरी प्रवृत्ति खंडनात्मक है जिसमें उस समय के समाज में प्रचलित नाना प्रकार की रूढ़ियों अंधविश्वासों और वाह्याचारों का विरोध व्यक्त हुआ है। खंडनार्थ रचनाओं में भी हमें दो प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है एक केवल खंडन की और दूसरी निषेध की। खंडन की प्रवृत्ति मूलतः समाज में वर्तमान धार्मिक या सामाजिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों और मान्यताओं के विरोध में है। निषेधमूलक प्रवृत्ति आचरण और कर्तव्य संबंधी है जिसमें संत कवियों ने कुछ विशेष प्रकार की क्रियाओं को करने से वर्जित किया है। पहली प्रकार की रचना में मूर्तिपूजा, जातिवाद, तीर्थयात्रा अथवा अनेक प्रकार के वाह्य उपचार और कर्मकांड का खंडन किया गया है। कबीरदास ऐसे ही कर्मकांड का विरोध करते हुए कहते हैं कि मुक्ति का संबंध न तो नग्न रहने से है और न वस्त्र-

सामान्य प्रवृत्तियाँ—खंडनात्मक और श्रद्धामूलक

सज्जा से ही। वास्तव में आत्म तत्व की पहिचान आवश्यक है। बहुत से योगी यती नंगे ही रहते हैं किंतु विचारने की बात है कि यदि नंगे रहने से ही मुक्ति होती है तो फिर बन के मृगों को सबसे पहले मुक्ति मिलनी चाहिये। यदि शिर के बाल मुंड़ाने से मुक्ति मिलती है तो फिर भेड़ों से अधिक मुक्ति का अधिकारी कौन है जो अनेक बार मुँड़ी गई हैं। वीर्य की रक्षा और ब्रह्मचर्य भी मुक्ति के एकमात्र दाता नहीं क्योंकि यदि इसी से मुक्ति संभव होती तो फिर बकरे को भी इसकी प्राप्ति होती। पढ़ने और अध्ययन करने से भी विशेष सहायता नहीं मिलती क्योंकि इससे अहंकार की उत्पत्ति होती है।[1]

भक्त रैदास भी इन्हीं संत कवियों में एक प्रमुख कवि हैं। जाति के चमार थे किंतु भक्ति से आर्द्र उनका चरित्र और व्यक्तित्व पावन था। यद्यपि खंडन और विरोध में इनका स्वर उतना उग्र नहीं है जितना कबीर का, फिर भी नम्रता से सच्ची बात को उपस्थित करना उनकी विशेषता है। उन्होंने अनेक आचार और कर्मकांड को गिनाया है जिन्हें सामान्यतः जीवन में आचरित करके लोग मोक्ष के अधिकारी अपने को समझने लगते हैं किंतु वस्तुतः वे भ्रम के पाश में बँधे रहते हैं। रैदास जैसे महात्मा उसी भ्रम के पाश को छिन्न करके लोगों को सच्चे धर्म का मार्ग दिखलाते हैं।

ऐसी भगति न होइ रे भाई।
राम नाम बिनु जो कछु कहिये जाँ सत भरम कहाई।
भगति न रसदान, भगति न कथै ज्ञान।
भगति न ऐसी हाँसी, भगति न आसा पासी।
भगति न यह सब कुछ कानि गँवाई।
भगति न इंद्री बाँधा, भगति न जोग साधा।
भगति न अहार घटाई, ये सब करम कहाई।

---

१. का नाँगे का बाँधे चाम। जौ नहिं चीन्हसि आतम राम।
नाँगे फिरे जोग जो होई। बन का मृग मुकति गया कोई।
मूँड़ मुड़ाए जो सिधि होई। स्वर्ग ही भेंड़ न पहुँची कोई।
व्यंद राखे जे खेलै है भाई। तौं पुसरें कौण परम गति पाई।
पढ़े गुने उपजे अहंकारा। अधधर डूबे बार न पारा।
कहै कबीर सुनहु रै भाई। राम नाम बिन किन सुधि पाई।
—कबीर ग्रंथावली, पद सं० १३२, पृ० १३०।

भगति न इंद्री साधे, भगति न वैराग बाँधे।
भगति न ये सब वेद बड़ाई।
भगति न मूँड़ मुड़ाए, भगति न माला दिखाए।
भगति न चरन धुवाए, ये सब गुनी जन कहाई।
भगति न तौ लो जाना, आप को आप बखाना।
जोइ जोइ करै सो करम बड़ाई।
—रैदास की वाणी, वै० प्रेस, पद २४, पृ० १२, १३।

मलूकदास ने जीवन में नित्य व्यवहार में सायत, कुसायत आदि की आवश्यकता बतलायी है। बेकार के इन अंधविश्वासों का निषेध करते हुए वे बतलाते हैं—

मन ते इतनो भरम गँवाओ।
चलत विदेस विप्र जनि पूछो, दिन का दोष न लाओ।
संका होय करो तुम भोजन, बिनु दीपक के बारे।
जौन कहै असुरन की बेरिया, मूढ़ दई के मारे।
—शब्द १०, मलूकदासजी की वाणी, पृ० २०।

श्रद्धामूलक रचनाओं में भी हमें कुछ रचनाएँ ऐसी मिलती हैं जिनमें उल्लास, श्रद्धा और उत्कृष्ट आत्मविश्वास दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस कोटि में विधिमूलक रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में मिलती हैं जिनमें संत कवियों ने कुछ सिद्धांतों और मान्यताओं के प्रति अपना समर्थन व्यक्त किया है। श्रद्धा और उल्लास का भाव प्रायः गुरु के प्रति आदर और भक्ति निवेदित करते हुए अथवा योग की चरम स्थिति या आत्मानंद की अनुभूति और प्रेममिलन का वर्णन करते हुए व्यक्त हुआ है। गुरु के प्रति भक्ति का उत्कर्ष निर्गुण संप्रदाय में जिस कोटि का देखने को मिलता है, वह अन्यत्र सुलभ नहीं है। कबीर की प्रसिद्ध उक्ति जिसमें गुरु को गोविंद से भी ऊँचा बताया गया है, सभी को ज्ञात है[1]। कबीर ने कितनी ही बार भिन्न भिन्न शब्दों में गुरु की महिमा का गान किया है। भगवान् की भक्ति केवल गुरु के प्रसाद से मिली है, इसे कहते हुए वे थकते नहीं हैं—

कहैं कबीर कृपा भई, गुरु ग्यान कहा समझाई।
हृदय श्रीहरि भेटिये, जो मन अनतै नहिं जाई॥

---

१. गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो दिखाय॥
नि० सा० पृ० २ (११००-६१)

धरमदास ने तो अत्यंत स्पष्ट रूप से सबका नाम गिना कर घोषित किया है कि गुरुपद सबसे ऊँचा और श्रेष्ठ पद है। उन्होंने कहा कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी मेरे गुरु कबीर के समकक्ष तुच्छ हैं—

गुरु पद अहै सबन से भारी।
चारौ वेद तुलै नहिं गुरुपद, ब्रह्मा विष्णु और ब्रह्मचारी।
नारद मुनि भये गुरुपद भजि कै, जपत सेस संकर की नारी।
सुर नर मुनि भये गुरुपद भजि कै, जपत राम अरु जनक दुलारी।
धर्मदास मैं गुरुपद भजिहौं, साहब कबीर समरथ बलिहारी[1]॥

संत कवियों ने योगानुभूति का वर्णन भी बड़े उल्लासमय ढंग से किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह आनंदानुभूति किताबी नहीं है, वरन् उन निर्गुनी साधकों ने अपने सच्चे अनुभव को ही व्यक्त किया है। सहजो बाई उस प्रकाशमय जगत् का वर्णन करती हैं। वह आत्मज्ञान अपूर्व है—

छहूँ कँवल कूँ देख करि सतवें में घर छाव।
रसना उलटि लगाय करि, जब आगे कूँ धाव।
जब आगे कूँ धाव देख करि जगमग जोती।
बिन दामिनि चमकार सीप बिन उपजै मोती।
हंस हंस जहाँ होत हैं ओअं ओअं होय।
चरनदास यों कहत हैं, सहजो सुरति समोय॥
—छठाँ पद—सहजप्रकाश, वै० प्रे०, पृ० ४४।

धरमदास ने उस उच्च महल की स्थिति का वर्णन किया है जिसमें अमृत की बूँदों की झड़ी लगी हुई है। आकाश में बादलों का गंभीर गर्जन हो रहा है। कभी गर्जन और कभी बिजली का त्वरित प्रकाश और उसमें उठती हुई ऊर्मियों की शोभा अकथनीय है। उस शून्य के महल में अमृत की वर्षा में साधक स्नान करता हुआ प्रेमानंद का अनुभव कर रहा है, हृदय के कपाट खुल गए हैं और अज्ञान और माया की अँधियारी नष्ट हो गई है। सद्गुरु की कृपा से धरमदास को यह दैवी आनंद मिल रहा है।[2]

---

१. धरमदासजी की शब्दावली, वेलवेडियर प्रेस, पृ० ३।

२. झरि लागै महलिया, गगन घहराय।
खन गरजै खन बिजली चमकै, लहर उठै सोभा वरनि न जाय।

प्रेम और मिलन के समय भगवान के ऐश्वर्य, वैभव और शक्ति का वर्णन अत्यंत भास्वर रूप में इन निर्गुणी कवियों ने किया है। मार्ग में ही उस परम सौंदर्य-शील प्रेमी का दर्शन हो गया है। उस दर्शन से भक्त एकदम मत्त सा हो गया। उसका चित्त उसके वश में नहीं रहा। उस रूप और प्रकाश को देखकर चंद्रमा और सूर्य भी मलिन पड़ गए। उस दर्शन की पुनः इच्छा से भक्त तड़प रहा है—

मैं हेरि रहूँ नैना सो नेह लगाई।
राह चलत मोहिं मिलि गये सतगुरु सो सुख बरनि न जाई।
देह के दरस मोहिं बौराये, लै गये चित्त चुराई।
छवि सत दरस कहाँ लगि बरनौं, चाँद सुरज छपि जाई।
धरमदास बिनवै कर जोरी, पुनि पुनि दरस दिखाई॥
—विरह और प्रेम-शब्द ५, धरमदासजी की शब्दावली पृ० १२, १३।

संत कवियों की विधिमूलक रचना में प्रायः उन सिद्धांतों अथवा आचारों का उल्लेख किया गया है जो सच्चे भक्त या साधक के लिये वरणीय माना गया है। ऐसा प्रायः कहीं कहीं भ्रम देखने में आता है कि संत साहित्य अधिकांश खंडनात्मक है, उसमें रचनात्मक अथवा विधिमूलक रचनाएँ नहीं हैं। कहना आवश्यक नहीं है कि यह कथन संत साहित्य के अधूरे ज्ञान के कारण है। एक ओर जहाँ प्राचीन और परंपराभुक्त रूढ़ियों और अंधविश्वासों का खंडन किया गया है, वहीं पर अत्यंत स्पष्ट और असंदिग्ध शैली में उन्होंने उन तथ्यों और सत्यों का भी उल्लेख किया है जिनकी स्वीकृति तथा जीवन में आचरण उपादेय है। सिद्ध, नाथ और संत सभी कवियों की रचना में ऐसे अंश उपलब्ध हैं। कबीरदास सच्चे भक्त की पहिचान बतलाते हैं, सच्चा भक्त प्रायः विरला ही होता है क्योंकि भक्त के लिये आवश्यक गुणों की उपलब्धि बहुत कठिन है। भगवान के सच्चे रूप की पहिचान के लिये काम, क्रोध और लोभ के विकारों से मुक्त होना आवश्यक है। तामस, राजस और सात्विक भाव तीनों ही एक माया के रूप हैं। इनसे अतीत मन की चौथी अवस्था में रहनेवाले ही भगवान को पाते हैं। भक्त स्तुति और निंदा दोनों से अनासक्त रहता है और अभिमान तथा प्रतिष्ठा की ईर्ष्या भी उसमें नहीं होती। जो लोहा

सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद होइ साध नहाय।
खुली किवरिया मिटी अँधियरिया, धन सतगुरु जिन दिया है लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय।
—शब्द ५, धरमदास की वाणी, वै० प्रेस, पृ० ६१।

और सोना दोनों को समदृष्टि से देखता है, वही सच्चा भक्त है। भक्त को यदि किसी की भी चिंतना रहती है तो वह चिंतामणि के समान भगवान का ही ध्यान करता है। सबसे उदासीन रह कर केवल ईश्वराराधन में वह तल्लीन रहता है।[1]

कुछ विशिष्ट मत

निर्गुण साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार करने के अनंतर अब हम कुछ उन विशिष्ट मतों का संक्षिप्त विवेचन करना चाहेंगे जिनके आधार पर निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि स्पष्ट की गई है।

सहज संप्रदाय

निर्गुण साहित्य के विकास की परंपरा में सहज संप्रदाय के सिद्धों की रचनाएँ सर्वप्रथम आती हैं। 'सिद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य वज्रयानी परंपरा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है जो अपभ्रंश दोहों तथा चर्यापदों के रूप में उपलब्ध हैं, जिसमें बौद्ध तांत्रिक सिद्धांतों को मान्यता दी गई है[2]। यद्यपि सिद्धों में वज्रयानी सिद्ध और नाथ सिद्ध दोनों संमिलित हैं—एक बौद्ध परंपरा के सिद्ध हैं और दूसरे शैव-परंपरा के—किंतु सिद्ध शब्द मुख्य रूप से बौद्ध सिद्धों के ही लिये प्रयुक्त होता है। शैव सिद्धों के लिये नाथ शब्द का अधिकाधिक प्रयोग होता है। इन सिद्धों की संख्या ८४ कही जाती है। ऐसा प्रतीत होता है, भारतीय विश्वास के अनुसार चौरासी अंक या तो कुछ विशेष शुभ है अथवा उसकी कुछ ज्योतिष आदि के अनुसार कोई अनुकूलता हो। सहजयानी सिद्धों की संख्या भी चौरासी है और नाथ सिद्धों में चौरासी ही उनकी संख्या मानी गई है। बहुत से नाम दोनों की सूचियों में पाए जाते हैं। दोनों ही साधनाएँ बहुधा एक दूसरे के बहुत समीप थीं और कालक्रम की दृष्टि से भी बहुत अंतर नहीं था। अतः बहुत ख्यातिलब्ध सिद्ध

---

१. तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ विवरजित हरि पद चीन्है सोई।
राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया।
चौथे पद को जो जन चीन्हे हैं तिनहिं परम पद पाया।
अस्तुति निंद्या आसा छोड़ै तजै मान अभिमानी।
लोह, कंचन सम करि देखै पै मूरति भगवाना।
च्यंते तो माधो च्यंता मणि हरि पद रमै उदासा।
तृस्ना अरु अभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा।

२. डा० धर्मवीर भारती : सिद्ध साहित्य, पृ० १६।

चाहे वे जिस भी परंपरा के रहे, बौद्ध और शैव दोनों ही साधनाओं में गृहीत हुए। यद्यपि नाथ साधना का संगठित रूप सहज साधना के बाद विकसित हुआ और कुछ दृष्टि से सहज साधना की प्रतिक्रिया के रूप में इसका जन्म हुआ, किंतु दोनों ही मूल रूप से शरीर-साधना में विश्वास करनेवाले मार्ग थे।

सहज संप्रदाय बौद्ध धर्म के महायान की परिणति था। महायान के अंतर्गत बुद्ध काया के तीन रूप माने गए हैं—१. धर्म काया, २. संभोग काया और ३. निर्माण काया[1]। संभोग काया में अमंद अथवा करुणा की प्रधानता होती है। यह काया बोधिसत्व के रूप में होती है। यही परंपरा आगे बढ़ कर मंत्रयान के रूप में परिवर्तित हुई। अनेक प्रकार की तांत्रिक और गुह्य साधनाएँ जो उस समय समाज के निचले वर्ग में प्रचलित थीं अब उभड़ कर सामने आ गईं। बुद्ध काया में वज्र काया की भी कल्पना की गई। 'महासुख' की खोज में सहज साधना का विकास हुआ जिसमें करुणा और उपाय के प्रतीक स्त्री और पुरुष के अद्वय रूप में ही उस महासुख की उपलब्धि मानी जाती थी।

सहजयानी सिद्धों का प्रामाणिक और पूर्ण साहित्य अब भी उपलब्ध नहीं है। जो साहित्य प्राप्त है वह मुख्य रूप से दो शैलियों में विभक्त है—१–दोहा कोष और २–चर्यापद। दोहा कोष तो दोहा छंद में लिखा गया है। चर्यापद गेय पद है। अभी तक दोहा और पदों के संमिलित और भिन्न भिन्न थोड़े से संग्रह प्रकाशित हुए हैं। अन्य संग्रहों के अतिरिक्त हिंदी में राहुल सांकृत्यायन का भी महत्वपूर्ण संग्रह है, जिसे उन्होंने 'हिंदी काव्य धारा' नाम से प्रकाशित कराया है।

इन रचनाओं में मूल रूप से वाह्याचारों का विरोध करते हुए उस अनिर्वचनीय महासुख की चर्चा की गई है जो सिद्धों को अपने शरीर के अंदर ही युगनद्ध की स्थिति में मिलता है। सिद्ध साहित्य में खंडन की प्रवृत्ति बहुत उग्र नहीं है। उसको बहुत कुछ उल्लास की भावना ने मंद कर दिया है जो सिद्धि की सफलता पर होती है।

नाथ साहित्य, जो कुछ अंश में सिद्ध साहित्य के समकालीन है और कुछ अंश में परवर्ती है, उससे एक पक्ष में स्पष्ट रूप से भिन्न है और वह है उसका दृढ़ विरोध और खंडन की उग्र प्रवृत्ति। वास्तव में नाथ

नाथ संप्रदाय

संप्रदाय के पीछे एक प्रतिक्रिया थी जिसके कारण उसमें विरोध का उग्र होना बिलकुल स्वाभाविक है। सिद्ध साहित्य में जिस उल्लासमय स्वर में महासुख की उपलब्धि का वर्णन किया गया है

१. वही, पृ० ११०।

उसने सच्ची साधना के स्थान पर बहुत से वंचकों और पाषंडियों को भी अपनी ओर अवश्य खींचा होगा और चरित्रगत शिथिलता का होना तो अनिवार्य ही था। बौद्ध धर्म की महायान शाखा से प्रसूत होने के कारण उसकी पतनशील प्रवृत्तियाँ ही इसमें अधिक प्रधान हुईं। नाथ संप्रदाय भी यद्यपि शरीर साधना का मार्ग था; किंतु इसमें योग क्रिया के द्वारा वृत्तियों के संयम और दमन में ही सिद्धि मानी गई। शरीरस्थ शक्ति और शिव को योग की प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे से संयुक्त करने पर योगी को अमृतत्व की प्राप्ति होती है। स्पष्ट रूप से गोरखनाथ ने कहा है—

नौ लष पातरि आगैं नाचैं, पीछैं सहज अषाड़ा।
ऐसैं मन लै जोगी बोलै, तब अंतरि बसै भंडारा॥ ३६॥

—गोरखबानी, पृ० २१७।

योगी का भीतरी भंडार तो तब पूर्ण रहता है जब उसके संमुख असंख्य मोहक सुंदरियों का नृत्य होता रहे फिर भी वह साधना में रत रहे। इतना अधिक इंद्रियों तथा मन की वृत्तियों पर मनुष्य का अधिकार रहना चाहिये। नाथ पंथ ने इंद्रिय संयम और कठोर साधना पर जोर देकर भी कहीं पर मूर्तिवाद, पुस्तक ज्ञान, तीर्थ, टीका और वस्त्रादि का किंचित् समर्थन नहीं किया है।

नाथ संप्रदाय और उसकी साधना का क्षेत्र बहुत व्यापक कहा जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी के मतानुसार नाथ साधना में कौल मार्ग, शाक्त और कापालिक मार्ग सब न्यूनाधिक मात्रा में अंतर्भुक्त हैं। 'नाथ संप्रदाय के ग्रंथों की अपनी गवाही से ही मालूम होता है कि तांत्रिकों का कौल मार्ग और कापालिक मत नाथ मतानुयायी ही हैं'।[1] इन दोनों ही मार्गों का स्वतंत्र अस्तित्व पहले वर्तमान था किंतु नाथ संप्रदाय के लोकप्रिय होने के बाद ये सब उसी में विलीन हो गए। इन दो मतों के साथ पतंजलि का योग मार्ग जुट गया। इस प्रकार नाथ संप्रदाय में इन्हीं तीन उपकरणों का मुख्य रूप से संयोग है। गोरखनाथ की वाणी में बहुत कुछ इन संप्रदायों तथा सिद्धांतों से संबंधित विचारों की अभिव्यक्ति है। इसके अतिरिक्त समाज, धर्म तथा आचरण संबंधी बहुत सी मान्यताएँ भी उनकी वाणी में मिलेंगी। स्पष्ट है कि गोरखनाथ और उनके संप्रदाय में जीवन की विविध मान्यताओं का मूल्यांकन अपनी योग साधना की भूमि से ही उन्होंने किया है। गोरखनाथ की वाणी का संग्रह और प्रकाशन गोरखबानी के नाम से डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल ने किया है।

---

1. डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, पृ० ५।

सहज संप्रदाय की साधना भावना से अनुशासित थी। नाथ संप्रदाय की साधना नैतिकता और संयम से अनुशासित थी। कबीर की साधना ने भावना को हल्का और चारित्रिक स्खलन का मार्ग समझकर छोड़ा और नाथ पंथ के हठयोग की कष्टसाध्य क्रियाओं को अनावश्यक समझा। उसके स्थान पर उन्होंने भक्ति की आर्द्रता से साधना और विचार को रूपायित किया। कबीर के समय तक आते आते भक्ति का उत्तरी भारत में भी पर्याप्त प्रचार हो गया था। कबीर के गुरु रामानंद स्वयं रामभक्ति के प्रवर्तक थे। कबीर ने इस सगुण ईश्वरीभक्ति को तो नहीं स्वीकार किया। उनका ब्रह्म तो निर्गुण ही रहा किंतु ईश्वर को निर्गुण मानते हुए उन्होंने भक्ति तत्व को बहुत निष्ठा के साथ अपनाया और भक्ति के माहात्म्य को असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया और प्रचारित किया। कबीर की भक्ति में सहजिया संतों का उल्लास तो है किंतु अवैध और अनैतिक वासना और पंचमकारों की उत्कट भर्त्सना भी है। सहजिया कवियों और साधकों में जो उल्लास और महासुख पंच-मकारों के सेवन और युगनद्ध अवस्था की अनुभूति में है उससे अधिक पवित्र आनंद कबीर कोउस प्रेमी के दीदार में है जिसका सौंदर्य अणु परिमाणु में व्याप्त है।

कबीरमत

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल।

उसी तरह नाथ पंथ के आचार्यों का शुष्क और स्पष्ट स्वर भी उनकी रचना में है। प्रचलित समाज में जातिपाँति, स्पर्शास्पृश्य, मूर्ति और मस्जिद की उपासना, इन सभी का दृढ़ता और खरे रूप से कबीर ने विरोध किया। हिंदू रूढ़ियों के अतिरिक्त कबीर के समय तक मुसलिम रूढ़ियों का भी रूप स्पष्ट हो चुका था। स्वयं मुसलिम परिवार में रहने के कारण और हिंदू आचार्य रामानंदजी के शिष्य होने के कारण हिंदू और मुसलिम दोनों ही संप्रदायों के अंधविश्वास, बाह्याचार आदि की व्यर्थता उन्होंने अपने पूर्ववर्ती नाथ आचार्यों की तरह ही दिखाई। उसी प्रकार चरित्र में संयम और वासना तथा प्रलोभनों के दमन की आवश्यकता भी प्रतिपादित की। नाथ साहित्य की अपेक्षा कबीर में अधिक साहित्यिक निखार है, उसका कारण मुख्य रूप से यह है कि नाथ सिद्धों ने केवल साधना पक्ष की ही चर्चा अपनी वाणी में की है। जीवन के व्यापक प्रसार से उनकी वाणी और रचनाओं का कम संबंध है। जहाँ कहीं सामान्य जीवन का वर्णन और उल्लेख आया है, वह बहुधा प्रसंगवश। कबीर इसके विपरीत जीवन के बीच से ही अपनी काव्यात्मक अनुभूतियों और दार्शनिक तथा सामाजिक मान्यताओं को ग्रहण करते थे।

अतः उनकी रचनाएँ नाथ सिद्धों की भाँति सर्वथा एकांगी और एकदेशीय न होकर जीवन से संपृक्त हैं। उनमें मानव जीवन की तात्कालिक और चिरंतन समस्याओं को लेकर ऐसे व्यापक सत्य और अनुभवों की अवतारणा हुई है कि आज तक कबीर की वाणी काव्य और जीवन में समान रूप से आदृत है।

कबीर की वाणियों में सत्य का खरा सौंदर्य है, साथ ही उसमें काव्यगत माधुर्य का भी पुट है। यह माधुर्य, जैसा ऊपर कहा गया है, भक्ति का है किंतु उसमें भी विशेष रूप से सूफी भक्ति का परिणाम है। सूफी संप्रदाय की प्रेममूला भक्ति ने कबीर के योगपरक और शुष्क उपदेशानुवृत्ति को एक अभिनव कोमलता और भावप्रवणता प्रदान की।

कबीरदास ने भारतीय भक्ति के क्षेत्र में जिस निर्गुण उपासना का प्रवर्तन किया उसका अनेक संतों और मर्मियों ने स्वागत किया। शास्त्र प्रतिपादित भक्तिवादी वर्ग तो इस मत से कुछ विरक्त ही रहा क्योंकि उसके पास आभिजात्य का गौरव था, पांडित्य की निधि थी और बैठे बिठाए समाज में उनका उच्च और अग्र स्थान भी सुरक्षित था, किंतु स्वानुभूति, चिंतन और आत्मदर्शन में विश्वास रखनेवाले बहुत से संत निर्गुण उपासना के समर्थक हुए। सबों ने अपनी अटपटी बानी में, जिसमें पिंगल और अलंकार का कृत्रिम सौंदर्य भले ही न हो, किंतु सत्य का प्रखर प्रकाश अवश्य था, निर्गुण भक्ति और उपासना को समस्त उत्तरी भारत में अनेक पद्धतियों से मुखरित किया। उनका कोई शास्त्र नहीं था और न कोई एक प्रमाण ही था। अतः यह निर्गुण उपासना जो सरल और भावुक कवियों और संतों द्वारा स्वानुभूति और सहज चिंतन का आश्रय पकड़ कर पल्लवित हुई, उसमें कुछ कुछ भेद और विशेषताएँ भी दिखलाई पड़ती हैं। वैसे संत कवियों की वाणी तो विपुल है, किंतु कुछ विशिष्ट संतों का ही उल्लेख पर्याप्त होगा जिनकी रचनाओं में निर्गुण मत का व्यापक समर्थन तो है किंतु उनकी निजी विचारपूर्ण विशेषताएँ भी उनमें लक्षित होती हैं। ऐसे निर्गुण संतों में कबीर के अतिरिक्त दादू और नानक विशेष उल्लेखनीय हैं।

दादूमत (परब्रह्म संप्रदाय)

दादू में भी गंभीर आत्म चिंतन और तात्विक दृष्टि दिखलाई पड़ती है। कबीर और दूसरे निर्गुण संतों की तरह इन्होंने भी ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों से परे माना है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि ईश्वर की प्राप्ति केवल सत्य और प्रेम से ही संभव है और सभी विधि-विधान व्यर्थ हैं—

सच बिन साईं ना मिलइ, भावइ भेष बनाइ।
भावइ करवत अरध मुख, भावइ तीरथ जाइ ॥

निर्गुनियों का परमात्मा निर्गुण अवश्य है किंतु उसमें वात्सल्य, करुणा और ममता भी है। संभवतः निर्गुण और सगुण दोनों से परे मानने में ब्रह्म संबंधी यह मान्यता भी एक कारण हो। दादूदयाल की रचनाओं में कबीर की तरह अक्खड़पन और खंडन की उतनी तीव्र प्रवृत्ति नहीं है उनमें आत्मसमर्पण और दास्य भावना की नम्रता विशेष मात्रा में है। बाह्याचार के विरोधी वे अवश्य हैं, किंतु अपने विरोध को अनावश्यक आक्रोश के साथ उन्होंने बार बार दुहराया नहीं है। उन्होंने अंतर्शुद्धि, आत्मज्ञान और अंतर्विकास पर विशेष जोर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है, दादूदयाल पर कबीर की अपेक्षा सूफी संप्रदाय का अधिक प्रभाव था। इसलिये उनकी रचनाओं में दर्द, विरह और दैन्य की व्यंजना अधिक सफल रूप में हुई है। कबीर पर योग की साधनाओं का बहुत गहरा प्रभाव था। साधना पक्ष की सार्थकता का प्रतिपादन उन्होंने सशक्त वाणी में बार बार किया है। किंतु दादूदयाल में साधना की गुत्थियों और चमत्कारों के प्रति विशेष संमान नहीं मालूम होता। उन्होंने योगपरक रचनाएँ की हैं किंतु परिमाण और प्रतिपादन दोनों में कबीर की अपेक्षा निर्बल हैं। दादूदयाल का संप्रदाय एक विशेष नाम से भी अभिहित किया जाता है—'ब्रह्म पंथ'। इसके संबंध में विस्तार से चर्चा आगे चल कर की जायगी। मध्वाचार्य द्वारा चलाया संप्रदाय भी ब्रह्म संप्रदाय कहलाता है। अतः दादू के पंथ को उससे भिन्न करने के लिये 'परब्रह्म पंथ' भी कहते हैं। स्वयं दादूदयाल तो अत्यंत नम्र थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती महात्माओं के प्रति बार बार विनय प्रदर्शित की है और कबीरदासजी का तो विशेष रूप से उल्लेख किया है, अतः स्वयं किसी नये संप्रदाय की स्थापना का विचार और आत्मविश्वास उनमें तो बिलकुल ही नहीं रहा होगा। उनके अनुयायियों ने उनकी मृत्यु के बाद संभवतः उनके मत के आधार पर नये संप्रदाय का गठन और नामकरण किया।

दादूदयाल के सबसे प्रसिद्ध शिष्य सुंदरदास हुए। सुंदरदास संभवतः निर्गुण मत के कवियों में काव्यगत ज्ञान और भाषा के परिष्कार की दृष्टि से सबसे बड़े कवि हैं। अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की तरह ये निरक्षर अथवा अशिक्षित नहीं थे। इन्होंने धार्मिक साहित्य और विभिन्न शास्त्रों का अच्छा अध्ययन किया था। फिर भी इन्होंने निर्गुण मत का ही प्रतिपादन किया। बड़ी स्पष्ट और परिमार्जित भाषा में इन्होंने निर्गुण मत के सिद्धांतों को व्यक्त किया है।

निर्गुण मत के ही अंतर्गत हम गुरुनानक और उनकी वाणी को मानते हैं। नानक साहब के संबंध में प्रायः यह भ्रांत धारणा कभी कभी दिखलाई पड़ती है कि उन पर मुसलिम प्रभाव अत्यधिक था। अब संभवतः लोग निर्गुण संप्रदाय और उसकी विचारधारा को भारतीय चिंता की एक अविच्छिन्न धारा का अंग मानने लगे हैं और इस प्रकार की भ्रांत धारणाएँ अपने आप निर्मूल होती जा रही हैं। गुरु-नानक भी उसी परंपरा के विचारक थे, जिन्होंने सत्य, स्वानुभूति और अंतःकरण की पवित्रता पर जोर दिया। कर्मकांडों की निंदा इन्होंने भी की। अतः मूल रूप से इन्होंने लोकजीवन में व्याप्त विचारों और सिद्धांतों को अपनाया और उनका प्रचार किया। शास्त्र का अनुमोदन न मिलने से जो स्पष्ट सत्य अशिक्षित और निश्चेष्ट जनता के रुधे हुए कंठ में गूँज रहा था उसे इन निर्भीक संतों ने आत्म-विश्वास के साथ व्यक्त किया। नानक, ऐसे संतों में संभवतः सबसे अधिक व्याव-हारिक और यथार्थवादी थे। उन्होंने इसलाम से कुछ न कुछ अवश्य ग्रहण किया—जैसे एकेश्वरवाद, समता आदि का भाव, यद्यपि ये सभी भाव और विचार अपने यहाँ पहले से ही थे। नानक और संतों की अपेक्षा व्यावहारिक इस रूप में थे कि उन्होंने एक ऐसे धार्मिक संगठन की कल्पना पहले से ही की जो अपना अस्तित्व कायम रख सके और गुरु की मृत्यु के उपरांत विशृंखल न हो जाय। इसीलिये उन्होंने अपनी मृत्यु के पहले ही अपना उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया और यह मान्यता प्रचलित हुई कि सभी गुरु आदिगुरु नानक के ही अंश हैं। इस प्रकार सिक्ख पंथ की एकता और संगठन कई पीढ़ियों तक न केवल सुरक्षित रहा वरन् निरंतर दृढ़ होता रहा। बाद में चलकर जब सभी गुरु की वाणियों को एकत्र कर ग्रंथ साहब का संकलन हुआ तो उससे भी संगठन को बड़ा बल मिला और सिक्ख पंथ ने गुरुमुखी भाषा को अपने संप्रदाय की भाषा मानी। एक गुरु, एक भाषा और एक पंथ सिक्ख संगठन की विशेषताएँ हैं।

नानकमत

गुरु नानक की वाणियों में भगवान के प्रति प्रपत्ति का भाव प्रधान है। सारे जंगल को छोड़कर निर्गुण भगवान की शरण में शुद्ध और एकांत भाव से जाना ही भक्त के लिये एक मात्र मार्ग है। कबीर से लेकर उनके परवर्ती सभी निर्गुण संतों ने अपने परमात्मा की ऐसी व्याख्या की है जिसे हिंदू और मुसलमान दोनों ही समान भाव से ग्रहण कर सकते थे। कबीर और नानक दोनों को ही हिंदू और मुसलमानों ने बराबर आदर और मान्यता दी। इन संतों ने भी अपने परि-वार और आसपास के बंधन और सीमा से ऊपर उठकर मानव मात्र को संबोधित

करते हुए अपने विचारों और सत्यों को उद्घोषित किया। उसमें यदि आलोचना थी तो हिंदू और मुसलमान दोनों ही के व्यर्थ के कर्मकांडों की। समर्थन था तो दोनों ही संप्रदायों में पाई जानेवाली मौलिक और तात्विक सत्यता का। जो जितना अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व का संत था, उसकी ओर उतनी ही मात्रा में हिंदू मुसलिम जनता आकृष्ट हुई। कबीर के बाद नानक का व्यक्तित्व संभवतः सबसे अधिक प्रभावशाली था। निर्गुण संतों में यदि किसी की वाणी और उसके द्वारा प्रवर्तित मत यदि आज भी अपने दृढ़ और संगठित रूप में मौजूद है तो वह नानक का ही मत है।

निर्गुण मतों में ही एक निरंजन संप्रदाय भी है जिसकी प्रसंगवश यहाँ चर्चा करना आवश्यक है। यहाँ केवल इस संप्रदाय का संक्षिप्त परिचय मात्र पर्याप्त है। निरंजन या निरंजनी संप्रदाय की उत्पत्ति

निरंजन मत

कब और कैसे हुई, अभी निश्चित रूप से कहना कठिन है। निरंजनी संप्रदाय का संबंध यदि निरंजन नाम के देवता से है जिसका वर्णन नाथ संप्रदाय और दूसरी साधनाओं में परमदैवत के रूप में आया है तो इसे नाथ संप्रदाय के समकालीन ही मानना होगा, जैसा डा० बड़थ्वाल ने कहा है। उनके अनुसार 'निरंजनी संप्रदाय नाथ संप्रदाय का एक विकसित रूप है जिसमें योग पूर्णतः वेदांती प्रभाव में आ चुका है। यह एक प्रकार से नाथ संप्रदाय एवं निर्गुण संप्रदाय का मध्यवर्ती है'।[1] किंतु निर्गुण संप्रदाय का जो रूप अवशिष्ट है उससे इस कथन की अभी तक पुष्टि नहीं हो पाई है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'उत्तरी भारत की संतपरंपरा' ग्रंथ (पृ० ४६४) में निरंजनी संप्रदाय पर विचार करते हुए राघोदास की भक्तमाल के आधार पर जगनू या जगन्नाथदास को इसका प्रवर्तक माना है। किंतु आगे चलकर हरिदास निरंजनी को भी यह महत्व प्रदान किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि हरिदास निरंजनी इस संप्रदाय के अत्यंत ख्यातिलब्ध संत थे। सुंदरदासजी ने भी हरिदास का नाम महात्माओं और गुरुओं में गिनाया है।

कोउक गोरख को गुरु थापत, कोउक दत्त दिगंबर आदू।
कोउक कंथर कोउक भर्थर, कोउ कबीर कि राखत नादू।
कोउ कहै हरिदास हमार जु, यूँ करि ठानत वाद विवादू।
और तो संत सबै सिर ऊपर, सुंदर के उर हैं गुरु दादू।

—सुंदरविलास (वेलवेडियर प्रेस) पृ० २।

---

१. हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, प्रस्तावना, पृ० (ड०)।

किंतु तिथियों के क्रम से देखने पर तथा अन्य सभी बातों पर विचार करने से यही समीचीन प्रतीत होता है कि हरिदास काफी पहले हुए होंगे और सुंदरदास के समय तक उनके बहुत से अनुयायी रहे होंगे। ऐसा संभव है कि दो हरिदास हुए हों। एक निरंजन संप्रदाय के प्रवर्तक रहे हों और दूसरे परंपरा में बाद में हुए हों।

इस संप्रदाय के प्रसिद्ध संत भगवानदास, तुरसीदास और सेवादास आदि की रचनाओं में उल्लिखित विचारों से तथा निरंजन के मूल रूप से बहुत अंतर प्रतीत होता है। निरंजन का रूप जो प्राचीन साधनाओं में पाया जाता है वह सगुण निर्गुण से अतीत परमसत्ता का रूप है। निरंजन संप्रदाय सगुण तथा मूर्त्तिपूजा और अवतारवाद का यद्यपि समर्थन तो नहीं करता किंतु उग्र विरोध भी नहीं करता है। 'हरिदास के अनुसार इसी कारण देवता के प्रति वैर या प्रीति का भाव रखने की आवश्यकता नहीं। और तुरसी के अनुसार मूर्ति अमूर्ति की ओर ले जाने का एक साधन हो सकती है। निरंजनियों का इसी प्रकार वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति भी घोर तिरस्कार का भाव नहीं जान पड़ता'।[1] ऐसा संभव है निरंजन संप्रदाय में यही सहिष्णुता, नर्मी और धार्मिक एकांगिता का अभाव, कट्टर कबीर पंथियों को न रुचा हो और उन्होंने इसी कारण उसके हीन और मायावी रूप की कल्पना की हो।

निरंजनी संप्रदाय का एक रूप उड़ीसा और पूर्वी भारत में प्रचलित था। श्री क्षितिमोहन सेन के अनुसार कभी इसका प्रचार उत्तरी पश्चिमी पंजाब, राजपूताना, जोधपुर, कच्छ और सिंध में काफी रहा है।[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विश्व भारती पत्रिका (श्रावण-आश्विन, २००३ वि०) में निरंजन की चर्चा करते हुए लिखा है, 'ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुर के जंगली इलाकों को घेर कर वीरभूमि से रीवाँ तक फैले हुए भूभाग में अनेक स्थलों पर धर्म देवता या निरंजन की पूजा प्रचलित थी।' इन दोनों ही विद्वानों के कथन से प्रतीत होता है कि निरंजन संप्रदाय उत्तरी भारत के एक विशाल अंचल में फैला हुआ था। इसका प्रचार मध्य भारत और उड़ीसा तक पाया जाता था। स्पष्ट है, इस संप्रदाय के पीछे महती साधना रही होगी। किंतु उक्त संप्रदाय का कोई ऐसा रूप न तो आज अवशिष्ट है जिससे उसकी पूर्व स्थिति और रूप का अनुमान किया जा सके और न उसका कोई साहित्य ही उप-

---

१. उत्तरी भारत की संतपरंपरा, पृ० ४७४।

२. मेडीवल मिस्टीसिज्म, पृ० ७०।

लब्ध है जिससे धार्मिक या दार्शनिक मान्यताओं का पता लग सके। ऐसा अनुमान लगाना संगत प्रतीत होता है कि निरंजन संप्रदाय कोई न कोई साधनापरक मार्ग था; जिस प्रकार नाथ अथवा सहज संप्रदाय था। इसका कोई शास्त्रीय साहित्य लिखित रूप में न रहा होगा। यह संप्रदाय जनता में साधना और विश्वास के रूप में प्रचलित रहा। जब कबीर आदि अन्य निर्गुणी संप्रदाय जो इसी से मिलते जुलते किंतु अधिक संगठित और प्रचार प्रधान थे, प्रचलित हुए तो उन्होंने निरंजन संप्रदाय को आत्मसात् कर लिया और निरंजन को अपने साहित्य में ऐसा स्थान दे दिया जिससे उसका बल और प्रभाव तो सुरक्षित रहा; किंतु जो मंगलविधायक शक्ति न होकर माया और भ्रम का प्रेरक हो गया।

यद्यपि निरंजनी संप्रदाय के संबंध में अभी तक बहुत अधिकारपूर्वक कुछ भी कहना अत्यंत कठिन है किंतु इतना स्पष्ट है कि यह निर्गुण मत के अंतर्गत एक पंथ था। इसका प्रसार बहुत व्यापक भूभाग में था। अतः यह भी संभव है कि स्थानीय रूप से इसमें जगह जगह पर एकदेशीयता आ गई हो। इस संप्रदाय की एकरूपता इसके व्यापक प्रसार के कारण विक्षत हो गई हो। साथ ही इसका धार्मिक संगठन ऐसा नहीं था जिस कारण यह अपनी एकरूपता और अपने अस्तित्व की रक्षा कर पाता। उड़ीसा, बंगाल आदि सुदूर प्रांतों में इसका रूप फैला था, वह कबीर पंथ में अंतर्भुक्त हो गया। उत्तरी भारत में इसका रूप अवशिष्ट रहा उसमें मिलावट और नर्मी आ गई। सगुण उपासना के व्यापक प्रभाव को भी उसने थोड़ा बहुत आत्मसात् किया और निर्गुण मत में आस्था रखते हुए भी उसने सगुण को एक सीमा तक बर्दाश्त किया।

अभी तक निर्गुण मत में उन संप्रदायों और पंथों पर विचार हुआ है जिनका जन्म भारत की ही भूमि में हुआ था। हिंदी के निर्गुण साहित्य और मत में एक विदेशी मत का भी बहुत गहरा प्रभाव है। वह मत है सूफी संप्रदाय। सूफी संप्रदाय इसलाम की ही एक शाखा के रूप में था। मुहम्मद साहब के द्वारा इसलाम का प्रवर्तन एक संघीय धर्म के रूप में हुआ। इसमें प्रवर्तित बहुत से धार्मिक अनुष्ठान ऐसे थे जिनसे सामूहिक और संघीय जीवन को बल मिलता था। नमाज, रोजा, हज्ज और जकात सभी ऐसी धार्मिक क्रियाएँ थीं जिनके द्वारा समानता और एकता तथा संगठन को प्रोत्साहन मिलता था। संगठन और एकता के तत्वों की अनिवार्य आवश्यकता इसलाम में आरंभ से ही रही; क्योंकि जन्म के समय ही इस धर्म को और इसके प्रवर्तक को विरोधियों के साथ अत्यंत भीषण संघर्ष करने पड़े थे। इसके कारण

सूफीमत

एक ओर तो आंतरिक दृढ़ता इसमें आई और दूसरी ओर विरोधियों के प्रति असहिष्णुता का भाव भी आया। मुहम्मद साहब की शिक्षा में दया, औदार्य आदि के भाव होते हुए भी व्यवहार में इसलाम अपने शैशव काल में ही कट्टर पंथी और असहिष्णु था। संघर्ष में रत रहने के कारण इसलाम में ज्ञान, भक्ति और मानवीय सौहार्द्र के तत्व कम विकसित हो सके। परिणाम यह हुआ कि इसलाम में हृदय तत्व का समाधान ढूँढ़ने वाले को कोई अवकाश नहीं था। परिणामस्वरूप इसलाम में भी कुछ चिंतकों और साधकों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने हज्ज, रोजा, नमाज आदि को अनावश्यक माना और तत्वचिंतन, नामस्मरण और प्रेमतत्व को ही आधार बनाकर ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया। इसलाम एकेश्वरवादी धर्म था। ईश्वर और जीव एक दूसरे से सर्वथा पृथक् माने गए हैं। अतः ईश्वर और जीव के बीच प्रेम के माध्यम से अद्वैत संबंध स्थापित करने की कल्पना जो सूफी कवियों ने की वह इसलाम के अंतर्गत संभव नहीं थी। ऐसी संभावना स्वीकार की जाती है कि जीव और ब्रह्म की अभिन्नता का सिद्धांत सूफियों को भारतवर्ष से मिला है। भारतीय वेदांत का संदेश बहुत पहले से यात्रियों और व्यापारियों के द्वारा अरब देश में पहुँचा था। बाद में सूफी धर्म का जब विकास हुआ तो वेदांतवाद ने उसके जन्म और विकास को रूप देने में सहायता पहुँचाई। जैसे ईश्वर और जीव की एकता और अभिन्नता का सिद्धांत भारत से सूफी धर्म में गृहीत हुआ था उसी प्रकार विश्वप्रेम और विश्वात्मा के रूप में ब्रह्म की कल्पना उन्हें नव अफलातूनी धर्म और जारथुस्त्र से मिली थी। खुदा विश्व में व्याप्त है और उसके प्रति प्रेम की दृष्टि अपनाने से उसके साथ एकात्म हुआ जा सकता है, यह विचार इन्हीं दोनों स्रोतों से अरब-चिंतकों और विचारकों को मिला। आरंभ में सूफी धर्म का विकास एकांत वास, आत्मचिंतन और सादगी तथा निर्धनता के जीवन के रूप में हुआ। किंतु बाद में प्रेमतत्व का सिद्धांत जब मिला तो सूफियों ने शुष्क धर्म में भावप्रवणता का रंग भर कर क्षुधित और अतृप्त हृदय पक्ष को जीवित किया। इस तरह यहाँ भी देखा जा सकता है कि सूफी धर्म के मूल में बाह्याडंबर का विरोध और चित्त तथा आचरण की शुद्धता का ही भाव है जो सभी प्रकार की निर्गुण साधना के मूल में पाया जाता है। सूफी धर्म और दूसरी निर्गुण साधना में यही भेद है कि अन्य निर्गुण मतवादों में विरोध और खंडन की प्रवृत्ति अत्यंत उग्र है। सूफी संप्रदाय में यह बात नहीं है। यहाँ श्रद्धापूर्ण भाव के साथ आत्म निवेदन और प्रपत्ति की भावना ही सब कुछ है। खंडन मंडन की शैली को नहीं अपनाया गया है। श्रद्धा और उल्लासपूर्ण उद्गार की दृष्टि से सूफी संप्रदाय सहजिया सिद्धों के समान

हैं। यह समानता केवल शैली और अभिव्यंजना के प्रकार में है। दृष्टि और विषय तत्व में पर्याप्त अंतर है। ईश्वर और जीव के प्रेम को प्रेमी और प्रेमिका की भूमिका में उपस्थित करने के कारण सूफी साहित्य में मादन भावों की पर्याप्त अभिव्यंजना हुई है। सूफी संप्रदाय के नाम पर अन्य भाषाओं में चाहे जिस प्रकार का भी शील और नैतिकता से हीन साहित्य लिखा गया हो किंतु हिंदी भाषा में लिखा गया सूफी साहित्य भारतीय मर्यादा को आधार मान कर चला है। हिंदी के बाहर के सूफी साहित्य में संभवतः वैयक्तिक प्रेम और विरह की अनुभूतियों का चित्रण रहने के कारण उसमें वासना और प्रेम का चित्रण अधिक उद्दाम और चटकीला हो गया है क्योंकि हिंदी के बाहर लिखा गया प्रेमकाव्य अधिकतर मुक्तक या गीत-काव्य के रूप में है। हिंदी में सारा सूफी साहित्य प्रबंधपरंपरा में लिखा गया है। प्रबंध शैली लोकजीवन और उसके आदर्शों को प्रतिध्वनित और प्रतिबिंबित करनेवाली शैली है। अतः उसमें वैयक्तिक राग विराग का स्वर इतना तीव्र नहीं हो पाता कि कर्णकटु या विरस हो जाय।

हमारे देश में सूफी काव्य और संप्रदाय ने निर्गुण चिंतना को बहुत गहराई से प्रभावित किया है। सगुण काव्य और कवि तो सूफी धर्म से अधिक प्रभावित नहीं जान पड़ते, कारण सगुण भक्ति में एकात्म अथवा अभिन्नता की बात प्रत्यक्ष रूप से बहुत कम आ पाती है किंतु निर्गुण तर्क में तो अभिन्न संबंध की कल्पना सीधी और प्रत्यक्ष बराबर बनी रहती है। अतः उसमें प्रेमिका रूप अल्लाह के निकट पहुँचकर उसका साहचर्य ही नहीं, वरन् सारूप्य प्राप्त कर वियोग की असह पीड़ा को दूर करने की चेष्टा सूफी कवि करता है। इस प्रेम और विरह का उल्लास और पीड़ा निर्गुण संतों के काव्य और दर्शन में बहुत भीतर से घुसी हुई है। इसीलिये निर्गुनी संत कबीर, दादू, नानक आदि में एक ओर जहाँ सत्य और अनुभूति की प्रखरता है, वहीं पर अत्यंत मार्मिक और सरल ढंग से आध्यात्मिक प्रेम की भी अभिव्यक्ति हुई है। ऐसा कहा जा सकता है कि हिंदी के निर्गुनी कवियों को यदि सूफी संतों का दर्द और पीड़ा न मिली होती तो उनकी रचनाओं में खंडन मंडन और निपट तथ्यात्मकता के अतिरिक्त कुछ विशेष आकर्षण नहीं मिलता। संभवतः नाथ संतों की ही कोटि की रचनाएँ उनकी भी हुई होतीं, जिसमें साधना और योग की पद्धति और अनुभव मात्र का वर्णन होता है। सूफी साहित्य और विचार का निर्गुण कवियों पर अनुदिन प्रभाव बढ़ता गया। निर्गुनी कवियों की रचनाओं पर कालक्रम की दृष्टि से विचार करने पर हमें इस निष्कर्ष की सचाई प्रतीत होगी। दादू, यारी, बुल्ला साहब, चरनदास आदि परवर्ती अधिकांश निर्गुनी संतों की रचना

में योगपरक सिद्धियों की कम चर्चा है और खंडन की प्रवृत्ति भी उतनी उग्र नहीं दिखाई पड़ती है जितनी कबीर में थी। उसके स्थान पर आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना और उसी की उपलब्धि में जीवन की सार्थकता का सिद्धांत व्यापक रूप से सब संतों की रचना में देखने को मिलता है।

सूफी साहित्य और संप्रदाय ने हिंदी के निर्गुन साहित्य की रहस्यवादी शैली तथा अनेक नये प्रतीक दिये। अधिकांश निर्गुनी संत जिनके पल्ले साहित्यिक ज्ञान और शैली तथा शिल्प बिलकुल नहीं पड़ा था, सूफियों के प्रतीकविधान और रहस्यात्मक अनुभव को लोक शैली और गीतों के रूप में बहुत सुंदर ढंग से उपस्थित करने में सफल हुए हैं।

— —

तृतीय अध्याय

निर्गुणमत : विविध संप्रदाय (१)

सहज संप्रदाय

नाथ संप्रदाय

रसेश्वर संप्रदाय

नि० सा० पु० २ (११००–६१)

३

निर्गुणमत : विविध संप्रदाय

बौद्ध धर्म का प्रवर्तन यज्ञ, कर्मकांड, पुरोहितवाद, जातिवाद आदि सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के विरोध को लेकर हुआ। भगवान बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्ध विचारकों में मतभेद हुआ। महायान शाखा लोकजीवन के पक्ष को लेकर बौद्ध शास्त्र और पिष्टपेषण को छोड़ भारतीय धर्म चिंतन में बढ़ी। बौद्ध धर्म में जिस मध्यम मार्ग के अनुसरण पर जोर दिया गया था, उसने महायान शाखा में और उदार होकर लोकजीवन में प्रचलित बहुत सी रूढ़ियों और अंधविश्वासों को भी अपने में आत्मसात् कर लिया। 'इस प्रकार महायान संप्रदाय या यों कहिये कि भारतीय बौद्ध संप्रदाय सन् ईसवी के आरंभ से ही लोकमत की प्रधानता स्वीकार करता गया। यहाँ तक कि अंत में जाकर लोकमत में घुल-मिलकर लुप्त हो गया[1]।' दर्शन के क्षेत्र में बौद्ध महायान की दो शाखाएँ हुईं। नागार्जुन ने जिस दार्शनिक परंपरा की व्याख्या की उसका नाम शून्यवाद हुआ। इसने शून्य की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'इसे शून्य भी नहीं कह सकते हैं, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (शून्याशून्य) भी नहीं कह सकते। फिर भी यह नहीं कह सकते कि यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इस भाव की प्रज्ञप्ति के लिये शून्य का व्यवहार होता है। इस प्रकार यह सिद्धांत बहुत कुछ अनिर्वचनीयतावाद का रूप ग्रहण कर लेता है।'[2] इसी शून्यवाद की भावना को लेकर बाद के सिद्धों ने अपने सहज संप्रदाय या सहजयान की कल्पना की। सहजयानी सिद्धों ने

सहज सिद्ध संप्रदाय

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ८।

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर।

प्रायः शून्य और सहज को पर्याय ही माना है। इस शून्य शब्द का प्रयोग सहज-यानी सिद्ध निरंजन मतावलंबी, नाथ संप्रदायी और संत मतावलंबी, सभी ने थोड़े बहुत अर्थभेद के साथ किया है। 'सरहपा के वचनों से जान पड़ता है कि वह इस बात का समर्थक था कि सहज मानव की जो सहज आवश्यकताएँ हैं, उन्हें सहज रूप से पूरा होने देना चाहिये[1]।' यही विश्वास प्रायः अधिकांश साधनाओं के मूल में है, जो इस काल में गुह्य साधना, अभिचार, तंत्र या वाममार्गी क्रियाओं को लेकर चली थीं। पंडितवाद और कष्टसाध्य ज्ञानवाद की प्रवंचना से जनता और विचारकों का एक बहुत बड़ा दल ऊबा हुआ था। अतः पुस्तक और ज्ञान का अवलंब छोड़कर आत्मविश्वास और अनुभूति के आधार चरम आनंद की खोज और प्राप्ति इन सभी साधनाओं का विश्वास था। कण्हपा बड़े स्पष्ट शब्दों में कहता है कि वेद शास्त्र का ज्ञान रखनेवाले पंडित सहज ज्ञान की उपलब्धि से उसी प्रकार दूर रहते हैं जिस प्रकार परिपक्व श्रीफल पर मँडरानेवाले भौंरे।[2] सरहपा भी इसी में अपना स्वर मिलाकर कहता है—

बम्हणहि म जाणंत हि भेउ। एवइ पढ़िअउ ए चउवेउ॥[3]

इस प्रकार लोकमर्यादा, पाखंड, वाह्याचार और पुस्तकीय ज्ञान के प्रति जो विद्रोह भीतर ही भीतर कसमसा रहा था, वह इन सहजयानी सिद्धों की रचना में वहिर्गत हुआ। यह आंदोलन धर्म के स्थिर स्वार्थवालों के प्रति विद्रोह था, इसलिये इसका रूप बहुत लोकप्रिय हुआ। सरहपा के स्वर की कटुता और तीक्ष्णता उस समय के लोकजीवन में व्याप्त घोर वितृष्णा की परिचायक है, जो कर्मकांडवादी और स्वार्थलोलुप लोगों ने धर्म के रूप में समाज पर लाद रखी थी, 'यदि नंगे होने से मोक्ष हो सकता है तो कुत्ते और शृगाल भी उसके अधिकारी हैं। यदि रोम उखाड़ने से सिद्धि होती है तो युवतियों के नितंब को भी होनी चाहिये। पंख धारण करने से ही यदि मोक्ष मिल जाय, तो मोर के चामर को भी उससे वंचित नहीं होना चाहिये। यदि उंछ भोजन ही ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ साधन है तो घोड़े हाथी

---

१. राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, पृ० ३५।

२. आगम-बेअ-पुराणें (ही), पंडिअ माण वहंति।
पक्क-सिरीफले अलिअ जिम, वाहेरीअ भमंति॥
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, (१२, कण्हपा, पद सं० २) पृ १४६।

३. वही, पृ० ४।

उसके सबसे उपयुक्त पात्र हैं।[1]' बौद्धों का सहजयान, तंत्रायन और वज्रयान के बाद का विकासक्रम है। बौद्धों में तंत्रयान की उत्पत्ति कैसे हुई, इसके संबंध में विद्वानों में मतभेद है। पं० हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि तंत्रवाद बौद्धधर्म में सर्वप्रथम गृहीत हुआ। संभवतः बौद्ध धर्म में तंत्र और अभिचार का प्रवेश यहाँ की मूल और अनार्य जातियों में प्रचलित साधना और विश्वासों के द्वारा हुआ। बौद्ध धर्म से पुनः यह हिंदू धर्म में आया।[2] बागची महोदय ने शास्त्रीजी के ही मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उन्होंने नेपाल दरबार से प्राप्त कुब्जिक तंत्र को विदेश से प्राप्त परंपरा माना है। उसमें एक जगह ऐसा उल्लेख मिलता है—'भारत में वहाँ व्यापक प्रचार के निमित्त जाओ और वहाँ के छोटे बड़े सभी पवित्र स्थानों में अपनी रचना का परिचय दो।[3]' चीनाचार, तंत्र में बहु प्रयुक्त शब्द है। इस शब्द को लेकर प्रायः विद्वानों ने अनेक वितर्क किये हैं। तारा तंत्र में यह उल्लेख मिलता है कि यह तंत्र महाचीन से आया है[4] (महाचीन तिब्बत को कहते थे)। कहा जाता है एक समय वशिष्ठ ऋषि ने घोर तपस्या की, किंतु फिर भी उन्हें सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई। उस समय उन्हें महाचीन जाने का अदृश्य संकेत मिला। वहाँ पर जाने पर बुद्ध ने स्वयं उनको चीनाचार में दीक्षित किया और तत्पश्चात् भारत में आकर उन्होंने तंत्रविद्या का प्रसार किया। डा० शशिभूषण दास गुप्त ने अपने विद्वत्तापूर्ण प्रबंध में इस विषय पर अपना मत निम्नांकित प्रकार से दिया है[5]।

'तंत्रवाद मूलतः न तो हिंदू है और न बौद्ध, यह एक प्रकार की ऐसी धार्मिक अंतर्धारा है, जो सभी प्रकार के सूक्ष्म दार्शनिक चिंतन से शून्य, इतिहास के समय निर्धारण से पहले ही, इस देश में प्रचलित थी। इन क्रियाओं

---

१. जइ णग्गाविअ होइ मुत्ति ता सुहण सिआलह।
लोम उपाडण अत्थि सिद्धि, ता जुवइ-णिअम्बह॥
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह।
उच्छ-भोअणें होइ जाण, ता करिह तुरंगह॥
—राहुल : हिं० का० धा० पृ० ४।

२. शक्तिज्म

३. पी० सी० बागची : स्टडीज इन तंत्राज, पृ० ४५।

४. वही।

५. शशिभूषण दास गुप्त : आब्सक्योर रेलिजस कल्ट ऐज बैक ग्राउंड आफ बेंगाली लिटरेचर।

तथा योगपरक साधनाओं के मिलने से तंत्रवाद की प्रमुख विशेषता का परिचय मिलता है। इन्हीं से भिन्न भिन्न समय और परिस्थितियों में दूसरी विचारधाराओं का योग होने से इसके रूप और सिद्धांत में परिवर्तन होते रहे।'

भारतीय समाज के विकास को देखते हुए यही मत ठीक प्रतीत होता है। प्रायः यह बात सर्वविदित सी हो गई है कि मोहनजोदड़ो और हरप्पा के ध्वंसावशेषों से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय लिंग और योनि पूजा का प्रचार रहा होगा। उस समय का समाज भी मातृमूलक (मैट्रियार्किकल) था। शक्ति की उपासना और उसके साथ किसी न किसी प्रकार की गुह्य साधना प्रचलित रही हो। महायान शाखा के प्रचलन के बाद सर्वप्रथम बौद्ध धर्म ने इन प्रचलित लोक विश्वासों और साधनाओं को ग्रहण किया क्योंकि ये बौद्ध धर्म के सिद्धांत और आधार से अधिक समीप थे, क्योंकि दोनों में पुस्तकवाद जातिवाद, पाषंड आदि का विरोध किया था। इसी समय के आसपास आर्य धर्म में भी इन बातों का प्रवेश हुआ क्योंकि अथर्ववेद इसी प्रकार के मंत्र और अभिचार का संग्रह है। रीस डेविस ने अपनी पुस्तक बुद्धिस्ट इंडिया में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अथर्ववेद बौद्ध धर्म की आरंभिक रचनाओं के बाद की सृष्टि है। बौद्ध धर्म का विस्तार जब भारत की सीमा के बाहर हुआ तो उक्त देशों में भी प्रचलित विश्वास तथा गुह्य साधनाओं का संपर्क भारतीय गुह्य साधना के साथ हुआ होगा। परिणामस्वरूप हमारे देश के सीमास्थित पर्वतीय प्रदेश, आसाम और बंगाल इन तांत्रिक साधनाओं के केंद्र बनें।

गुह्य साधनाओं का मूल चाहे वैदिक हो या अवैदिक किंतु जिस प्रकार से भारतीय साधना में इसका प्रचलन और विकास हुआ, उससे इनका पूर्ण भारतीयकरण हो गया। प्रायः सभी परंपराओं का उद्‌गम चाहे वह बौद्ध तंत्र हो या हिंदू तंत्र, भारतीय ग्रंथों में ही निर्दिष्ट किया गया है। इनकी दार्शनिक व्याख्या करते हुए दोनों ही विचारधाराओं के चिंतकों ने इन साधनाओं के द्वारा द्वैत से मुक्ति और अद्वैत की प्राप्ति माना है। इस अवस्था का नाम भिन्न भिन्न मार्गों में भिन्न भिन्न है। अद्वय, मैथुन, युगनद्ध, यामल, समरस, युगल, सहजसमाधि, शून्य समाधि या केवल समाधि नामों से इसको अभिहित किया जाता है।[1] गुह्य साधनाओं के पीछे अद्वैतवाद की इस प्रेरणा के मूल में सामाजिक प्रेरणा भी अवश्य थी। यह केवल दार्शनिक तत्वचिंतन नहीं था जिसके परिणामस्वरूप अद्वैत को आधार

---

१. शक्ति ऐंड शाक्त, पृ० ११६।

मानकर सारी गुह्य साधनाएँ विकसित हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि बीच की जितनी कड़ियाँ थीं, जो धर्म साधना और व्यक्ति के बीच व्यवधान उपस्थित करनेवाली थीं, उनकी निष्कृति के द्वारा सभी को धर्म साधना के क्षेत्र में मुक्त बनाना ही इस साधना के पीछे था।

सहजयान के सिद्धांत

सहजयान के ही अंतर्गत नहीं, वरन् प्रायः सभी वाममार्गी साधनाओं में कायसाधना को आधार माना गया है। अपने से बाहर किसी प्रकार की सिद्धि अथवा परमार्थ को ढूँढ़ना अनावश्यक है। शरीर ही सबसे बड़ा तीर्थ है। इसी में गंगा जमुना और गंगासागर है। इसी में प्रयाग, बनारस, सूर्य और चंद्रमा हैं। सभी कुछ इसीमें है। बाहर भटकना व्यर्थ है।[1] इस शरीर में ही सारा विश्व समाया है। इस आधार पर हिंदू तंत्रवादियों ने शिव और शक्ति का निवास शरीर के अंदर माना है। शिव का वास सहस्रार चक्र में है और शक्ति मूलाधार में अवस्थित है। शक्ति कुंडलिनी (सर्पिणी) के आकार में कुंडली मारे बैठी रहती है। साधना के द्वारा इस कुंडलिनी शक्ति को चेतन कर ऊपर सहस्रार चक्र की ओर प्रेरित किया जाता है। साधना की सफलता इसी शिव और शक्ति के मिलन में है। कालांतर में यह शिव और शक्ति पुरुष और स्त्री तत्व के प्रतीक मान लिये गए। सभी गुह्य साधना में यह स्वीकार कर लिया गया कि विश्व के सभी प्राणियों का विभाजन पुरुष और स्त्री रूप में प्रायः मनुष्य शरीर की इसी विशेषता का प्रतिफल है। साधना की पूर्णता का सच्चा अनुभव करने के लिये यह आवश्यक है कि पुरुष और नारी का पूर्ण संमिलन हो। अंतर्जगत की नारी और पुरुष शक्तियों के मिलन से जिस पूर्णता और महासुख की कल्पना की गई, उसी को बहिर्जगत् में भी व्यवहार करने के कारण पंचमकारवाले वाममार्ग की स्थापना हुई। बहुत कुछ इसी प्रकार के चिंतन का परिणाम बौद्ध धर्म में सहजिया संप्रदाय है। बौद्ध धर्म में चरम पूर्णता या आनंद सहज के नाम से पुकारा गया है। यह चरम सत्य जिसे वे सहज कहते हैं, शून्यता और करुणा जिसका

---

१. एत्थु सें सुरसरि जमुणा, एत्थ सें गंगासाअरु।
एत्थु पआग वणारसि, एत्थु से चंद दिवाअरु॥
सेतु-पीठ उपपीठ, एत्थु महं भमइ परिट्ठवो।
देहा-सरिसअ तित्थ, महं सुह अण्ण ण दिट्ठवो॥
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, (१. सरहपा, पद सं०, ४७-४८) पृ० ८।

दूसरा नाम प्रज्ञा और उपाय है, के संमिलन का परिणाम है। (तंत्रयान की तरह प्रज्ञा और उपाय शक्ति और शिव का प्रतीक–स्त्री और पुरुष का प्रतीक है।) उपाय वज्रसत्व के रूप में शिरोभाग में अवस्थित है और प्रज्ञा विश्व शक्ति शरीर के अधो भाग में निवास करती है। इड़ा और पिंगला के द्वारा भी इन शक्तियों का बोध कराया जाता है। प्रज्ञा के मिलन का तात्पर्य इन्हीं नाड़ियों के मिलन से है। नाथ संप्रदाय में इसी को सूर्य और चंद्रमा कह कर पुकारा गया है। हठयोगी इसी को प्राण और उदान कहते हैं और इन दोनों के संमिलन का अर्थ होता है श्वासवायु का धारण करना। इस सहज अवस्था का नाम शून्य, महासुख आदि दिया गया है। वास्तव में शून्य को नागार्जुन ने 'अस्ति नास्ति उभयानुभव चतुष्कोटि विनिर्मुक्त' कहकर इसे अनवद्य, अवनिश्वर स्वीकार किया। इसलिये सरहपा, कराहपा, इंद्रभूति आदि बौद्ध संतों ने फिर उसी को 'सहज' जैसा एक अधिक उपयुक्त नाम दे दिया, जिससे बौद्ध सहजिया संप्रदाय भी चल निकला।"[1] इस प्रकार सहज की उपलब्धि के लिए जो शून्यता का पूर्ण ज्ञान अपेक्षित था वह प्रज्ञा के रूप में किसी सुंदरी रमणी का प्रतीक बन गया।[2] सिद्धों की रचनाओं में जिस सुंदरी, साँवरी के मिलन की चर्चा की गई है, वह हाड़ मांस की नारी नहीं है, वरन् वह सिद्धों की साधना की वृत्ति का परिचायक है। ये वृत्तियाँ तीन हैं। 'यद्यपि इन तीनों वृत्तियों के नाम उस जमाने की नीच समझी जानेवाली जातियों के नाम पर हैं, पर वे बौद्ध तांत्रिक साधना की बहुत ऊँची अवस्थाओं की द्योतिका है। सहज मत की तीन वृत्तियाँ (या मार्ग) ये हैं—(१) अवधूती, (२) चांडाली, (३) डोंबी या बंगाली। अवधूती में द्वैत ज्ञान बना रहता है। चांडाली में द्वैत ज्ञान के बने रहने को कह भी सकते हैं, नहीं भी कह सकते, पर डोंबी या बंगाली में विशुद्ध अद्वैत ज्ञान ही विराजा करता है। एक का रास्ता इड़ा मार्ग से है, दूसरी का पिंगला मार्ग से और तीसरी का सुषुम्ना से।'[3] संभवतः विश्वशक्ति, जो मूलाधार चक्र में स्थित रहती है, वह नैरात्म देवी कहलाती है। उसी की तीन भिन्न स्थितियाँ अवधूती, चांडाली और डोंबी कही जाती है। साधनामाला नामक ग्रंथ की चर्चा करते हुए श्री पी० सी० बागची ने एक चीनी अनुवाद के आधार पर यह भी कहा है, कि मुद्राओं के ही आधार पर इन

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : मध्यकालीन प्रेम साधना।

२. वही।

३. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ७८।

नामों और गुणों का वर्गीकरण हुआ है। वज्र, पद्म, कर्म, तथागत और रत्न ये पाँच कोटियाँ हैं और इनके आधार पर मुद्राओं का नाम है। डोंबी मुद्रा, नटी मुद्रा, रजकी मुद्रा, ब्राह्मणी मुद्रा और चांडाली मुद्रा।[1] बहुधा यह आम धारणा है कि मुद्रा से तात्पर्य स्त्री से है। किंतु वज्रतंत्र में कहा गया है—'कर स्फोटो भवेन्द्‌मुद्रा अंगुल्या मीडनं तथा।' इससे प्रतीत होता है कि मुद्रा हाथ और उँगलियों की भिन्न स्थिति है, जिससे साधक प्रज्ञा का आवाहन करता है। शवरपा ऐसी ही शबरी का वर्णन करता है तथा उसके संयोग से प्राप्त महासुख की अनुभूति का भी वर्णन करता है—

ऊचा ऊचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पिच्छ परिहिण शबरी गीवत गुंजरि-माली॥
उमत शबरी पागल शबरी मा कर गुली-गुहाडा।
तोहोरि णिअ घरिणी नामे सहज सुंदरी॥

× × ×

चिअ तांबोला महासुहे कापुर खाई।
सुन-नैरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई[2]॥

भूसुकपा भी उस चरम अवस्था का वर्णन करता है, जब उसका द्वित्व मिट गया है, उसने चंडाली को अपनी घरनी बना लिया है और उसे महासुख की प्राप्ति हो रही है—

'आजि भूसुक बंगाली भइली। णिअघिरिणी चंडाली लेली॥
डहिउ जे पंच पाटन इंदि-विसआ णठा।
ण जानमि चिअ मोर कह गइ पइठा॥
सोण-रुअ मोर किंपि ण थाकिउ। णिअ परिवारे महासुह थाकिउ[3]॥'

सिद्ध साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर भी उसकी विशेषतायें बहुत स्पष्टता से हमारे संमुख उपस्थित हो जायँगी। सिद्ध बेलाग कहनेवाले थे।

---

१. पी० सी० बागची : स्टडीज इन तंत्राज, पृ० ३५-३६।

२. राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, पृ० २०।

३. वही, पृ० १३६।

जो कुछ भी सत्य समझते थे, उसे कहने में उन्हें रत्ती भर भी हिचक नहीं होती थी। प्रायः उन्होंने अपने कथन को तीखा बनाकर ही कहा है; उस समय की सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं को खुली चुनौती दी है। उनकी साधना प्रायः वाममार्ग के नाम से पुकारी जाती है। इस वाममार्ग के संबंध में अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। लेकिन वाममार्ग से सामान्य तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि वह साधना जो दक्षिणमार्ग के प्रतिकूल हो अर्थात् वेद, शास्त्र और पुराणानुमोदित साधना के विपरीत मार्ग ही वाममार्ग कहलाता है। इस प्रकार सभी प्रकार की सहजिया रचनाओं में रूढ़ियों, बाह्याचारों, कर्मकांडों तथा प्रचलित मान्यताओं का कटु विरोध मिलता है। सिद्ध साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता विद्रोहात्मक है। यह विद्रोह जीवन में सहज मान्यताओं की स्थापना के लिये हुई है। अतः इसका रचनात्मक पहलू भी है। यह पहलू उनकी साधना के प्रतिपादन पक्ष में मिलता है। कभी कभी सिद्धों ने यह विरोध लोगों को चौकाने और धक्का देने (शॉक टैक्टिक्स) के लिये भी अपनाया है। मुद्राओं का नाम, नैरात्म्य देवी की भिन्न भिन्न स्थितियों के नाम से डोंबी, चांडाली, बंगाली आदि रखने में भी यही तात्पर्य मालूम होता है। उसी प्रकार खुलेआम आलिंगन करना, मुख चूमना आदि क्रियाओं का वर्णन कर उन्होंने पुरानी मान्यता और मर्यादावाले लोगों को झकझोरा है—

सिद्ध साहित्य की विशेषता

'तिअड्डा चापि जोइनि दे अंकवाली। कमल-कुलिश घोंटि करहु विआली॥
जोइनि तइं विनु खनहि न जीवमि। तो मुह चुंबि कमल-रस पीवमि[1]॥'

वास्तव में सिद्ध संप्रदाय एक ऐसा साहसभरा और क्रांतिकारी जीवनदर्शन था, जिसके कारण समाज को विवश होकर-विरोध या समर्थन करना ही पड़ता, मौन रहना संभव नहीं था। अभी तक सभी विचार पद्धतियाँ जीवन और जगत् का उद्धार संयम, नियमन और दमन के मार्ग से संभव समझती थीं, किंतु सहजयानी और तंत्रयानियों ने सर्वप्रथम अथक साहस के साथ इस विचार पद्धति के खोखलेपन को स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि यह मार्ग खोखला, प्रवंचना का है और साथ ही अस्वाभाविक भी। उन्होंने राग के मार्ग से विराग की प्राप्ति संमुख रखी। भोग में रहकर भी उससे असंपृक्त रहना कितने साहस और संयम का

---

१. राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा (६-गुंडरीपाद,) पृ० १४२।

कार्य है, इसे इन साधकों के जीवन का साधारण ज्ञान हो जाने से समझ में आ सकता है।

सहज संप्रदाय नाम भी इस साधना का इसलिये पड़ा कि इसके द्वारा साधक को आत्मा का सहज ज्ञान हो जाता है और साथ ही यह मार्ग भी सहज अर्थात् स्वाभाविक होता है। इसमें दमन के द्वारा अप्राकृतिक ढंग से स्वभाव पर नियंत्रण नहीं किया जाता।

सहजिया संप्रदाय पुस्तकीय ज्ञान का विरोधी है। ज्ञान केवल ज्ञान के लिये अर्जित करना व्यर्थ का बोझ है। पुस्तकीय ज्ञान और व्याख्या आदि के प्रति एक व्यापक संदेह इस युग के लोगों में दिखाई पड़ता है। सिद्ध कवियों ने उस अविश्वास और संदेह को अपनी रचनाओं में स्पष्टता और निर्भीकता से व्यक्त किया है। इस संदेह का संभवतः यह कारण था कि उस समय की जनता तथाकथित ज्ञानियों के ऊहापोह और पिष्टपेषण से ऊब चुकी थी। बड़ी बड़ी सूक्ष्म दार्शनिक व्याख्याएँ, मस्तिष्क को न केवल थकानेवाली और अगम्य थीं, वरन् उनका जीवन से कोई सीधा संबंध ही नहीं था। यह ज्ञान भी सिमट कर थोड़े से लोगों की पूँजी बन गया था जिसके बल पर वे जनता पर अनेक प्रकार के मतमतांतर लादते और अनेक तरह से उनका शोषण करते थे। व्यक्ति और समाज उस ज्ञान के वृत्त से एक प्रकार से निर्वासित सा था। कोरा बुद्धिविलास कब तक जनता को रुचता। परिणामस्वरूप सभी प्रकार के ज्ञान और पुस्तक से लोगों को न केवल अरुचि उत्पन्न हो गई वरन् वह मखौल और उपहास की वस्तु बन गई। सरहपा, ऐसे ब्राह्मणों और ज्ञानियों को कहता है कि तुम्हें वेद का कोई ज्ञान नहीं, तुमने उसे व्यर्थ पढ़ा।[1] उसी प्रकार कण्हपा ऐसे पंडितों की जो पुस्तकों में लगे रहते हैं, तुलना ऐसे भौंरे करता है जो श्रीफल के पके फल के चतुर्दिक मँडराया करते हैं।[2] पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर अपनी स्वानुभूति और सहजानुभूति को वे अत्यधिक महत्व देते हैं।

---

१. 'बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ। एँवइ पढ़िअउ ए चउवेउ॥'
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, (१. सरहपा, पद सं० १) पृ० ४।

२. आगम-बेअ-पुराणें (ही) पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिअ जिम, बाहेरीअ भमन्ति॥
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा (१२. कण्हपा, पद सं० २) पृ० १४६।

कर्मकांड और बाह्याचारों के संबंध में पहले कहा जा चुका है। सिद्धों ने डंके की चोट पर कहा है कि सभी प्रकार के बाह्याचार व्यर्थ हैं। वे साधना से विरत करनेवाले हैं और तथ्यहीन हैं। माला फेरना, हवन करना, तीर्थाटन करना, मूर्ति पूजा करना, होम, यज्ञ आदि सभी व्यर्थ हैं, विभिन्न प्रकार के वेश की भी ये निंदा करते हैं। सरहपा कहते हैं कि बिना काम के ही क्यों होम करते हो और कड़ुवे धुवें से आँख को कष्ट देते हो। एक दंडी और त्रिदंडी का विभिन्न भगवावस्त्र धारण करने से क्या लाभ? गुरु का सदुपदेश आवश्यक है। शरीर में राख लपेटना और शिर पर जटा का भार ढोना व्यर्थ है। दीर्घ नखवाले और गंदे वेश धारण करनेवाले अथवा नंगे होकर केश उखाड़नेवाले भी व्यर्थ का कृत्य करते हैं।[1]

तीर्थ यात्रा, स्नानादि भी व्यर्थ हैं। इनसे शुचिता नहीं आती। विष्णु, महादेव, महेश्वर आदि की पूजा भी निरर्थक है। मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा भी निष्फल हैं।[2]

सहजयानी संप्रदाय में समाजगत बाह्याचार का भी निषेध और खंडन है। व्यष्टि के जीवन में बाह्याचार और कर्मकांड की प्रधानता ने उसके सहज भाव और शक्ति को जिस प्रकार से दबा रखा था, समाज के जीवन में जो जातिगत भेदभाव आ गए थे, उसका सहज सिद्धों ने बहुत स्पष्ट और निर्भीक ढंग से विरोध किया है। कुलीनता के अभिमान को खंडित करने के लिये संभवतः उन्होंने अपनी शक्तियों का नाम डोंबी, चांडाली और बंगाली रखा है। उसी के मिलन सुख को उन्होंने निर्वाण से भी अधिक स्पृहणीय माना है। स्वयं सहजयानी सिद्धों में प्रायः सभी जाति के लोग शामिल हैं। सभी की साधना उत्कृष्ट थी। जातिभेद के कारण किसी प्रकार का कोई अंतर नहीं मालूम पड़ता। इन साधकों में ब्राह्मण, राजकुमार, मछुआ, धोबी, चमार प्रायः सभी जातियों के लोग थे। यही इसका

---

१. वही, (१. सरहपा,) पृ० ५।

२. 'तित्थ तपोवण म करहु सेवा। देह सुचीहि ण सन्ति पावा॥
बम्हा विह्णु-महेसुर देवा। बोहिसत्व मा करहू सेवा॥
देव म पूजहु तित्थ ण जावा। देवपुजाही मोक्ख ण पावा॥
बुद्ध अराहहु अविकल-चिते। भव णिव्वाणे म करहु थिते॥
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा (१६. तिलोपा, पद सं० १६–२२) पृ० १७४।

सबसे बड़ा और स्पष्ट प्रमाण है कि सिद्ध संप्रदाय में किसी प्रकार का जातिभेद नहीं मिलता और साथ ही साथ स्वयं इनके संप्रदाय में सभी प्रकार के जातिगत भेदभाव की निंदा भी की गई है।

इसी प्रकार सिद्ध साहित्य में गुरु की महिमा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। सिद्धों ने पुरोहितवाद और दूसरे कर्मकांड का तीव्र विरोध किया, किंतु गुरु के प्रति अंध भक्ति का समर्थन किया। यह परंपरा जो सिद्ध साहित्य में आई, वह नाथ संप्रदाय से होती हुई संत संप्रदाय तक पहुँची। सिद्ध साहित्य और उसकी परंपरा में उद्भूत दूसरी साधनाओं में गुरु का जो इतना अधिक महत्व प्रतिपादित किया गया, उसका कारण इनकी साधनाओं का स्वरूप है। ये सभी मार्ग गुह्य साधना के थे। इनमें साधना और व्यवहारपक्ष प्रधान था। अतएव, इसका पूर्ण ज्ञान केवल कुछ ही व्यक्ति को हो सकता था। अतः बिना गुरु के इस साधना का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करना असंभव था। केवल गुरु से ही जो वस्तु उपलब्ध होनेवाली है, वहाँ उस व्यक्ति के महत्व का सर्वाधिक होना अनिवार्य ही है। यह साधना भी कुछ ऐसी थी जो सबको नहीं बताई जा सकती थी। पात्र अपात्र का इसमें बहुत ध्यान रखना पड़ता था। बिना गुरु के समक्ष पात्रता सिद्ध किये ज्ञान हासिल नहीं किया जा सका था। किताब आदि की निंदा और अनावश्यकता तो इस संप्रदाय में बराबर ही कही जाती थी। अनुभूति और सहजात वृत्ति के आधार पर (इन्सिटिंक्ट) ही चरम सुख को जाना जा सकता था। अतः गुरु की कृपा बिना ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं था। इसीलिये सरहपा कहता है कि गुरु के अमृत रूप उपदेश को जिसने दौड़कर पान नहीं किया उसने बहुत से शास्त्रों के मरुस्थल में प्यासा रह कर व्यर्थ ही अपनी जान गँवाई[1]।

शरीर साधना को प्रायः सभी पद्धतियों में तंत्रयान और वज्रयान तथा सहजयान में समान महत्व मिला है। शरीर की उपेक्षा प्रायः सभी वैदिक संप्रदायों की विशेषता रही है। शरीर नश्वर है, अतः मूल्यहीन है। ब्रह्म की साधना के लिये जितना ही शरीर से अन्यमनस्क हो, अध्यात्म और परमात्म-तत्व का चिंतन करोगे, उतनी ही सिद्धि और असफलता के नजदीक पहुँचोगे। इस विचारधारा का प्रभाव

---

१. गुरु-उवएसे अमिअ-रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु-सत्थत्थ-मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ तेहि॥
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा (१. सरहपा, पद सं० ५६) पृ० ८।

सभी वैदिक परंपराओं में होने की ही प्रतिक्रिया इन सहजयानी और तंत्रयानी पद्धतियों में हुई। उन्होंने शरीर को ही सारे ब्रह्मांड या लोक और परलोक का संक्षिप्त प्रतिरूप माना। सभी वांछाएँ इसी शरीर तीर्थ की साधना से ही पूर्ण हो सकती हैं। अतः बाहर भटकना समय और श्रम का दुरुपयोग है। वास्तव में सहजयानी परंपरा यथार्थ और जीवन के समीप ही नहीं थी, वरन् उन्हीं की आवश्यकता से प्रेरित हो, उन्हीं से उत्पन्न हुई थी। जंगल, एकांत, सुदूर तीर्थ, भिन्न भिन्न कूप, नदी और तड़ाग के जल से निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकता। सरहपा इन्हीं भावों का समर्थन करते हुए कहता है कि काया जैसा तीर्थ मैंने नहीं देखा, क्योंकि इसी में सभी पीठ, उपपीठ स्थित हैं।[1]

सिद्धों की रचनाओं में साधनापरक रहस्यवाद पाया जाता है। उनकी साधना गोपनीय थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विशेष रूप से ऐसी शब्दावली, संकेतों और प्रतीकों का विधान किया था, जिससे उनके सिद्धांतों और पद्धतियों की गुह्यता सुरक्षित रह सके। इसीलिये उनकी भाषा का भी अलग ही नाम विद्वानों ने दे रखा है। उसे संध्या या संधा भाषा कहकर पुकारा जाता है। विद्वानों में मतभेद है कि उस भाषा का यथार्थ नाम संधा या संध्या हो। किंतु इस नाम से जो ध्वनि निकलती है उससे प्रायः सभी सहमत हैं। इसका तात्पर्य उस भाषा से है जो किसी विशेष छिपे हुए, गूढ़ और अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करे। यद्यपि सिद्धों की रहस्य शैली में अर्थ की जटिलता है, किंतु वह केवल साधना क्षेत्र के व्यक्तियों के लिये है। यह भी संभव है कि उस समय उनके गीतों और रचनाओं में व्यवहृत संकेत और प्रतीक व्यापक रूप से प्रचलित रहे हों, क्योंकि सभी सिद्धों ने तथा परवर्ती नाथ संप्रदायवादी और संत कवियों ने इस रहस्यपरक शैली में कविता की है। उन्होंने अपनी रचनाओं में जिज्ञासुओं को ललकारा भी है कि वे उनकी रचनाओं का अर्थ ढूँढ़ें। यह ललकार केवल वेदमार्गी लोगों के लिये ही हो सकती है। अपने पथ और मार्गवालों को यह चुनौती देने की आवश्यकता नहीं थी। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने कबीर नामक ग्रंथ में लिखा है कि कबीरदास जब अवधू या अवधूत कहकर संबोधित करते हैं तो प्रायः खंडनात्मक बात कहते हैं

---

१. खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु मइं भमइ परिट्ठओ।
देहा-सरिसअ तित्थ, मइं सुह अण्ण ण दिट्ठओ॥
वही, पृ० ८।

और जब संतों को संबोधित करते हैं तो मंडनात्मक या रचनात्मक पक्ष उपस्थित करते हैं[1]।

सिद्धों के रहस्यवाद में एक बात और विचारणीय है। उनका रहस्यवाद बुद्धि विभ्रम पैदा करनेवाला नहीं है। वह सहजवृत्तियों और साधना की अनुभूतियों के आधार पर समझने और आचरण करने की चीज है। रहस्यवाद प्रायः एकांतवादी और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की उपज होता है, किंतु सिद्ध और संत परंपरा का रहस्यवाद हममें अपने में और शरीर शक्तियों में विश्वास और आस्था पैदा करने-वाला है। असंभव और अकल्पनीय व्यापारों को संभव और सहज बता कर, मनुष्य को ही लौकिक और पारलौकिक शक्तियों का मूलाधार माना गया है। बहुत बाद में विचारदास के कुछ ऐसे प्रतीकों का संग्रह किया है, जिनका व्यापक उपयोग परवर्ती संत कवियों ने भी किया है। सिद्धों के प्रतीक और संकेत मुख्यरूप से उनकी साधना और अनुभव को लेकर हैं। शबरपा इसी प्रक्रिया को बतलाते हैं—

> तिउ धाउ खाट पडिला सबरो महासुहे सेज छाइली।
> सबर भुजंग नैरामणि दारी पेक्ख राति पोहाइली।
> चिअ तांबोला महासुहे कापुर खाई।
> सुन नैरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई[2]॥
>
> पृ० २० रा० सां०

इसमें प्रकाशमय तांबूलपत्र बोधिचित्त के लिये है, कपूर वीर्य के लिये है। नैरात्मा सहजयानियों की देवी नैरात्मा या प्रज्ञा है, कंठ से तात्पर्य संभोगचक्र से है। रात्रि से तात्पर्य अज्ञान और दुख का अंधकार से है।

इस प्रकार एक दूसरे स्थल पर भुसुकपा ने कहा है कि मूस रात्रि के अंधकार में गतिशील है। वह अमृत का पान कर रहा है। यहाँ पर मूस डा० बागची के अनु-सार चित्त पवन है। जब तक अज्ञान की रात्रि रहती है, यह चित्त पवनरूपी मूषक चलता रहता है और चोरी से अमृतत्व का पान करता है, किंतु योग की साधनाओं के द्वारा जब चित्त पवन ऊपर उठता है तो बोधि चित्त को आश्वस्त कर सहज सुख का अनुभव करता है[3]।

---

१. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ८६।

२. राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, पृ० २०।

३. णिशि अंधारी मूसा करअ अचारा। अमिअ-भखअ मूसा करअ अहारा॥
मार रे जोइया। मूसा-पना। जेण-तूटइ अवणा-गवणा।
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, (४ भूसुकुपा, पद सं० २१) पृ० १३२

कण्हपा का एक अत्यंत प्रसिद्ध रहस्यात्मक गीत है। रहस्य संकेतों की दृष्टि से यह भी देखने लायक है। कण्हपा कहते हैं—'डोंबी, नगर के बाहर तेरी कुटिया है। तुम ब्राह्मण को छू छू जाती हो। (किंतु उस पर अपने रूप और रहस्य को प्रकट नहीं करती हो) डोंबी, मैं तुम्हारा साथ करूँगा। इसी उद्देश्य से मैं घृणा छोड़ नंगा कापालिक हुआ। एक कमल है जिसकी ६४ पंखुड़ियाँ हैं। उस पर बेचारी डोंबी चढ़कर नाचती है। हे डोंबी, मैं तुमसे सद्भाव से पूछता हूँ। तू किसकी नाव पर आती जाती हो। डोंबी तंत्री और चंगले को बेंच देती है। हे डोंबी, तुम्हारे कारण जीवन का नाटक छोड़ दिया है। मैं कपाली हूँ। तू डोंबी है। तुम्हारे कारण मैंने हाड़ की माला पहनी है। सरोवर को नष्ट कर डोंबी मृणाल को खा जाती है। डोंबी, मैं तुम्हें मार डालूँगा। यहाँ पर डोंबी नैरात्म है। डोंबी को कोई कट्टरपंथी ब्राह्मण स्पर्श नहीं करता। उसी प्रकार नैरात्म की प्राप्ति भी किसी सनातनी ब्राह्मण को नहीं हो सकती, क्योंकि वह सभी इंद्रियानुभूति से परे होती है। तंत्री का अर्थ तार है, जिसका भाव मस्तिष्क की रचना के तार से है। चंगला का अर्थ बाँस की टोकरी होता है, किंतु व्याख्या में इसका अर्थ विषयाभास दिया गया है। सरोवर शरीर है और मृणाल का अर्थ बोधिचित्त है। शून्य में ६४ पटल का पद्म अवस्थित है, जहाँ डोंबी या नैरात्म शक्ति जाती है[1]। डा० बागची मृणाल के खाने का आशय देते हैं कि डोंबी उस मार्ग को नष्ट कर देती है, जिससे माया या भ्रम का आवागमन शून्य तक हुआ करता है। डा० शशिभूषणदास गुप्त पिछली पंक्ति की डोंबी का 'चित्त पवन जो शुद्ध नहीं हुआ' अर्थ करते हैं।

सहज संप्रदाय और साहित्य पर संक्षेप में विचार करने के बाद अब हम ऐसी स्थिति में आ गए हैं जिससे उसके वास्तविक स्वरूप को पहचान सकें। सहज

---

१. नगर बाहिरे डोंबि तोहोरि कुडिआ। छाइ छोइ जाय सो बाम्हण नाडिया।
आलो डोंबि तोए सन करिब म संग। निघिण काण्ह कपालि जोई लांग॥
एक सो पदुम चौषठि पाखुड़ी। तहिं चडि णाचअ डोंबि वापुड़ी॥
हालो डोंबि तो पूछमि सद्भावे। आइससि जासि डोंबि काहरि नावें॥
तांति विकणअ डोंबी अवर न चंगेडा। तोहोर अंतरे छड़ि नड़ पेड़ा॥
तूं लो डोंबी हाँउ कपाली। तोहोर अंतरे मोए वेणिलि हाडेरि माली।
सरवर भांजिअ डोंबी खाय मोलाण। मारमि डोंबी लेमि पराण॥
राहुल सांकृत्यायन : हिंदी काव्यधारा, (१२. कण्हपा, पद सं० १०)
पृ० १५०।

का अर्थ, सहजायते इति सहजः होता है। जीवन के साथ ही जिन प्रवृत्तियों का जन्म होता है, उनके द्वारा सिद्धि की प्राप्ति सहजयान कहलाता है। सरहपा ने इसको स्पष्ट करते हुए बताया है कि—

खाअंत पिअंते सुहहिं रमंते। णित्त पुंणु चक्कावि भरंते[1]।
अइस धम्म सिज्झइ पर लोवह। णाह पाये दलीउ भअलोअह॥

इस प्रकार खाते पीते सुख से रहते हुए सहज धर्म का पालन किया जाता है।

इस आंदोलन का उद्देश्य आचार की जटिलता और बुद्धिज्ञान की गुह्यता को हटाकर, उसके स्थान पर स्वाभाविक वृत्तियों के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए महासुख की प्राप्ति था। इस परंपरा की अन्य साधनाएँ जैसे वाममार्ग, मंत्रयान या तंत्रयान आदि की अपेक्षा यह अधिक यथार्थवादी था। आगे चल कर भले ही इससे आचारगत उच्छृंखलता और शिथिलता उद्भूत हुई हो, किंतु मूलतः ऐसी उच्छृंखलता का उच्छेद करना ही इसका लक्ष्य था। अन्य साधनाओं में स्त्री पुरुष के संबंध को लेकर, अनेक विकृत और निंद्य क्रियाएँ प्रचलित थीं। सहजयान में सैद्धांतिकरूप से इन प्रक्रियाओं की मान्यता नहीं। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, सभी गुह्य साधनाएँ नारीशक्ति की आराधना को केंद्र बनाकर पुरुष और नारीभाव के समन्वय को पूर्णता या महासुख का लक्ष्य बनाकर चलीं। हिंदू तंत्र, बौद्ध मंत्रयान और वज्रयान दोनों में यह नारी और पुरुषभाव का संमिलन और पूर्णता केवल सिद्धांत के ही क्षेत्र में मान्य नहीं थी, वरन् व्यावहारिक जगत् में उनके शारीरिक मिलन और समन्वय की आवश्यकता बन गई थी। इस प्रकार आचरण और व्यवहार में सर्वत्र शिथिलता और विशृंखलता फैली। सहजयान ने नारीशक्ति और पुरुष या शिव के मिलन के सिद्धांत को तो स्वीकार किया, किंतु वह केवल साधना और सिद्धांत के क्षेत्र में। सभी सहजिया सिद्धों ने बराबर संयम और आचरण की शुद्धता पर जोर दिया। कण्हपा कहता है, 'नारीशक्ति दिठ धरिआ खाटे। अनहा डमरू बाजइ विरनाटे।' उनकी नारीशक्ति केवल शरीर और व्यापक रूप से विश्व व्याप्त केवल भावात्मक नारीशक्ति थी, जिसे वे नैरात्म कहते थे और जिसको उद्बुद्ध कर सहस्रार में या शून्य में पहुँचा देने को ही वे सिद्धि की सफलता मानते थे। इस प्रकार यह नारी भावना का उदात्तीकरण (सब्लिमेशन) था।

---

१. वही, पृ० ६।

नि० सा० पृ० ४ (११००–६१)

नाथ संप्रदाय के भी मूल में वही प्रवृत्तियाँ और परिस्थितियाँ काम कर रही थीं जिनसे अनेक वेदवाह्य साधनों का जन्म हुआ था। नाथ संप्रदाय को पूर्णरूप से वेदवाह्य तो संभवतः नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पतंजलि के योगशास्त्र से इसका बहुत निकट संबंध था, किंतु इसका दृष्टिकोण उन सब परंपराओं के समीप था जिन्होंने वैदिक मान्यताओं का विरोध किया था। नाथ संप्रदाय का मूल उद्‌गम बौद्ध था या वैदिक, इसके संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। पं० विधुशेखर शास्त्री का मत है कि नाथ संप्रदाय वास्तव में बौद्ध संप्रदाय का एक अंग था किंतु बाद में गोरखनाथ ने इसे शैव परंपरा में समाविष्ट कर लिया। इसी प्रकार पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका प्राचीन नाम 'सिद्धमत' बतलाया है। इन लोगों के मत से सिद्धों द्वारा निर्णीत या व्याख्यात तत्व को ही सिद्धांत कहा जाता है[1]। इसीलिये अपने संप्रदाय के ग्रंथों को ही ये लोग 'सिद्धांत ग्रंथ' कहते हैं[2]। द्विवेदीजी ने नाथ शब्द की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि 'ना' का अर्थ है अनादि रूप और 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना, इस प्रकार नाथ मत का स्पष्टार्थ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है। श्री गोरक्ष को इसी कारण 'नाथ' कहा जाता है[3]। फिर 'ना' शब्द का अर्थ नाथ ब्रह्म जो मोक्ष दान में दक्ष है, उनका ज्ञान कराना है और 'थ' का अर्थ है (अज्ञान के सामर्थ्य को) स्थगित करनेवाला। यतः नाथ के आश्रयण से इस नाथ ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और अज्ञान की माया अवरुद्ध होती है अतः 'नाथ' शब्द का व्यवहार किया जाता है[4]। डा० शशिभूषण दास गुप्त भी नाथ संप्रदाय को सिद्धमत का पक्षविशेष मानते हैं। सिद्ध संप्रदाय इस देश का बहुत ही पुराना धार्मिक मत है जिसमें योग के मनोविज्ञान और रसायन पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। इसे हम काय साधना कहते हैं। नाथ लोगों के विश्वास के अनुसार इस संप्रदाय के प्रवर्तक आदि-नाथ थे, जो स्वयं शिव के अवतार थे। इन्हें बौद्ध लोग वज्रसत्व के रूप में स्वयं बुद्ध

नाथ संप्रदाय

---

१. गोरक्ष सिद्धांत संग्रह पृ० १८।

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, पृ० १।

३. नाकारोऽनादि रूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवेकः श्री गोरक्ष नमोऽस्तुते ॥
वही पृ० ३।

४. नाथ संप्रदाय पृ० ३।

मानते हैं। तारानाथ का ऐसा मत है कि गोरखनाथ जब बौद्ध धर्म के अनुयायी थे तब उनका नाम अनंगवज्र था। म० म० हरिहरनाथ शास्त्री का मत है कि रमनवज्र था[1]। नाथ संप्रदाय का मूल चाहे बौद्ध तंत्रसाधना हो अथवा हिंदू शैवसाधना, किंतु इसका संबंध निश्चित रूप से कायसाधना के उस विस्तृत और व्यापक परंपरा से था, जो उस समय सारे देश में, विशेष रूप से ऐसे समाज में प्रचलित थी जो वैदिक मान्यताओं का विरोधी था अथवा जिसे वैदिक समाज में स्थान नहीं मिला था। शैव संप्रदाय भी संभवतः वेदबाह्य ही रहा होगा; किंतु बाद में आर्यपरंपरा में गृहीत हो गया था। यह केवल शैव संप्रदाय पर ही लागू नहीं होता है, वरन् सभी संप्रदाय और मतों पर लागू होता है क्योंकि कालोपरांत सभी अपना मूल स्रोत वेद को मानने लगे। किंतु कायसाधना में विश्वास रखनेवाले भिन्न भिन्न संप्रदायों में भी मौलिक अंतर था। सहजयानी सिद्ध अपनी साधना का अंतिम लक्ष्य महासुख की प्राप्ति मानते थे, पर नाथपंथी अपनी साधना का लक्ष्य अमरत्व और महेश्वरत्व मानते हैं। यही कारण है कि नाथ संप्रदाय में गुह्य साधना की ओर उपेक्षा भाव लक्षित होता है। सहजयानी सिद्धों ने वाममार्ग के जिस पक्ष को अपनाया उसे नाथ-पंथियों ने तत्वतः नहीं स्वीकार किया। सहजयान में अपनी सहज वृत्तियों की तृप्ति के द्वारा अनासक्ति उत्पन्न करने का विधान है, किंतु नाथ संप्रदाय सहज वृत्तियों की सहज तृप्ति में विश्वास नहीं करता। वह ऐसी सभी वृत्तियों के निरोध में विश्वास करता है। योग साधना और हठवाद पर आधारित होने के कारण इसमें सहज संप्रदाय का मानसिक या मनोवैज्ञानिक अथवा भावात्मक पक्ष भी नहीं आ पाया है। बाह्य कर्मकांड का विरोध, पुस्तकीय ज्ञान की तुच्छता, जातिभेद आदि सभी अंधविश्वासों के खंडन में यह दूसरी साधनाओं के साथ था। एक का रास्ता था शोधन (सब्लीमेशन) तो दूसरे का दमन।

नाथ संप्रदाय का जो रूप हमें आज मिलता है, उसमें भी कई मतों, विचार-धाराओं और साधनाओं का मेल दिखाई पड़ता है। नाथ संप्रदाय के विकासक्रम को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—गोरखनाथ से पूर्व और उनके परवर्ती। ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखनाथ के आविर्भाव से पहले भी कई प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थीं। मत्स्येंद्रनाथ, जो गोरखनाथ के गुरु बताए जाते हैं, ने भी अपनी परंपरा चलाई थी, जिसे पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'सिद्ध कौल संप्रदाय' बताया है। डा० बागची ने उसे 'योगिनी कौलमार्ग' कहा है। इसी प्रकार जालंधरपा और

1. आब्स्क्योर रेलिजस कल्ट्स।

शवरपा, कान्हपा के भी विचार और मत की एक विशिष्ट धारा प्रतीत होती है। संभवतः जालंधरपा ने जिस पंथ को चलाया वह औघड़ पंथ था, जिसे कापालिक भी कह सकते हैं और 'इसका स्वतंत्र अस्तित्व था, जो बाद में गोरखपंथी साधुओं में अंतर्भुक्त हो गया[1]।' डा० मोहन सिंह एक दूसरा ही अनुमान लगाते हैं। उनका कहना है कि 'बहुत से नाथ सिद्ध जो उत्तर और पूर्व के थे, बौद्धों की तरह 'पा' के नाम से विख्यात थे। साधारणतया पंजाब, सिंध, राजपूताना, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण के सिद्ध 'नाथ' कहे जाते थे और उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल नेपाल और तिब्बत के सिद्धों के नाम के साथ 'पा' रहता था[2]।' इससे यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि वाममार्ग संबंधी प्रथाएँ और क्रियाएँ संभवतः पूर्व की आदिम जातियों में प्रचलित थीं, जिन्हें इन नाथ पंथ के पूर्ववर्ती सिद्धों ने ग्रहण किया था और बाद में चलकर गोरखनाथ के बाद ये सब मिलजुल कर नाथ संप्रदाय में समाविष्ट हो गईं। इस प्रकार नाथ संप्रदाय में सँपेरे आदि जातियों के लोग भी पाए जाते हैं। मुंडमाला धारण करनेवाले कापालिक भी हैं, और योग की साधना करनेवाले योगी भी। गोरखनाथ का व्यक्तित्व एक ऐसा प्रबल व्यक्तित्व था कि उनके प्रभाव से बहुत से मतमतांतर के अनुयायी उन्हीं के संप्रदाय में आ गए, किंतु उनकी प्राचीन धारणाएँ और प्रथाएँ थोड़े बहुत रूप में फिर भी विद्यमान रहीं। इस प्रकार नाथ संप्रदाय में मुख्यतः कौल संप्रदाय, कापालिक और हठवादी योग संप्रदाय का समावेश है।

कौल संप्रदाय के प्रवर्तक मत्स्येंद्रनाथ माने जा सकते हैं। कौल लोगों के मत से 'कुल' का अर्थ शक्ति है और 'अकुला' का अर्थ 'शिव' है। कुल से अकुल का संबंधस्थापन ही 'कौल' मार्ग है[3]। कौलोपनिषद में इस संप्रदाय की मीमांसा बड़ी स्पष्टता से की गई है। धर्मविहित आचरण नहीं करना चाहिये। वेद का अनुगमन करना ठीक नहीं। गुरु ही सच्चा मार्गदर्शक होता है। अपना और अपनी साधना का रहस्य किसी पर भी प्रकट नहीं करना चाहिये। नियम मोक्षप्राप्ति में बाधा पहुँचाती है। अतः नियम का पालन नहीं करना चाहिये। इस संप्रदाय

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, पृ० ७।

२. डा० मोहन सिंह : गोरखनाथ एंड मेडिवल हिंदू मिस्टिसिज्म।

३. कुलं शक्तिरितिप्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य संबंधः कौलमित्यमिधीयते।
पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, पृ० ६१।

में ३६ तत्व माने गए हैं। इनमें प्रथम दो शिव और शक्ति—शिव-तत्व कहे जाते हैं। (द्विवेदी) कुल साधना में कुल द्रव्य—मद्य मांसादि का सेवन किया जाता है। कुलार्णव तंत्र में मद्यपान की इस विधि को बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। मदिरा पान का पूरा अनुपान बतलाया गया है और अंतिम उल्लास की स्थिति में जिस आनंद की प्राप्ति होती है, वह ब्रह्मानंद की अनुभूति से किसी भी प्रकार हीन नहीं होती। अनेक प्रकार की मछली, मांस और मदिरा का भी उल्लेख कौल ग्रंथों में किया गया है। 'किसी भी इंद्रियार्थ के भोग में द्विधा न करे, समस्त वर्णों के साथ एक आचार पालन करे और भक्ष्याभक्ष्य का विचार बिलकुल न करे। सर्वत्र उसकी बुद्धि इस प्रकार होनी चाहिये कि न मैं ही कोई हूँ न मेरा ही कोई है, न कोई बद्ध है, न बंधन ही है और न कुछ कर ही रहा हूँ'[1]। 'इस प्रकार कौल मार्ग ने सभी प्रचलित मान्यताओं और मर्यादाओं को चुनौती दी। इस दिशा में यह साधना सहजमार्ग के बहुत समीप थी। यद्यपि परवर्ती नाथ संप्रदाय में पंच मकार या पंच पवित्र का बराबर आध्यात्मिक अर्थ ही गृहीत हुआ है पर कौल साधकों के लिये वे सभी द्रव्य और उपकरण यथार्थ थे। कौल साधक तीन प्रकार के माने गए हैं—पशु, वीर और दिव्य। पशु तो वे साधक हैं जो संसार के माया-मोह में बँधे रहते हैं। वीर उन साधकों को कहते हैं जो मोहपाश को तोड़ने के प्रयत्न में अग्रसर होते हैं और अंत में इसे तोड़ डालते हैं। दिव्य कोटि में वे साधक आते हैं जिनका द्वित्व नष्ट हो गया रहता है और पूर्णरूप से अद्वैतभाव की अनुभूति करते हैं। 'अथ किं बहुनोक्तेन सर्व द्वंद्व विवर्जितः।' इस प्रकार की द्विधा और द्वित्व से विरहित हो जानेवाला साधक ही पूर्ण कौल माना जा सकता है।

नाथ संप्रदाय में दूसरा सांप्रदायिक उपकरण कापालिक धर्म का है। यह मार्ग तांत्रिक वाममार्गियों से संबद्ध कहा जा सकता है। पहले कहा जा चुका है कि हमारी संस्कृति के वेदवाह्य अंश से ही वाममार्ग और तांत्रिक साधना का

---

१. नाहं कश्चिन्न मे कश्चित् न बद्धो न च बंधनम्।
नाहं किंचित् करोमीति मुक्त इत्यभिधीयते॥
गच्छन्स्तिष्ठन्स्वपन्जाग्रद् भुज्यमाने च मैथुने।
भयाद्दारिद्यशोकैश्च विष्ठामूत्रादिभक्षणे।
विचिकित्सा नैव कुर्वीत इन्द्रियार्थैः कदाचन।
आचरेत् सर्ववर्णानि न च भक्षं विचारयेत॥
अकुल वीर तंत्र, पृ० ६६–६८, दे० नाथ संप्रदाय पृ० ७१।

प्रादुर्भाव हुआ है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने ग्रंथ नाथ संप्रदाय में इस तथ्य की ओर संकेत किया है। उनका भी विश्वास है कि प्राचीन यक्ष संप्रदाय और उसकी संस्कृति में मुक्त स्त्री संग और मदिरा पान की प्रथा थी और वहीं से इन बौद्ध और हिंदू गुह्य तंत्र साधनाओं में आई। मालतीमाधव और कर्पूरमंजरी आदि ग्रंथों से इस साधना और साधकों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। प्रायः सभी वर्णनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये साधक अस्थियों की माला धारण करते थे, श्मशान में रहते थे और नरमुंड में भोजन करते और मदिरा पान करते थे। स्त्रियों के साथ साधना करना अनिवार्य था। वहिरंग उपासना के ये सब उपकरण इसलिये थे कि साधक को शून्यता की प्राप्ति हो सके जो उसका चरम प्राप्तव्य थी। इस शून्यता का अर्थ है अभावों की समाप्ति। अभाव की समाप्ति तभी हो सकती है जब उसकी सभी इच्छाएँ और कामनाएँ तृप्त हो गई हों क्योंकि वे दबाने से मरती नहीं, केवल दब जाती हैं या छिप जाती हैं, किंतु अवसर आने पर पुनः उद्‌बुद्ध हो साधक को पथभ्रष्ट कर देती हैं। अतः इसका केवल यही उपाय है कि उन्हें भोग द्वारा तृप्त किया जाय। इस तरह पंच मकारों की आवश्यकता हुई। ये सब वहिरंग उपकरण हैं। इनकी सहायता से साधक अपनी अंतरंग साधना की ओर उन्मुख होता है। अंतरंग साधना कायसाधना है जिसमें शिव और शक्ति के मिलन का प्रयास, योगी शरीर में स्थित कुंडलिनी शक्ति को जगा कर करता है। मेरुदंड के भीतर तीन नाड़ियाँ होती हैं। बाईं नासिका से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करनेवाली नाड़ियाँ चलती हैं जिनमें पहली प्रज्ञा चंद्र है और दूसरी उपाय-सूर्य। बीचवाली नाड़ी अवधूती है। नाड़ी से प्राणवायु ऊपर को उठता है। अंत में वह मेरुगिरि के शिखर पर जाता है जहाँ महासुख का आवास होता है। वहाँ पर कमल विशेष है जिसमें योगी उसी प्रकार रमता है जैसे भ्रमर।

नाथ संप्रदाय का तीसरा और संभवतः सबसे महत्वपूर्ण अंग हठयोग है। नाथ संप्रदाय की साधना का यही मेरुदंड है। ऐसा कहा जा सकता है कि गोरखनाथ ने सबसे अधिक जोर इसी हठयोग के साधनापक्ष पर ही दिया। गोरखनाथ का हठयोग बहुत कुछ तो शास्त्रीय योग मार्ग पर अवलंबित था किंतु सभी वहाँ से गृहीत नहीं था। उसमें बहुत कुछ तो उन्होंने प्रचलित विश्वास और परंपरा से ग्रहण किया था। उन्होंने बहुत सी पारिभाषिक शब्दावली, जो संभवतः उनके समय तक रूढ़ हो गई थी, को भी अपनाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से स्वतः अनुभूत सत्य और तथ्य का भी समावेश अपने संप्रदाय में किया।

हठयोग योगशास्त्र का एक अंग है। राजयोग, भावयोग, लययोग, मंत्र या शब्द-योग और हठयोग ये सभी काय साधना के अनेक पक्ष थे। योगशास्त्र का लक्ष्य था चित्तवृत्ति का निरोध। हठयोग उस चित्तवृत्ति के निरोध को प्राण या वायु-निरोध की साधना से उपलब्ध करने का मार्ग है। सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति के अनुसार द्विवेदीजी ने हठ का अर्थ सूर्य चंद्र का योग ठहराया है। उसके अनुसार 'ह' का अर्थ है सूर्य और 'ठ' का अर्थ चंद्रमा। हठयोग से सर्वसाधारण में यह तात्पर्य लिया जाता है कि ऐसा मार्ग जिसमें हठपूर्वक साधना करने से सिद्धि की प्राप्ति होती है। इसमें संदेह नहीं, हठयोग में बलपूर्वक निरोध है। हठयोग एक ऐसी शारीरिक साधना है जिसके द्वारा साधक अमरत्व प्राप्त करता है। यह अमरत्व उसे सूर्य और चंद्र के मिलन से, शुक्र और रज के मिलने से या शक्ति या शिव के मिलन से प्राप्त होता है। नाम भिन्न भिन्न हैं। संभवतः नामों में जो यह भिन्नता है यह साधन मार्गों की भिन्नता के कारण है। सहजिया संप्रदाय, कौल और कापालिक साधना सभी प्रायः हठयोग या इससे मिलती जुलती साधना में विश्वास करती थीं, अतः उसी कारण ये नामभेद हैं। वस्तुतः इतना सभी विश्वास करते हैं कि विश्वशक्ति का प्रतीक कुंडलिनी शक्ति प्रत्येक मनुष्य के अंतिम चक्र मूलाधार में एक सर्पिणी के आकार में अवस्थित है। यह शक्ति साढ़े तीन वलयों में अपने शरीर को लपेटे सुषुप्त अवस्था में पड़ी रहती है। योगी इसी शक्ति को जगाता है और वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर अनाहत विशुद्ध और आज्ञा चक्रों को पार करती हुई अंतिम चक्र सहस्रार में प्रवेश करती है। कहा जाता है कि यह सहस्रार चक्र, सहस्रदल कमल का बना है। यहाँ प्रवेश करने पर शक्ति का शिव के साथ मिलन होता है। इस मिलन से ही अमृत का स्राव होता है। इस प्रकार अमृत के निर्झरण को योगी खेचरी मुद्रा में पान कर अमर हो जाता है। कहा जाता है कि सहस्रार और त्रिकुटी के बीच एक तिरछा रंध्र है, जिसे योगियों ने अपनी भाषा में बंका नाला कहा है। इस द्वार से जब अमृत झरने लगता है तब योगी जिह्वा को उलट कर तालु के अग्र भाग में जमाता है, जिससे अमृत के वहिर्गत होने का द्वार बंद हो जाता है और योगी उसे पीता है। इस कुंडलिनी शक्ति को उद्‌बुद्ध करने के लिये उसे प्राणवायु का निरोध करना पड़ता है और विभिन्न आसनों का अभ्यास करना पड़ता है। योगी के अनुसार शरीर का संचालन तीन तत्वों से किया जाता है—शुक्र, वायु और मन से। शुक्र ही वास्तव में मूल है। उसकी गति स्वाभाविक रूप से अधोमुखी है। उसे ऊर्द्ध्वमुखी करके ही अमरत्व प्राप्त हो सकता है। यही शुक्र सूर्य है और कभी कभी इसे ही कालाग्नि भी कहा गया है। यही शक्ति है। हठयोग में इसीलिये संयम

और ब्रह्मचर्य पर बहुत अधिक जोर दिया गया है। कायमार्ग के अनुयायी जो अन्य संप्रदाय हैं, जैसे तंत्रयानी, सहजयानी, कापालिक आदि उससे गोरखनाथ के नाथ संप्रदाय से यही साधना संबंधी भेद है। गोरखनाथ कठोर और दृढ़ साधना में विश्वास करनेवाले थे। वे ज्ञानवाद और पुस्तकज्ञान की निंदा करने में किसी अन्य संप्रदायवालों से पीछे नहीं हैं। जातिवाद, वाह्यपूजा पाषंड सभी का तीव्र विरोध इनकी रचनाओं में मिलता है। किंतु अपनी पूर्ववर्ती साधना पद्धतियों के उस अंश को स्वीकार करना गोरखनाथ ने उचित नहीं समझा जिसमें मदिरा, मिथुन, मांस, मुद्रा और मत्स्य की उपासना अनिवार्य समझी गई। अंतर्साधना की कमजोरी के कारण ही इन पंच मकारों की साधना और उनकी उपयोगिता इनके समर्थकों ने प्रतिपादित की। गोरखनाथ को किसी भी प्रकार की कमजोरी से समझौता नहीं करना था। उन्होंने अपने समय में व्याप्त अनाचार से स्पष्ट देख लिया था कि एक कमजोरी को पूर्ण करने के लिये जब हम दूसरी कमजोरी को प्रश्रय देते हैं, तो इस प्रकार अंतिम पतन का राजमार्ग प्रस्तुत हो जाता है और मनुष्य को उससे बचने का कोई भी अवलंब नहीं रह जाता है। इसी से गोरखनाथ ने बहुत स्पष्ट रूप से मद्य मांसादि की निंदा की है। वे कहते हैं कि 'हे अवधूतो मांस खाने से दया धर्म का नाश होता है, मदिरा पीने से प्राण में नैराश्य छा जाता है, भाँग का प्रयोग करने से ज्ञान, ध्यान खो जाता है और ऐसे प्राणी यम के दरबार में रोते हैं[1]।' आगे वे बतलाते हैं कि जो अफीम खाता है और भाँग का भक्षण करता है उसको बुद्धि कहाँ से आवे। भाँग खाने से पित्त बढ़ता है और वायु उतरती है। इसीलिये गोरख ने भाँग नहीं खाई[2]। बारंबार वे भंग धतूरा खाने के प्रति सचेत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय योगी संन्यासी भी खूब छानने के प्रेमी थे और जो स्थान आज चिलम और गाँजा का है, वही स्थान भाँग और धतूरा तथा मद्य का था। संयम पर गोरखनाथ ने सदैव ही बहुत जोर दिया है। अतिवाद की उन्होंने निंदा की है। अतिवाद से बचते हुए संयम और अनुशासनपूर्वक रहते हुए मध्यम मार्ग के

---

१. अवधू मांस भषंत दया धरम का नास। मद पीवत तहाँ प्राण निरास।
भाँगि भषंत ग्यान ध्यान षोवंत। जम दरबारी ते प्राणी रोवंत॥
पीतांबर दत्त बड़थ्वाल; गोरख बाणी, सबदी, पृ० ५६।

२. आफू षाय भाँगि भसकावै। ता मैं अकलि कहाँ तैं आवै।
चढ़तां पित्त उतरतां बाई। तातैं गोरष भाँगि न षाई॥
पृ० ६१।

अवलंबन की उन्होंने सलाह दी है। उन्होंने बतलाया है कि जो जननेंद्रिय के संबंध में असंयत ढीलेढाले हैं, जिह्वा से फूहड़ बातें करते हैं, गोरखनाथ कहते हैं कि वे प्रत्यक्ष भंगी हैं। लँगोट का पक्का, मुख का सच्चा सत्पुरुष ही उत्तम कहा जा सकता है। गोरख पहले ही से साधकों को सावधान करते हैं कि हमारा पंथ प्रखर है, कठिन है। जिह्वा आदि इंद्रियों को इसमें बाँधना है। इस प्रकार जो योग की साधना करता है उसे मृत्युभय नहीं रह जाता है[1]।

सहजयानी सिद्धों ने जहाँ अपनी मुद्रा की मिलन-अवस्था का अत्यंत उल्लास के साथ वर्णन किया है, वहाँ गोरखनाथ की वाणी चुभते तीखेपन के साथ नारी-रूपी वासना की तीव्र भर्त्सना करती है। साधक की साधना को भ्रष्ट करने के लिये कामवासना से बढ़कर अधिक हानिकर अन्य कोई वस्तु नहीं। नारी को गोरख कहते हैं कि 'वह दिन के समय बाघिनी बनी मन को वश में करती है और रात्रि काल में शुक्र स्खलन के द्वारा अमृत के सरोवर का शोषण करती है। पता नहीं कैसे इन सब बातों को जानते बूझते लोग घर में ऐसी बाघिनियों को पालते पोसते हैं। नारी का संग होने से पुरुष अल्पजीवी हो जाता है। वह नदी के किनारे का वृक्ष हो जाता है। मन में ज्योंही कामभावना पैदा हुई, ऊर्ध्वगामी शुक्र (मेरु से अर्थात् सुषुम्ना के रास्ते ब्रह्मरंध्र जानेवाला) नीचे गिर जाता है। इससे शरीर का नाश हो जाता है। इस बाघिन की आँखें मन का घोर मंथन करनेवाली हैं। यह जब पुरुष के शरीर का अमृत रस सोख लेती है तब पैर डगमगा पड़ता है, पेट शिथिल हो जाता है और शिर के बाल बगुले के पंख के समान सफेद हो जाते हैं'।[2] उसी प्रकार दूसरे स्थल पर कामवासना और संयोग के द्वारा होनेवाले ह्रास

---

१. यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा। गोरख कहै ते पर्तषि चूहड़ा।
काछ का जती मुष का सती। सो सतपुरुष उत्तमो कथी।
गोरखबानी पृ० ५२

गोरख कहै हमारा षरतर पंथ। जिभ्या इंद्री दीजै बंध।
जोग जुगति मैं रहै समाय। ता जोगी कूं काल न षाय॥
गोरखबानी २२०, पृ० ७२

२. दिवसैं बाघणि मन मोहै, राति सरोवरि सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि घरि बाघणी पोषै।
नदी तीरै बिरषा नारी संगै पुरुषा अलप जीवन की आसा।
मनथैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा॥

और पतन को बहुत भयावने रूप से चित्रित करते हैं। भग राक्षसी है राक्षसी। इसने बिना दाँत ही सारे संसार को खा डाला। ज्ञानी लोग तो किसी प्रकार से अपने ज्ञान के कारण बच जाते हैं, किंतु सामान्य मनुष्य का बचना सर्वथा असंभव है। यह बाघिन दिन में तो सोती रहती है किंतु रात में शरीर का शोषण करती है। संभोग के कारण संसार का शरीर प्रतिदिन क्षीण हो जाता है। जिन्होंने गुरु के मुख से आत्मज्ञान नहीं प्राप्त किया, बाघिन उन्हें फाड़ फाड़कर खाया करती है।[1]

गोरखनाथ ने सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों का खंडन उसी उग्रता से किया, जितनी सहजयानी सिद्धों ने। पंडितों के तथाकथित पोथीअर्जित ज्ञान की निस्सारता को गोरखनाथ ने बड़े ही सूक्ष्म रूप से और चुभते ढंग से बतलाया है। कहीं कहीं रूपकों तथा अन्योक्तियों में रहस्यमयता का पुट देकर अपनी उक्ति को उन्होंने और चुभीली बना दिया है। पुस्तक की व्यर्थता को उन्होंने नीचे की उक्ति में बहुत ही मार्मिक ढंग से समझाया है—

> गिगनि मंडलि मैं गाय बियाई कागद दही जमाया।
> छांछि छांणि पिंडता पीवीं सिंधा माषण खाया।

गोरखबानी पृ० ६६

डा० बड़थ्वाल इसकी व्याख्या यों करते हैं 'गगन मंडल में अनुभूति के शिखर पर पहुँचकर सिद्धों ने परमानुभूति प्राप्त की (गाय बियाई)। उसी का सार (दूध) खींच कर उन्होंने उसे उपनिषदादिक ग्रंथों (कागज़) में स्थिर रूप दे दिया (दही जमाया)। पंडितों ने इस दही को छानकर केवल छाछ भर ग्रहण की है (वे शब्दों

गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला, सिर बगुलां की पंषियां।
अमीं महारस बाघणीं सोष्या घोर मथन जैसी अषियां॥
गोरखबानी पृ० १३७-३८

1. भग राकसि लो भग राकसि लो, बिंणा दंतां जग षाया लो।
ग्यांनी हुता सु ग्यांन मुष रहिया, जीव लोक आपैआप गंवाया लो।
दिन दिन बाघिनीं सींया लागी, रात्री सरीरे सोषै।
विषै लुबधी तत न बूझै, घरि ले बाघनीं पोषै।
चांमैं चांम घसंता लोई, दिन दिन छीजै काया।
आपा परचै गुरु मुषि न चिन्हैं, फाड़ि फाड़ि बाघणि षाया।
गोरखबानी पृ० १४३, ४४

में ही फँसे रह गए) किंतु सिद्धों ने छाछ को छोड़कर मक्खन को ग्रहण किया (शब्दों को छोड़कर ज्ञान को ग्रहण किया)।

गोरखनाथ ने पंडित और साधक उसी को माना है जो अपने उपदेश के अनुकूल आचरण करता है। कहने और उपदेश देने में तो सभी बहुत चतुर होते हैं, किंतु तदनुकूल आचरण करना बिरले ही का काम है। बिना करनी के कथनी बिलकुल थोथी है। इसी से वे कहते हैं कि कहना आसान है और करना कठिन। किंतु करनी के बिना केवल कहना बिलकुल निरर्थक है। केवल पढ़ना उसी प्रकार क्षणस्थायी है, जिस प्रकार सुआ को बिल्ली चट कर जाती है। अतः अंत में ऐसे पंडित के हाथ में केवल पुस्तक के पन्ने मात्र रह जाते हैं[1]। इन कथनों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नाथ-संप्रदाय मूलतः आचार प्रधान मार्ग था। शुद्ध आचार और संयम का जीवन तथा योग की साधना ही इस मार्ग का मुख्य लक्ष्य था। किंतु यह आचारवाद अतिवादिता से दूर था। गोरखनाथ भी मध्यम मार्ग के अनुयायी थे। किंतु उनका मध्यम मार्ग सहजयानियों और बौद्ध तांत्रिकों के मध्यम मार्ग से भिन्न था, जिसे वे सहजमार्ग भी कहते थे। इनका मध्यम मार्ग संयम पर आधारित था, जिसमें मन की सहज वृत्तियों को सहज रूप से तृप्त करने का विधान नहीं था। मध्यममार्ग से गोरखनाथ का तात्पर्य था, निम्नतम आवश्यकताएँ जो जीवन धारण के लिये अनिवार्य हों[2]। अनावश्यक भोजनादि से शरीर में पृथुलता आती है। यह मुटापा आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के जीवन के लिये दुःखदायी होता है—

> बड़े बड़े कूले मोटे मोटे पेट। नहीं रे पूता गुरु सों भेट।
> बड़ बड़ काया निरमल नेत। भई रे पूता गुरु सों भेंट॥
>
> —गोरखबानी पृ० ३८

---

१. कहणि सुहेली रहणि दुहेली, कहणि रहणि बिन थोथी।
पढ़्या गुंण्या सूवा बिलाई पाया पंडित के साथ रह गई पोथी॥
गोरखबानी, पृ० ४२

२. षांयें भीं मरिये अणषांयें भी मारिये। गोरष कहै पूता संजमि हीं तरिये।
मधि निरंतर कीजै बास। निहचल मनुवा थिर होइ सास॥
गोरखबानी पृ० ५१

जिस प्रकार आजकल मोटी तोंद को शोषण आदि से संबद्ध किया जाता है उसी प्रकार गोरखनाथ के समय में भी, बड़े बड़े कूल्हे और मोटी तोंदवालों को विलासी, भोगी जीवन का चिह्न माना जाता था। अतः वे सादे भोजन और सादी रहन सहन को ही योग साधना के अनुकूल समझते थे। यह भी एक प्रकार से उनके निःस्व और अपरिग्रह के सिद्धांत के सर्वथा अनुकूल था। वे कहते हैं कि नमकीन भोजन करने से शुक्र नष्ट होता है और खट्टा खाने से झड़ता है। मीठा भोजन करने से रोग उत्पन्न होता है, इसलिये गोरख कहते हैं कि हे अवधूत, केवल जल और अन्न ग्रहण ही सच्चा योग है। वे न केवल स्वादयुक्त पदार्थों के सेवन से ही विरत करते हैं, वरन् अधिक भोजन करने को भी वे बुरा बतलाते हैं, क्योंकि ऐसा करने से योग नष्ट हो जाता है और बला हो जाता है। संयम रख कर वायु को धारण करना चाहिये। ऐसा करने पर ही परिवर्तनहीन, पुरुषरूप ब्रह्म की उपलब्धि हो सकती है[1]।

नाथ संप्रदाय में इसी प्रकार अन्य बाह्य कर्मकांडों का खंडन किया गया है और उनकी व्यर्थता को गोरखनाथ ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। उनकी यह सबदी तो जनता में इतने व्यापक रूप से प्रचलित हो गई है कि विश्वास नहीं होता। इसे गोरखनाथ ने कहा होगा—

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा। बांध्या मेल्हा तौ जगत्र चेला।

लेकिन गोरखनाथ की स्वयं की रचनाओं में खंडनात्मक प्रवृत्ति उतनी उग्र और व्यंग्यपूर्ण नहीं है, जितनी पूर्ववर्ती सिद्ध कवियों की रचनाओं में अथवा परवर्ती संत मत के कबीर की रचना में। संभवतः एक कारण इसका तो यह हो सकता है कि गोरखनाथ ने योग संप्रदाय की शास्त्रीय पद्धति को बहुत अंश में स्वीकार किया था। अतः वैदिक धर्म की एक परंपरा को उन्होंने न्यूनाधिक अंश में स्वीकार कर लिया था। योगशास्त्र बहुत अंश में वैदिक परंपरा में तो पूर्णरूप से नहीं रखा जा सकता, किंतु उसमें बहुत कुछ विदेशी तत्व रहते हुए भी वह आर्य परंपरा में गृहीत हो चुका था। अतः गोरखनाथ पर उसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। नाथ संप्रदाय की साधना बहुत कुछ वैयक्तिक थी। इसमें समाजगत पक्ष की उतनी पुष्टि नहीं हो पाई थी, जितनी सहजिया सिद्धों की रचनाओं में। गोरखनाथ साधना की सिद्धि के लिये एकांतवास अपेक्षित समझते थे। इसलिये सिद्धों को साधना के लिये समूह से दूर रहने का

---

१. भरि भरि षाइ ढरि ढरि जाइ। जोग नहीं पूता बड़ी बलाइ।
संजम होइ बाइ संग्रहौ। इस विधि अकल पुरिस कौं गहौ॥
गोरखबानी, पृ० ५०।

उपदेश दिया है। वे कहते हैं कि एकाकी रहनेवाला सिद्ध है। दो के होने पर वे साधु हो गए। जब यह संख्या चार, पाँच की हो गई तो कुटुंब बन गया और दस-बीस होने पर वह सेना कहलायगी[1]। अकेले और समूह में रहने की अवस्था का विश्लेषण भी उन्होंने किया है। क्या लाभ और क्या हानि हो सकती है। अकेला साधक वीर है। दो धीर हैं। तीन होने पर खटपट शुरू होती है और चौथे का संग मिलने पर उपद्रव होने लगता है। दस पाँच जहाँ इकट्ठे हुए तो पूरा कलह का दृश्य उपस्थित हो जाता है[2]।

नाथ संप्रदाय के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि इसकी पूर्व परंपरा में चाहे जिन तत्वों और साधनाओं का समावेश हुआ हो, किंतु गोरखनाथ के व्यक्तित्व की इस पर इतनी व्यापक छाप पड़ी कि पूर्व परंपराएँ बहुत कुछ लुप्त हो गईं। गोरखनाथ की वाणी और उक्तियों में सामाजिक पक्ष अधिक प्रबल दिखलाई पड़ता है। व्यक्ति के मुक्त आचरण की जो छूट वाममार्गीय अन्य परंपराओं में हमें देखने को मिलती है, उसका नितांत अभाव नाथ संप्रदाय में है। वास्तव में व्यक्ति-जीवन में संयम, त्याग और नियंत्रण प्रायः समष्टि जीवन के व्यापक हित ही के लिये होता है। नाथ संप्रदाय में कामवासना की निंदा और ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य सा कहा गया है। सभी प्रकार के मादक द्रव्यों का सेवन निषिद्ध माना गया है। कथनी और करनी में एकरूपता अत्यंत उपादेय समझी गई है। इस प्रकार नाथ संप्रदाय में हठयोग की दुरूह और कठिन साधना जहाँ साधकों को विचलित करनेवाली थी, वहीं इसका नैतिक और सामाजिक पक्ष विवेकशील व्यक्तियों के लिये अधिक ग्राह्य था। आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों ने नाथ-संप्रदाय के इस सामाजिक पक्ष को अपनाया। नैतिक तथा चरित्रगत आदर्शों को उन्होंने और अधिक स्पष्ट, व्यापक और तार्किक रूप देकर अपनी रचनाओं में व्यक्त किया। उन्होंने साधनापक्ष की कष्टसाध्य और दुरूह प्रक्रिया को अवश्य नहीं स्वीकार किया।

---

१. एकाएकी सिध नाउँ, दोइ रमति ते साधवा।
चारि पंच कुटुंब नाउँ, दस बीस ते लसकरा॥
गोरखबानी, सबदी १७६, पृ० ६१।

२. एकलौ बीर, दूसरौ धीर, तीसरौ षटपट चौथौ उपाध।
दस पंच तहाँ वाद विवाद॥
गोरखबानी सबदी १७८, पृ० ६०।

मध्ययुग के पूर्व काल में जो कायसाधना के अंतर्गत कई मतवाद प्रचलित थे उनमें रसेश्वर संप्रदाय भी एक था। नाथ संप्रदायके योगियोंकी उक्ति और संभवतः साधना पद्धति पर भी इसका कुछ न कुछ प्रभाव

रसेश्वर संप्रदाय

अवश्य था। उस काल में अनेक प्रकार की साधनाएँ भीतर की ही शक्तियों और साधनाओं को उद्‌बुद्ध कर अमरत्व प्राप्ति की चेष्टा में रत थीं। रसेश्वर संप्रदाय का लक्ष्य रस की सिद्धि द्वारा शरीर को तेजमय और नवजीवन से दीप्त करना था। कायाकल्प की प्रक्रिया भी रसेश्वर मार्ग के अनुयायी करते थे। पं० बलदेव उपाध्याय ने इसे माहेश्वर मत के अंतर्गत माना है।[1] 'इस दर्शन का सिद्धांत यह है कि ज्ञान प्राप्ति के उपयुक्त दिव्य देह का संपादन करना न्याय्य है।[2]' इस दिव्य देह की प्राप्ति का अर्थ होता है, अमरत्व या दीर्घजीवन। रसेंद्राचार्य नागार्जुन रसायनशास्त्र के आचार्य माने जाते हैं।[3] इनके संबंध में इतनी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं कि लोग इनका जीवन करीब करीब ६०० वर्ष मानते हैं।[4] किंतु संभावना यह अधिक है कि कई नागार्जुन हुए हैं। कम से कम तीन नागार्जुन अवश्य हुए हैं जिनमें एक वे थे जो रसायनवादी कहे जाते हैं। इस रसायनवाद का प्रचार संभवतः पाँचवीं से आठवीं शताब्दी तक बहुत अधिक रहा। इसके अंतर्गत देह की दिव्यता और सुवर्ण बनाने की क्रिया—दोनों ही संमिलित थीं। कहा जाता है कि एक राजा (जिसका नाम ह्वेनसांग ने थिन च्गि दिया है और जो संभवतः शातवाहन है) ने नागार्जुन के लिये चट्टानों को काट कर एक गुफा-विहार बनाया था, जिसमें कई मंदिर और बुद्ध की कई बड़ी बड़ी सुवर्ण मूर्तियाँ थीं तथा जिसमें आने जाने के लिये दो मील लंबा रास्ता भी बनाया गया था। इसके बनाने में जब अर्थाभाव हो गया तो नागार्जुन ने चट्टानों को सोने में बदल दिया था।[5] रसायन या कीमिया में प्रयुक्त यह पद्धति जो नश्वर और जर्जर शरीर को नवजीवन और नव्यतर बल प्रदान करती थी और लोहा अथवा ऐसे ही मूल्यहीन पदार्थ को सुवर्ण में परिवर्तित कर देती थी, आयुर्वेद शास्त्र में भी गृहीत हुई। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सुप्रसिद्ध विद्वान और चिकित्सक

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ५६२।

२. वही, पृ० ५६२।

३. डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल : योग प्रवाह, पृ० १७४।

४. वही, पृ० १७३।

५. डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल : योग प्रवाह, पृ० १७७।

महामहोपाध्याय गणनाथ सेन के एतत्संबंधी मत को इस प्रसंग में उद्धृत किया है—'आयुर्वेद के रसायन तंत्र के आविष्कारक हैं रस वैद्य या सिद्ध संप्रदाय। ये लोग (इन लोगों ने) कई सौ वर्ष पहले पारदादि धातुघटित चिकित्सा का विशेष प्रवर्तन किया था। आर्य काल में लोहा और शिलाजीत प्रभृति धातुओं का थोड़ा बहुत व्यवहार था जरूर, परंतु पारदादि का आभ्यंतर प्रयोग प्रायः नहीं था। रस वैद्य संप्रदाय ने पहले पहल पारद के सर्वरोग निवारक गुण का आविष्कार किया। इस संप्रदाय का गौरव एक दिन इतना ऊँचे उठा कि मात्र पारद से चतुर्वर्ग फल लाभ होता है, इस प्रकार का एक दार्शनिक मत उद्भूत हुआ था जो 'रसेश्वर दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है।...कहा जाता है कि इस रस संप्रदाय का मत आदिनाथ महादेव का उपदिष्ट है और आदिनाथ, चंद्रसेन, नित्यानंद, गोरक्षनाथ, कपालि, भालुकि, मांडव्य आदि योगियों ने योगबल से इसकी स्थापना की थी।[1] इससे यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि रसायनशास्त्र आरंभ में शरीर को नवजीवन प्रदान करने के लिये विकसित हुआ। इसके लिये पारा का रस सिद्ध किया गया। आयुर्वेद और सिद्ध संप्रदाय में संभवतः इसका विशेष उपयोग और प्रचार हुआ। यह केवल शारीरिक और भौतिक उन्नयन के लिये प्रयुक्त होता था। सिद्ध संप्रदाय भी तो अनीश्वरवादी मार्ग था और शरीर में ही महासुख तत्व की खोज करता था किंतु बाद में चल कर हिंदू तंत्र और साधना संप्रदाय में इसे ग्रहण किया गया जैसा कि बौद्ध और हिंदू तंत्र और साधना के सभी पक्षों में आपसी विनिमय हुआ है। शैव संप्रदाय में इसी रसायनवाद को लेकर एक अलग रसेश्वर संप्रदाय और दर्शन की कल्पना की गई।

सर्वदर्शन संग्रह में मध्वाचार्य ने बताया है कि माहेश्वर मत के अनुयायी परमेश्वर के साथ तादात्म्य की स्थिति मानते हुए भी शरीर की स्थिरता को जीवमुक्ति का साधन समझते हैं। शरीर की इस स्थिरता के लिये पारद रस का सेवन ही उनकी दृष्टि से एक मात्र उपाय है। इसका नाम पारद इसीलिए पड़ा ही है कि यह संसार को पार कराने में समर्थ है[2]। यह पारद 'रस' भी कहा जाता है, क्योंकि स्वयं शिव ने पार्वती से कहा है कि यह मेरी देह का रस (वीर्य) होने से रस कहा

१. आयुर्वेद परिचय (विश्व विद्या संग्रह, शांति निकेतन), नाथ संप्रदाय, पृ० १७४।

२. 'संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः'
रसेश्वर दर्शन, सर्वदर्शन संग्रह पृ० १७८

जाता है (मम देह रसो यस्माद्रसस्तेनायमुच्यते) अभ्रक को पार्वती का रज रसेश्वर संप्रदाय में माना जाता है। इस प्रकार पारद और अभ्रक के मिलन से मृत्यु और दारिद्रय दोनों का नाश होता है[1]। सर्वदर्शन संग्रह के अनुसार कर्मयोग से शरीर की स्थिरता होती है। कर्मयोग दो प्रकार का होता है—रसयुक्त और पवनयुक्त। रस और वायु दोनों ही मूर्छित होने पर सब प्रकार की व्याधियों को दूर करते हैं और मृत होने पर स्वयं जिलाते हैं। बद्ध होने पर ये गगनचारी बनाते हैं[2]। रसेश्वर संप्रदाय की उपयोगिता और औचित्य बताते हुए कहा गया है कि जिसका शरीर रोग ग्रस्त है जो हतबुद्धि और इंद्रियों से कुंठित हैं, जो बालक या सोलह वर्ष का युवा अथवा विषय भोग में लंपट है या विवेकहीन वृद्ध व्यक्ति है उसको किस प्रकार मुक्ति मिल सकती है ? अतः मुक्ति प्राप्त करने के लिए दिव्य देह का होना आवश्यक है। शरीर को अजर और अमर बनानेवाला केवल रस है। इस रस के स्पर्श, दर्शन, भक्षण, स्मरण, पूजन और दान से षड्विध फल प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि रस ही ईश्वर है। रस प्राप्ति होने से पुरुष आनंदित होता है। (रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति)। रसेश्वर संप्रदाय का सीधा उल्लेख तो नाथ, अथवा संत संप्रदाय में शायद ही कहीं हुआ हो, किंतु इस विचारधारा का मूल उत्स वहीं है, जहाँ से सभी प्रकार की शरीर साधनाएँ विकसित हुई हैं। ऐसे सभी धर्म, दर्शन अथवा संप्रदाय जो कल्पना और अनुमान द्वारा मोक्ष सार्थकता की तलाश करते थे, के विरुद्ध नई, प्रत्यक्ष और यथार्थ भूमि पर जीवन की सार्थकता को स्थापित करनेवाली धारा से यह संबद्ध है। शरीर को पुष्ट, बलशाली और समर्थ बनाओ, इसकी अमरता और क्षमता के ही द्वारा जीवन की सिद्धि संभव है—ऐसा यथार्थवादी दर्शन प्रायः धर्म और संप्रदाय के प्रवर्तकों और प्रचारकों ने नहीं माना है। रसेश्वर संप्रदाय इसी यथार्थ और सचाई को को संमुख रखकर मुक्ति की खोज करने का मार्ग बतलाता है।

———

१. 'अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्यु दारिद्र्यनाशनम् ॥
रसेश्वर दर्शन, सर्वदर्शन संग्रह पृ० १७९

२. मूर्च्छितो हरति व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसो वायुश्च भैरवि ॥
रसेश्वर दर्शन, सर्वदर्शन संग्रह पृ० १८०

चतुर्थ अध्याय

निर्गुणमत : विविध संप्रदाय (२)

कबीर मत

सिक्ख पंथ

परब्रह्म पंथ (दादूदयाल)

सूफी संप्रदाय

४

निर्गुणमत : विविध संप्रदाय (२)

भारतीय चिंता और साधना के क्षेत्र में कबीर का स्थान अद्वितीय है। मध्यकालीन साधना और चिंतना का मुख्य प्रवेशद्वार कबीर का व्यक्तित्व और उनकी वाणी है; जिसे हम मध्यकालीन साधना के नाम से अभिहित करते हैं उस साधना का आरंभ और आधुनिक हिंदी का शैशव युगपत चलता है। कबीर जैसे निर्भीक और अपूर्व साधक की वाणी का बरदान पाकर ही शैशव की तुतलाहट में हिंदी में जो निखार, ओज, आत्मविश्वास और गहन आत्मतल्लीनता देखने को मिलती है, वह आज तक, काल की लंबी अवधि के अजस्र, प्रवाह के पारावार से क्षीण न होकर अधिक उज्ज्वल और ऊर्जस्वित हुई है। कबीर की चर्चा करते हुए नाभादास जैसे वैष्णव भक्त ने इनकी निर्भीकता और खरेपन और सचाई का विशेष रूप से स्मरण किया है—

कबीर मत

भक्ति विमुख जो धर्म सु सब अधरम करि गायो।
योग यज्ञ व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिंदु तुरक प्रमाण रमैनी सबदी साखी।
पक्षपात नहिं बचन सबन के हित की भाखी।
आरूढ़ दशा ह्वै जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दर्शनी।[1]

मध्यकाल के इन संतों की इसी महिमा का परिणाम था कि उनकी वाणी में हिंदू और मुसलमान दोनों की ही अंध रूढ़ियों, बाह्याचारों और गतानुगतिकता के प्रति आक्रोश और कठोर विरोध रहते हुए भी, दोनों ने ही अंत में उन्हें अपनाया।

---

१. श्री भक्तमाल, बंबई भूषण प्रेस, पृ० ७२

हिंदू समाज जिस वर्णाश्रम धर्म और षट्दर्शन पर आधारित था, उस पर कबीर ने सीधा आक्रमण किया। योग, यज्ञ, व्रत, दान आदि की व्यर्थता को इतनी स्पष्ट और निर्भीक भाषा में इनके पहले और संभवतः बाद में भी किसी ने नहीं व्यक्त किया था किंतु इनके वचनों में अनुभूत सत्य की वह प्रखरता थी कि विरोध से बिंधे हृदयवाले हिंदू और मुसलमान इस 'मुँहदेखी' नहीं कहनेवाले संत के चतुर्दिक श्रद्धा और प्रेम से एकत्र हुए और 'कागद और मसि' से स्पर्शहीन सर्वथा अनपढ़ की अटपटी बानी पर मुग्ध होकर उसे अपना गुरु और पथप्रदर्शक उन्होंने स्वीकार किया। यह सत्य है कि ज्ञानाभिमानी पंडित इनकी ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए होंगे। ज्ञानगर्व में मत्त रहनेवाले इन पंडितों को कबीर की वाणी में सत्य का दर्शन न हुआ क्योंकि उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपना कान और आँख मूँद रखी थी किंतु सर्वसाधारण ने कबीर की वाणी और उनके उपदेशों को पूरी तृप्ति से सुना और उसे स्वीकार किया। समाज के तथाकथित उच्च वर्ग के लोग भी उनकी ओर झुके। जात्यपमान सहकर भी उन्होंने कबीर का अनुसरण किया और अपनी आत्मा की जिज्ञासा को शांत किया। कबीरदास के संबंध में बहुत सी कहानियाँ प्रचलित हैं जिनमें ब्राह्मणों और मुसलमान फकीरों का उनसे प्रभावित होना बतलाया गया है। तत्त्व और जीव नाम के दो ब्राह्मण बंधुओं की कहानी मिलती है जो कबीर के चरण धुले हुए पानी के स्पर्श से बरगद का सूखा तना पुनः पल्लवित होते देख उनके शिष्य हो गए थे। ब्राह्मणों ने इस शिष्यत्व का घोर विरोध किया और उन्हें जातिबहिष्कृत कर दिया। किंतु अंत में कबीर के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर सबों ने उन दोनों भाइयों को जाति में स्वीकार किया और कबीर के अनुयायी बने। उसी प्रकार जहानगश्त नाम के एक मुसलमान फकीर का उल्लेख 'निर्भय ज्ञान' में आता है। यह विदेश से भारत आया था और कबीर की ख्याति सुनकर उनसे मिला। कबीर पहले ही उसके आगमन को जान गए और धरमदास से उन्होंने कहा कि यह यद्यपि सच्चा संत है किंतु इसमें अब भी हिंदू मुसलमान के प्रति पार्थक्य की भावना है। इसकी इस कमी को पूर्ण करना है। अतः कबीर ने अपने शिष्यों को एक सूअर लाकर दरवाजे पर बाँधने का आदेश दिया। जब जहानगश्त आए और दरवाजे पर सूअर बँधा देखा तो बहुत क्षुब्ध हुए और कबीर से पूछा कि आपने क्यों यह नापाक चीज यहाँ रख छोड़ी है। कबीर ने उत्तर दिया कि मैंने तो उसे केवल घर के बाहर रखा है और तुम उसे अपने हृदय में रखते हो। मनुष्य कृत मत और विचार ही प्रकृति की वस्तुओं को पवित्र और अपवित्र घोषित करते हैं। ईश्वर द्वारा निर्मित जीवों

में कुछ भी अपवित्र नहीं। इसके पश्चात् कहा जाता है उन्होंने निम्नांकित शब्द गाया[1]—

(भाई रे) दुई जगदीस कहाँ ते आया, कहु कौने भरमाया।
अल्लह-राम-करीमा-कैसो (ही) हजरत नाम धराया।
गहना एक कनक ते गढ़ना, इनि महं भाव न दूजा।
कहन-सुनन को दुर करि थापे, इक निमाज इक पूजा।
वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।
को हिंदू को तुरुक कहावै, एक जिमी पर रहिये।
बेद-कितेब पढ़े वे कुतबा वे मौलाना वे पांडे।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटिया के भांडे।
कहहिं कबीर वे दुनों भूले, रामहिं किनहुँ न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावैं, बादहिं जन्म गँवाया[2]॥

इस तरह की कहानियों में वस्तुतः सत्य है या नहीं, कहना कठिन है। किंतु इतना तो निश्चित है कि इस कहानी और इसी की तरह अनेक दूसरी कहानियों से यह प्रतीत होता है कि हिंदू मुसलमान सभी संप्रदायों का जनसमुदाय अपने दूसरे भेदभाव भूलकर कबीर के उपदेशों को आदर और श्रद्धा से ग्रहण कर रहा था। कबीरदासजी के व्यक्तित्व का बहुत ही सटीक और सफल चित्रण आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में किया है। कबीर के जीवनकाल में किस प्रकार की परिस्थितियाँ थीं, उत्तराधिकार में उन्हें क्या मिला था और अतीत तथा अद्यतन को संजोकर उन्होंने भविष्य के लिये किस प्रकार का विलक्षण रसायन प्रस्तुत किया यह द्विवेदीजी की शक्तिशाली भाषा और अपूर्व शैली में देखने योग्य है। कबीरदास का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिये बंद थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, वे हिंदू होकर भी हिंदू नहीं थे, वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गए थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असंभव समझी जानेवाली परिस्थितियों के मिलनबिंदु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपु ने वर माँग लिया था कि उसको मार सकनेवाला न मनुष्य हो न पशु, मारे जाने का समय न दिन हो न रात, मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न

१. रेवरेंड अहमदशाह : दी बीजक आफ कबीर, पृ० २२।
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ३२६

आकाश, मार सकनेवाला हथियार न धातु का हो न पाषाण का इत्यादि......। नृसिंह ने इसीलिये नाना कोटियों के मिलनबिंदु को चुना था। असंभव व्यापार के लिये शायद ऐसी ही परस्परविरोधी कोटियों का मिलनबिंदु भगवान को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलनबिंदु पर खड़े थे। जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमान, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण भावना—उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के दोष गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया[1]। कबीरदास का जहाँ यह सौभाग्य था कि इतनी विचारधाराओं के मिलन-बिंदु पर उन्हें खड़े होने का सौभाग्य और अवसर मिला था, वहाँ पर कबीर से न्यून प्रतिभा और साहसवाले व्यक्ति का यही दुर्भाग्य भी होता। इतने अधिक मार्गों के जाल और जंजाल के बीच, सबको काटकर, उनके बाहर एक नया मार्ग निकालना उन्हीं जैसे अपूर्व साहसी और गहरी अंतर्दृष्टिवाले व्यक्ति का काम था। सभी प्रचलित मान्यताओं और विश्वासों को चुनौती देते हुए केवल अपने अनुभूत सत्य को ही अपना मार्ग मानकर चलना उनके उत्कृष्ट आत्मविश्वास और सत्य की प्रखर और उद्दाम ज्योति के द्वारा ही संभव था। यदि यह न होता तो वे भी गतानुगतिक बन कर किसी एक लीक पर चल पड़ते और साहित्य और चिंता की धारा को वह अप्रतिभ खरा सत्य शायद न मिला होता।

कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व पर सामाजिक शक्तियों का प्रभाव

कबीरदास हिंदी संतकाव्यपरंपरा के सर्वप्रथम प्रचारक, गायक और एक प्रकार से प्रवर्तक थे। कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी[2]। उनकी रचनाओं के स्वरूप और विशेषता को यह कथन बड़े सुंदर ढंग से अभिव्यक्त करता है। वास्तव में कबीर की साधना जीवन की जिस गहराई से अंकुरित हुई थी उसमें योग, भक्ति, प्रेम, चिंतन और ज्ञान सभी कुछ का सारतत्व था जिसमें पल्लवित और पुष्पित होने पर एक विशिष्ट और अप्रतिभ रूप की सृष्टि

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १८२।

२. वही पृ० ६, १५३।

हुई। उससे कुछ ऐसी सुवास और स्वाद की उद्भूति हुई कि उसमें सब प्रकार के तत्व होते हुए भी उसे किसी भी एक को मानने की हिम्मत नहीं होती। योग, भक्ति, प्रेम और ज्ञान संभवतः इन चार उपकरणों को लेकर उनकी वाणी और अनुभूति साकार हुई थी। कबीरदास का योग, द्विवेदी जी की विद्वत्तापूर्ण खोज के अनुसार, उन्हें अपनी जाति के पुराने, कई पीढ़ियों के उत्तराधिकार के रूप में मिला था। द्विवेदी जी ने प्राचीन और मध्यकालीन सामाजिक गठन और जातियों के रूप और धर्म की बड़ी सूक्ष्म विवेचना की है। संभवतः हिंदी में प्राचीन कवियों के संबंध में उनके जीवनदर्शन और काव्यात्मक अनुभूति की वैज्ञानिक समीक्षा को समाजशास्त्रीय अनुबंध में देखने और उपस्थित करने का कार्य उन्होंने ही किया है। उन्होंने अनेक प्रमाणों को उद्धृत करने के बाद कबीर की जाति के संबंध में यह निष्कर्ष स्थिर किया है—'जो हो, इस विषय में कोई संदेह नहीं कि उन दिनों नाथ मतावलंबी गृहस्थ योगियों की एक बहुत बड़ी जाति थी जो न हिंदू थी और न मुसलमान। बंगाल की युगी जाति इसी संप्रदायमूलक जाति का भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचने को प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा वेश में पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों का मुसलमानी रूप था[1]।' यह सिद्ध होने पर कि कबीरदास जी एक ऐसी वयनजीवी जाति के थे जो हिंदू धर्म के अंतर्गत रहते हुए भी उससे भिन्न और उपेक्षित थी और जो बाद में सामूहिक रूप में मुसलमान संप्रदाय में कुछ विशेष सुविधा और उच्च पद की आशा में संमिलित हो गई, यह देखना है कि कबीर के विचार और व्यक्तित्व को यह जातिगत संस्कार किस रूप में प्रभावित कर सका था। यह स्पष्ट है कि यह जाति यद्यपि कबीर के जन्म और प्रौढ़ होने के उपरांत दो एक पीढ़ियों से मुसलमान हो चुकी थी किंतु इसमें नाथसंप्रदाय और हिंदू धर्म के बहुत से प्रभाव बचे हुए थे। द्विवेदी जी ने उन प्रभावों का समाहार निम्नलिखित रूप में किया है—

(१) आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थीं।

(२) जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट परिवारियों की एक जाति सारे उत्तर और पूर्व भारत में फैली थी। वे नाथपंथी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख मांग कर जीविका चलाते थे।

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ६।

(३) इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी, जातिभेद और ब्राह्मणश्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतार में ही इनकी कोई आस्था थी।

(४) आसपास के बृहत्तर हिंदू समाज की दृष्टि में ये नीच और अस्पृश्य थे।

(५) मुसलमानों के आने के बाद ये धीरे धीरे मुसलमान होते रहे।

(६) पंजाब, संयुक्त प्रदेश, बिहार और बंगाल में इनकी कई बस्तियों ने सामूहिक रूप से मुसलमानी धर्म ग्रहण किया।

(७) कबीरदास इन्हीं नवधर्मांतरित लोगों में पालित हुए थे[1]।

उपर्युक्त निष्कर्षों में हमारे लिये उपयोगी तीसरा निष्कर्ष है जिसका संबंध कबीर की उपासना और धार्मिक मान्यता से है। कबीरदास की निर्गुण उपासना, जातिवाद, अवतारवाद और वाह्याचार का खंडन उन्हें यहीं से प्राप्त हुआ था, यह अनुमान करना बिल्कुल तर्कसंगत है। यह जाति गोरखनाथ की अनुयायी थी। अतः योग की क्रियाओं में भी इसमें कुछ साधक निष्णात रहे होंगे और उन्हीं के माध्यम से कबीर ने योग का व्यावहारिक ज्ञान और साधना की प्रक्रिया भी सीखी होगी। ब्रिग्स ने भी योगियों और नाथमतावलंबियों के मिश्रण का उल्लेख किया है जहाँ पर योग की परंपरा प्रचलित थी[2]। कबीरदास का संबंध इन जोगियों से नहीं वरन् इनमें नाथ परंपरा के अनुयायी वर्ग से ही रहा होगा क्योंकि जोगियों में अनेक प्रकार के वाह्याचार जैसे कान फाड़ना, त्रिपुंड लगाना आदि भी प्रचलित हो गए थे। कबीर ने इसका उल्लेख नहीं किया है। अतः या तो ये चिह्न कालांतर के हों अथवा इसके धारण करनेवालों से उनका संपर्क न रहा हो। कबीर ने योग का जो ज्ञान प्राप्त किया था, उसमें उन्होंने

योग मार्ग में कबीर की आस्था

1. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० १४।
2. ए नंबर आव् कास्ट्स ट्रेस देयर ओरिजिन टु योगीज। द नाथाज इन हायर हिल्स, ह्वेयर द वर्शिप आव् शिव इज प्रिवलेंट, करेस्पांड वेरी क्लोजली टु द योगीज आव् द प्लेन्स। इन द पंजाब, सेकुलर योगीज आर काल्ड रावल। द योगीज आव् सेंट्रल प्राविंसेज रैंक ऐज हिंदूज आव् मीनियल ग्रुप फ्राम हूम नो गुड हिंदू उड टेक फूड आर वाटर।

   ब्रिग्स : गोरखनाथ एंड कनफटा योगीज।

निस्संदेह काफी गति प्राप्त कर ली थी और साधना के उच्च शिखर पर पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने योग संबंधी अपनी अनुभूतियों और साधनाओं का वर्णन जिस असंदिग्ध रूप में किया है उससे दूसरा निष्कर्ष संभव नहीं है। कबीर की रचनाओं में प्रारंभ में योग की विभिन्न पद्धतियों, साधनाओं और उपलब्धियों का वर्णन जिस हर्ष और उल्लास के साथ किया गया है, वह बाद में लुप्त सा होता गया है। ऐसा प्रतीत होता है, योग की इन उपलब्धियों पर कबीर की आस्था उठ सी गई। कम से कम केवल शारीरिक क्रियाओं के द्वारा सहज आनंद और निर्विकल्प चैतन्य तथा योग संप्रदाय का बहुप्रचारित अमरत्व कबीर को संभव और साध्य नहीं प्रतीत हुआ होगा। कबीर आत्मविश्वास के साथ, दुनिया को संबोधित करते हुए अपने योग द्वारा उपलब्ध उस चरम आनंद का उल्लेख करते हैं—

बोलौ भाई राम की दुहाई।
हरि रसि सिव सनकादिक माते, पीवत अजहुँ न अघाई। टेक।
इला प्यंगुला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगिनि परजारी।
ससि हर सूर द्वार दस मूँदे, लागी जोग जुग तारी॥
मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछु न सुहाई।
उलटी गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई॥
पंज जने सो संग करि लीन्हे चलत खुमारी लागी।
प्रेम पियाला पीवन लागे, सोवत नागिन जागी॥
सहज सुंन मैं जिमि रस चाख्या, सतगुरु थें सुधि पाई।
दास कबीर इहि रस माता, कबहूँ उछकि न जाई[1]॥

इस प्रकार सहज शून्य में अवस्थित होकर कबीर जिस महारस का पान करते हुए अपूर्व उल्लास का अनुभव कर रहे हैं उसे उन्होंने यहाँ बताया है और लोगों को भी शपथ देकर इसका साक्ष्य देने का अनुरोध किया। इसीलिये 'अवधू' को सलाह देते हैं कि गगन अर्थात् शून्य मंडल में अपना निवास बनाओ और निःशंक होकर उस अनाहद का श्रवण करते हुए बंकनाल से निर्झरित होनेवाले रस का पान करो—

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै।

1. श्यामसुंदरदास : कबीर ग्रंथावली, पृ० १११

मूल बाँधि सर गगन संमाना, सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता, तहाँ जोगणी जागी।
मनवा जाइ दरीवै बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं, सबद अनाहद बागा[1] ॥

कबीर बारबार कहते हैं कि उन्होंने स्वयं उस रस का पान किया है। ऐसा नहीं है कि वे केवल सुनकर इसका कथन करते हैं[2]—

अमृत बरसै हीरा निपजै, घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहा भया पारषी, अनभै उतरा पार ॥

योग की इस अवस्था पर पहुँच और इस आनंद का अनुभव करके भी कबीरदास इसे अंतिम लक्ष्य के रूप में नहीं स्वीकार कर सके। शरीर की यह क्रिया उन्हें यंत्रवत् लगी। जब तक योग की क्रिया हुई, आनंद मिला। बंद हो गई तो फिर पूर्ववत् सांसारिक स्थिति। यह आनंद मन में कुछ इस रीति से अंतरंग में भीना नहीं कि उसे आविल करे, आर्द्र करे। कबीरदास ने अनुभव किया कि योग की क्रिया एक सीढ़ी है—एक पड़ाव मात्र है—जीव और ब्रह्म के मिलन की उस चरम और शाश्वत अवस्था का जहाँ पर चित्त सर्वथा निश्चल होकर ब्रह्म के साथ अद्वैत हो जाता है—

सुरति समांणी निरति मैं, अजपा माहैं जाप।
लेख समांणा अलेख मैं, यूँ आपा माहैं आप ॥

कबीर ग्रंथावली, पृ० १४।

इस अवस्था का जब कबीर को अनुभव हो गया तो उन्हें योग की ये क्रियाएँ अवास्तविक सी प्रतीत हुई और अवधूतों को पुकार और चुनौती दे देकर उन्होंने भाव का योग साधने का उपदेश किया। यह प्रेम और भक्तिमूला भावयोग कहा जा सकता है। वास्तव में जीवन की सबसे बड़ी, स्वाभाविक और स्थायी उपलब्धि यह भाव की एकात्मकता है जिसमें व्यष्टि और समष्टि का भेद मिट जाता है और साधक केवल योग की अवस्था में ही नहीं वरन् प्रति क्षण और प्रति स्थल उस परम प्रिय का दर्शन करता है—

संतो, सहज समाधि भली।
साईं ते मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अंत चली।

---

१. श्यामसुंदरदास : कबीर ग्रंथावली, पृ० ११०।

२. श्यामसुंदरदास : कबीर ग्रंथावली, पृ० १६।

आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुंदर रूप निहारूँ।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा।
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दंडवत, पूजूँ और न देवा।
शब्द निरंतर मनुँआ राता, मलिन बचन का त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरे, ऐसी तारी लागी।
कहैं कबीर यह उन्मुनि रहनी, सोई परगट करि गाई।
सुख दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई।[1]

इस अवस्था में पहुँचकर कबीर को योग की शारीरिक क्रियाएँ भी व्यर्थ प्रतीत हुईं। उन्हें सहज समाधि की अवस्था ही साधना की अंतिम परिणति प्रतीत हुई जिसमें कभी सुरति का अंत नहीं होता और जिसमें प्रतिक्षण, उठते बैठते उसका विस्मरण नहीं होता। इस प्रकार कबीर का योग सामान्य योग नहीं था, ऐसा योग था जिसमें सभी बाह्य उपचारों का परिहार करके केवल अंतर्मन की साधना को ही साध्य माना गया था। योग साधना की चरम अनुभूति के बाद उसे अपूर्ण और एकांगी समझ कर एकदम दूसरे मार्ग को अपनाना बड़ा साहस का कार्य है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि कबीरदास के व्यक्तित्व का सबसे उल्लेखनीय तत्व उनकी निर्भीकता है। अतः जीवन के अंतिम समय में भी यदि उन्होंने अनुभव किया कि योग साधना केवल आंशिक रूप से ही आत्मज्ञान या ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक होती है तो उसे छोड़ने में कोई हिचक नहीं हो सकती। ऐसा प्रतीत होता है, कबीरदास पर भक्तिभावना का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। रामानंद का शिष्यत्व, जनश्रुति के अनुसार, इन्होंने जीवन के आरंभ में ही ग्रहण किया था, किंतु इनके ऊपर इस मार्ग का प्रभाव निरंतर प्रबल होता गया। केवल कबीर पर ही नहीं, वरन्, पूरे समाज पर भक्ति-भावना अपने विभिन्न रूप में व्याप्त होती गई। निर्गुण, सगुण तथा प्रेममूला भक्ति तथा सबके मूल में भक्त और साधक की आत्मसमर्पण की विह्वलता सर्वप्रथम थी। अतः कबीर का झुकाव जिस रूप में भक्तिवाद की ओर बढ़ा उसमें अनिवार्य था कि बाह्य क्रियाबहुल योगमार्ग इन्हें हेय प्रतीत हो। कबीर के स्वभाव में विद्रोह की भावना जन्मजात थी। सभी

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० २४६।

प्रकार के अंधविश्वास, संस्कार और रूढ़ियों का इन्होंने दृढ़ता से विरोध किया। योगियों, अवधूतों और शाक्तों को इन्होंने इस आचारबहुलता के लिये, जो मन और विचार का स्पर्श नहीं कर पाती हैं, बराबर फटकारा। योग संप्रदाय के संस्कार रहते हुए भी कबीरदास को आरंभ से ही उसमें निहित आचारनिष्ठा खटकती थी, यह स्पष्ट है। एक ओर भक्ति का झुकाव और दूसरी ओर योग से कुछ खिंचाव, दोनों अपनी अपनी दिशा में बढ़ते गए जिसका परिणाम अंत में भावयोग की वह अवस्था हुई जिसका ऊपर वर्णन हुआ है। कबीरदास तन के योग की अपेक्षा मन के योग को सफलता प्राप्ति के लिये अधिक उपयुक्त समझते थे।[1]

योग और योगियों के जितने भी उपकरण हैं उन्हें कबीरदास निरर्थक मानने लगे थे। बाहर के साधन मन की स्थिति को सुधारने के साधन मात्र हैं। अतः वे कहते हैं कि शृंगी, मुद्रा, अधारी आदि शरीर के ऊपर धारण करने के बजाय मन में ही उनकी सच्ची साधना करो और जो योगी ऐसा करता है, कबीर की दृष्टि में वही सच्चा योगी है—

सो योगी जाके मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा।
मन में आसण मन में रहना, मन का जप तप मन सूं कहणां।
मन में खपरा, मन में सिंगी अनहद बैन बजावे रंगी।
पंच परजारि भसम करि भका, कहैं कबीर सो लहसै लंका।[2]

कबीर की योग में यद्यपि गहरी आस्था थी किंतु केवल योग को ही—जिसमें केवल शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता थी—वे राम के साथ एकात्म स्थापित करने के लिये पर्याप्त नहीं समझते थे। इसलिये योग की इस क्रिया के साथ भक्तिभाव की प्रपन्नता आत्मसमर्पण की आकुलता और भावार्द्रता का संयोग आवश्यक समझते थे। अतः भक्ति और योग की तुलना में उन्होंने भक्ति को ही महत्व दिया है—

कहै कबीर जोगी अरु जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुरु प्रसाद रहो चात्रिग ज्यूं, निहने भगति निवासा॥

---

१. तन कौं जोगी सब करै, मन कौं बिरला कोइ।
सब विधि सहजैं पाइये, जे मन जोगी होई॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ४६।

२. डा० श्यामसुंदरदास : कबीर ग्रंथावली, पद २०६, पृ० १५८।

कबीरदास की भक्ति भी कुछ ऐसी थी कि उसे प्रचलित किसी पारिभाषिक शब्दावली से पूर्णरूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता। कबीरदास के समय में सिद्ध-नाथ और जैन संप्रदाय के भक्त और साधकों की बानियाँ और उपासना की पद्धतियाँ थीं। नाथ संप्रदाय को छोड़कर अन्य दोनों पंथ मुख्यतः अनीश्वरवादी कहे जा सकते हैं। कम से कम उनमें ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता किंतु सूक्ष्म और परोक्ष रूप से देवत्व का आरोप किया जाने लगा था और साधना के द्वारा जिस महासुख की कल्पना की गई थी यह बहुत कुछ उसी प्रकार का अनिर्वचनीय और अलौकिक था जैसा निर्गुण ईश्वर का वर्णन किया जाता है। नाथसंप्रदाय चाहे शैव हो अथवा बौद्ध किंतु शैव होते हुए भी उसमें किसी शरीरी और गुण-विशेष शक्ति की कल्पना नहीं की गई थी। इनका मार्ग साधना और शारीरिक क्रिया का था और समाधि की अवस्था में योगी दिव्य सुख की प्राप्ति करता था और यही उसकी चरम प्राप्ति थी। कबीर आरंभ में इन संप्रदायों से बहुत अधिक प्रभावित थे किंतु अनुभव और ज्ञान की परिपक्वता के साथ उन्हें यह मार्ग अपूर्ण प्रतीत हुआ। रामानंद की दीक्षा वे ले ही चुके थे। प्रपन्नभावविशिष्ट भक्ति की ओर वे आकृष्ट हुए।

कबीर की भक्ति-भावना

कबीरदास की भक्ति इस प्रकार से एक विचित्र भक्ति थी। निर्गुण ब्रह्म की प्रतीति प्रायः ज्ञान के द्वारा ही की जाती रही है। तर्क ही उसका आधार है और बुद्धि वह तीखा अस्त्र है जिसके द्वारा सृष्टि के सत्य का उद्घाटन वाह्य सत्य की परतों को हटाकर सूक्ष्म तत्व के दर्शन द्वारा किया जाता है। निर्गुण ब्रह्म के उपासकों को हम अद्वैतवादी और वेदांतवादी भी कह सकते हैं क्योंकि इसी के अंतर्गत जीव और ब्रह्म की एकता का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया है और जीव तथा ब्रह्म के ऐक्य में ही इहलौकिक जीवन की सार्थकता मानी गई है। कबीरदास इसी निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे इसलिये उन्हें ज्ञानमार्गी संज्ञा से अभिहित किया जाता है। उन्होंने सगुणवाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा आदि को सर्वथा त्याज्य बताया और केवल निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार किया। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के इस भेद को तथा अपने मन के औचित्य को प्रतिपादित करने के लिये कबीर को तर्क और बुद्धि का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने ज्ञान को इस सत्य की प्राप्ति के लिये उपयोगी माना। कबीर ने ज्ञान और धर्म को एक दूसरे से अन्योन्याश्रित माना है। कबीरदास ऐसा सोचते हैं कि ज्ञान के द्वारा ही भ्रम, अंधविश्वास और निरर्थक कर्मकांड की मोटी तहों को छेद कर धर्म के सच्चे रूप को पहचानने की

अंतर्दृष्टि आती है। वास्तविक माया तो यही सब अज्ञानमूलक अंधविश्वास ही है। मोह, तृष्णा, स्वार्थ, सभी प्रकार के मन के कल्मष को दूर करने के लिये इसी ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश में ही मन का पंकज प्रफुल्लित होता है—

संतो भाई, आई ज्ञान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडाँणी, माया रहै न बाँधी।
हित चित की द्वै थूनी गिरानी, मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्नां छानि परी घर ऊपर, कुबुधि का भांडा फूटा।
जोग जुगुति करि संतो बाँधी, निरचू चुवै न पाँणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति सब जांणी।
आँधी पीछे जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भीना।
कहैं कबीर भान के प्रगटे, उदित भया तम पीना॥[1]

इस प्रसंग में यह भी द्रष्टव्य है कि ज्ञान की यह आँधी भक्तिरूपी जलवर्षा के पहले की भूमिका है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि आँधी के बाद पानी आता है। कबीर मानते हैं कि इसी प्रकार ज्ञानोदय के पश्चात् ही ईश्वर के प्रति सच्चे, अहेतुक प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। कबीरदास के निर्गुण उपासक होने के नाते और ज्ञान का अवलंबन लेने के कारण कबीर को ज्ञानमार्गी कहनेवाले व्यक्तियों के मन का भ्रम इन पंक्तियों से मिट जाना चाहिए। ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल करके भगवत् प्रेम की प्राप्ति ही कबीर का लक्ष्य था।

ज्ञान का नया अर्थ

कबीर ने ज्ञान का सहारा अनेक प्रकार के बाह्याचारों जैसे मूर्तिपूजा तीर्थ-यात्रा, तिलक, माला, कंठी आदि के खंडन में लिया है। तर्क द्वारा इन रस्मों के खोखलेपन को वे दिखाते हैं। उसी प्रकार उन्होंने इसी तर्क के सहारे सगुण उपासना में जो अंतर्विरोध है उसे भी व्यक्त किया है। उनका रास्ता श्रद्धा और स्वीकृति का नहीं है वरन् स्वानुभूति और स्वतंत्र चेतना का है। ज्ञान को वे स्वानुभूति के समकक्ष समझते थे। उनके लिये पुस्तकों में लिखे विचारों की जानकारी ज्ञान नहीं था। उसे तो अत्यंत हेय दृष्टि से देखते थे। पुस्तकों को सभी साधकों ने सर्वथा निरर्थक माना है। कबीर ने भी पुस्तकीय ज्ञान और उसको अर्जित करनेवाले पंडितों की जड़ता का अत्यंत निर्ममता से उपहास किया है। पुस्तकीय ज्ञान को वे भ्रम में

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १३।

डालनेवाला ज्ञान मानते थे। इन्हीं पुस्तकों के सहारे पंडितों ने अबोध जनता को अनेक प्रकार के अंधविश्वास और आचारों में फँसाकर अनंत काल तक शोषण किया था। अतः कबीर ने अनेक स्थानों पर इन पंडितों की निंदा की है और साथ ही ज्ञान संबंधी अपनी मान्यता को स्पष्ट किया है। वेद, स्मृतियाँ, शास्त्र सबको वे मनुष्यों को बाँधने और भ्रम में डालने की रस्सी मानते हैं। सारा संसार इन तथाकथित वेद, स्मृति आदि ग्रंथों के जाल में बँधा पड़ा है और हजार चेष्टा करने पर भी नहीं छूट पाता। कबीरदास को तो केवल राम का सहारा लेने पर इससे मुक्ति मिली[1]। इसलिये कबीरदास बहुत स्पष्ट और जोरदार शब्दों में बारबार नसीहत देते हैं कि पढ़ने के फेर में मत पढ़ो। यह रास्ता बुद्धि को जड़ बनाता है[2] और हृदय प्रेम तत्व की ओर से अंधा बना रहता है—

मैं जान्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा थैं भलो जोग।
राम नाम सूँ प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग।
कबीर पढ़िबा दूर करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बावन आषर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ।
कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ्या संसार।
पीड़ न उपजी प्रीति सूँ, तो क्यूँ करि करै पुकार॥

कबीर ने ज्ञान का आश्रय इसीलिये लिया कि वे तर्क और बुद्धि के सहारे आचार-बहुल धर्म की कुरीतियों का भंडाफोड़ कर सकें। पुस्तकें बहुधा या तो दर्शन की सूक्ष्म विवेचना से संबंधित थीं अथवा कर्मकांड आदि का निर्देश देनेवाली थीं। कबीरदास ने इस प्रकार के दार्शनिक विवेचन अथवा धर्म के मूल तत्व को छोड़कर

---

१. (क) वेद की पुत्री सिम्रिति भाई। सांकल जेवरी लै है आई।
आपन नगर आप तैं बाँध्या। मोह के फाधि कालसरु साध्या॥
कटी न कटै तूटि नहिं जाई। सो सापिनि होइ जग को खाई॥
हम देखत जिन्ह सब जग लूट्या। कहु कबीर मैं राम कहि छूटा॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ३२४।

(ख) पढ़िया कौन कुमति तुम लागे।
तूं राम न जपहि अभागी॥ टेक॥
बेद पुरान पढ़त अस पांडे, गुन खर चंदन जस भारा।
राम नाम तत समझत नाहीं, अंति पड़ै मुखि छारा॥
वही, पृ० १००।

कर्मकांड में फँसने को ही अज्ञान और माया कहा है। उन्होंने तो इस प्रकार के कार्यों में लिप्त ज्ञानियों की अपेक्षा गृहस्थों को उच्च बनाया है—

> राम राइ, भई विगूचनि भारी, भले इन ग्यानियन थें संसारी।
> इक तप तीरथ औगाहैं, इक मानि महातम चाहैं।
> इक मैं मेरी मैं बीझैं, इक अहमेव मैं रीझैं।
> इक कथि कथि भरम लगावैं, संमिता सी वस्तु न पावैं।
> कहै कबीर का कीजै, हरि सूझै सो अंजन दीजै[1]।

कबीरदास के ज्ञान की उपलब्धि स्पष्ट रूप से हरिभक्ति ही रही है जो मनुष्य के हृदय को अपने आप ही सभी प्रकार के पाप, दोष और वासना का पंक धोकर निर्मल बना देती है—

> कहैं कबीर कृपा भई, गुरु गयान कहा समझाइ।
> हिरदय श्री हरि भेंटिये, जो मन अनतो नहिं जाय॥[2]

कबीर का यह ज्ञान एक प्रकार का शस्त्र था जिसकी सहायता से ये धर्म और मत-मतांतर के खंडन, प्रतिपादन में अपनी रक्षा और विरोधियों को पराजित करते थे। इस ज्ञानमार्ग पर चलनेवाले ऐसे बहुत थोड़े व्यक्ति ही हो सकते हैं जिसमें उत्कट साहस और निर्भीकता है, जिनके पास चरित्र और सदाचार का कवच है और जिनमें अपने मत के प्रति अडिग विश्वास और निश्चल धैर्य है[3]।

इसी प्रकार कबीर का ज्ञान ईश्वर संबंधी भ्रमों के निराकरण हेतु और कबीर द्वारा अनुभूत सत्य ब्रह्म के निरूपण में प्रयुक्त हुआ है। कबीर ने ब्रह्म, ईश्वर, जीव अथवा सृष्टिसंबंधी जो भी मान्यताएँ स्थिर की हैं, उन्हें उन्होंने पारिभाषिक शब्दावली और दार्शनिक ऊहापोह में नहीं उलझाया है। सामान्य बुद्धिजन्य (कामन सेंस) तर्क के आधार पर स्पष्टता के साथ उन्होंने अपनी बात कह दी है। कबीर का राम निर्गुण है अथवा सगुण उसे स्पष्ट करते हुए कबीर ने उसकी विशेषता या

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १८२।

२. वही, पृ० १६०

३. एक समसेर इकसार बजती रहै, खेल कोई सूरमा संत झेलै।
काम दाम जीति करि क्रोध पैमाल करि, परम सुख धाम तहँ सुरति मेलै।
सील से नेह करि, ज्ञान को खंग ले, आय चौगान में खेल खेलै।
कहैं कबीर सोइ संत जन सूरमा, सीस को सौंपि करि करम ठेलै॥
शब्दावली, पृ० १०६।

निर्विशेषता का वर्णन नहीं किया है। उनका राम अवतारी राम नहीं है। न तो उसने दशरथ के घर जन्म ग्रहण किया था और न लंका के राजा रावण को ही उसने सताया। न तो वह देवकी की ही कोख से जन्मा और न यशोदा ने गोद में लेकर उसे खिलाया। वह साहब ग्वालबालों के संग विचरण करनेवाला भी नहीं है और न उसने कभी गोबर्धन ही उठाया था। उसने वामन रूप धारण करके राजा बलि को कभी छला भी नहीं था। इस प्रकार मूर्ति आदि में भी वह नहीं है। अतः तुम उस साहब का साथ पकड़ो जिसके पास रहकर सुख दुख से अतीत हो जाओ। तीर्थ, मंदिर, मस्जिद, मूर्ति, वस्तु या व्यक्ति में ब्रह्म को देखना कितना बड़ा अज्ञान है, कबीर उसे अपने मार्मिक और व्यंग्यात्मक ढंग से बतलाते हैं। उनके तर्क इतने तीखे और प्रभावशाली हैं कि विरोधी को निरुत्तर हो जाने के सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। कबीरदास का तो बहुत ही स्पष्ट और ग्राह्य मत है कि वह ब्रह्म तो प्रत्येक नर नारी के हृदय में व्याप्त है। प्रत्येक जीवधारी उसी के 'नूर' से चेतन और प्राणशील है —

जोर खुदाई मसीति बसतु है, और मुलुक किस फेरा।
तीरथ मूरति राम निवासा, दुहुँ मैं किनहुँ न हेरा।
पूरब दिसा हरी का बासा, पछिम अलह मुकामा।
दिलहीं खोज दिले दिल भीतर, इहाँ राम रहिमानाँ।
जेते औरत मरदाँ कहिये, सबमें रूप तिहारा।
कबीर पंगुरा जलह राम का, हरि गुरु पीर हमारा।

कबीर का राम वास्तव में न केवल निर्गुण की सीमा में है और न सगुण की। कबीर ने यद्यपि 'निर्गुण राम' का प्रयोग किया है क्योंकि इससे सगुण न होने का आभास मिलता है (निर्गुण राम जपहु रे भाई) किंतु केवल निर्गुण कहने मात्र से ही उस सत्ता का बोध नहीं हो सकता। वह कुछ ऐसा है जो शब्दातीत है। अतः कबीर उसे शब्दों में बाँधने की अपेक्षा संकेत और निर्देशमात्र से बताना चाहते हैं। उसका सर्वव्यापी रूप ऐसा है जो केवल अंतर्दृष्टि और प्रेम का

निर्गुण राम : ज्ञान और भक्ति

१. ता साहब के लागो साथा। दुख सुख मेटि रह्यो अनाथा।
ना दसरथ घर औतरि आया, ना लंका का राव सताया।
देवै कूँख न औतरि आया, ना जसवै लै गोद खिलाया।
ना वा ग्वालिन के संग फिरिया, गोवर्धन लै न कर धरिया।
नि० सा० पृ० ६ (११००—६१)

अंजन लगानेवाले व्यक्ति को प्रतिक्षण और प्रत्येक जीवमें दिखाई दे सकता है। वहीं उसे देखनेवाले ही जान सकते हैं। जाननेवालोंके लिये वह गूँगे का गुड़ या सरकरा (शर्करा) है—

संतो धोखा कासूँ कहिये।
गुण में निरगुण निरगुण में गुण है, बाट छाँड़ि क्यू बहिये।
अजरा अमरा कथै सब कोई, अलख न कथणाँ जाई।
नाति सरूप वरण नहिं जाके, घटि घटि रह्यौ समाई।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, वाके आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाँड़ि जो कथियै, कहै कबीर हरि सोई।[1]

कबीरदास इसलिये बारबार चेतावनी देते हैं कि भ्रम में न भूलो। उस परमात्म स्वरूप को पहचानों जो प्रत्येक जीव में व्याप्त है और जिसमें समस्त सृष्टि व्याप्त है। सृष्टि के जीव मिट्टी के बने बर्तन की तरह वाह्य आकार में भिन्न हैं किंतु उनका निर्माण एक ही मिट्टी तत्व से हुआ है। वाह्य भेद के भीतर यह अंतरंग एकता सबमें मौजूद है। इसी प्रकार इस सृष्टि की भी सत्ता है। सबके अंतरंग में ब्रह्म की व्याप्ति है।[2] कबीरदास का ज्ञान बिलकुल ही एक ऐसा साधन था जिसके द्वारा

बावन होय नहीं बलि छलिया, धरती वेद लेन उधरिया।
गंडक सालिग्राम न कोला, मच्छ कच्छ ह्वै जलहि न डोला।
बद्री वैश्य ध्याँन नहीं लावा, परसराँम ह्वै खत्री न सँतावा।
द्वारामती सरीर न छाड़ा, जगन्नाथ लै प्यंड न गाडा।
कबीर ग्रंथावली, पृ० २४२।

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १४६।

२. लोगा भरम न भूलहु भाई।
खालिकु खलक खलकु महँ खालिक पूरि रह्यौ सब ठाईं।
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजन हारे।
ना कछु पोच माटी के भाँड़े न कछु पोच कुम्हारे।
सब महि सचा एकै सोई, तिनका किया सबि कुछ होई।
हुकुम पछानै सु ऐकी जाने बंदा कहिये सोई।
अल्लह अलख न जाई लखिया, गुरु गुड़ दीना मीठा।
कहि कबीर मेरी शंका नासी, सर्व निरंजन डीठा।
कबीर ग्रंथावली, पृ० १०४।

सच्चे साहब को पहचानने में भक्त को सहायता मिलती थी। उनका कथन है कि आत्मज्ञानके रूप में मैंने भगवद्भक्ति पाई है। यह जिसे मिल गई उसके ज्ञान का नाश नहीं हो सकता। कबीरदास और संत कवियों ने भारतीय साधना और आध्यात्मिक जीवन में केवल आत्मचिंतन और अनुभूति के सहारे प्रायः दो परस्पर विरोधी कहे जानेवाले छोरों को किसी प्रकार के दार्शनिक मतवाद की रूढ़ स्थापना की प्रयत्न साधना के आधार पर मिलाया। ज्ञान और भक्ति, बुद्धि और हृदय, तर्क और विश्वास, तत्व निरूपण और आस्था का समन्वय और संयोग स्थापित किया। शंकर ने अपने वेदांत दर्शन में ब्रह्म और जीव की एकता का जो सिद्धांत प्रतिपादित किया, उसमें भारतीय दार्शनिकों को भक्तिवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं दिखाई दी। अतः शंकर के अद्वैतवाद के आंशिक संशोधन के लिये परवर्ती दार्शनिक रामानुज, रामानंद, मध्वाचार्य, निंबार्क स्वामी आदि ने बहुत ही गूढ़ चिंतन और विवेचन के बाद विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों और मान्यताओं की स्थापना की, किंतु सबका निष्कर्ष शंकर के ज्ञान और तर्कवादी अद्वेत को आगे बढ़ाकर भक्तिवाद के साथ संगति स्थापित करने का था। शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि अनेक नामों से विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हुए शंकराचार्य के परवर्ती इन चिंतकों और साधकों ने ज्ञानवाद और भक्तिवाद की संगति बैठाने का कार्य किया। किंतु इतना अधिक पिष्टपेषण और मंथन हुआ कि उस समय के विचार सागर के क्षुब्ध धरातल पर सामान्य व्यक्ति के लिये अपना संतुलन बनाए रखना और उसमें से कुछ पा सकना नितांत कठिन है। उस दार्शनिक मतवाद और खंडन-मंडन से तो सामान्य जनता के पल्ले कुछ नहीं पड़ा, केवल उसके साधना और उपासना पक्ष से उसमें भक्ति के सिद्धांत को ग्रहण किया। किंतु व्यावहारिक क्षेत्र में भक्ति को अपनाकर इन आचार्यों ने शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को यद्यपि इनकार नहीं किया, किंतु उन्होंने और उनके साथ जनता ने उसे भुला अवश्य दिया। कबीरदास ने ऐसा नहीं किया। उनका मार्ग दार्शनिक तत्वचिंतन का नहीं था। वह उनकी क्षमता, परिधि और गति के बाहर था। व्यवहारतः और सिद्धांततः वे इस प्रकार के तत्व निरूपण को एकदम भ्रामक और उलझानेवाला मानते थे। वे आध्यात्मिक सत्य का संधान मानव मूल्यों की कसौटी पर करनेवाले थे। उनके लिये आप्त वाक्य कुछ नहीं था। इसी से नाना प्रकार के अंतर्विरोधों, अंधविश्वासों और मिथ्या कल्पनाओं पर आधारित सगुण उपासना के सिद्धांत को उन्होंने त्याज्य समझा। चाहे जिस प्रकार के भी दार्शनिक चमत्कार से निर्गुण ब्रह्म की संगति

मानव और अवतारी ईश्वर के साथ इनके पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों ने स्थापित की हो, किंतु कबीर के गले के नीचे उतरनेवाली वह वस्तु नहीं थी। कबीर तो केवल 'आंखिन देखी' सत्य को ही आधार बनाकर आध्यात्मिक सत्यों का निरूपण करते थे। अतः उन्होंने निर्गुण राम को स्वीकार किया, किंतु यह निर्गुण राम केवल तर्क और बुद्धि से प्राप्त नहीं हो सकता था। उसकी प्राप्ति के लिये सर्वथा निरीह, विपन्न और प्रपन्न भाव से जाना होगा। इसलिये कबीरदास कभी भी कहते नहीं थकते थे कि उस राम की प्राप्ति न जप से, न तप से, न जोग से, न वेद पुराण स्मृति से, किसी से भी नहीं संभव है। उसकी प्राप्ति संभव है केवल भक्तिभाव से।

गोव्यंदे तू निरंजन तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं, रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं माया।
सबद नाहीं, सिखर नाहीं, धरती नाहिं गगनां।
रवि ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवना।
नाद नाहीं व्यंद नाहीं, काल नहीं काया।
जब तैं जल व्यंद न होते, तब तूही राम राया।
जप नाहीं, तप नाहीं, जोग ध्यान नहिं तूजा,
सिव नाहीं सकती नाहीं, देव नाहीं दूजा।
रुग, न जुग न स्यांम अथरवन, वेद नहीं व्याकरनां।
तेरी गति तूंही जाने, कबीरा तो सरनां[1]।

कबीर के ज्ञानवादी दृष्टिकोण की महत्ता इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है। उन्होंने उस समय धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक प्रकार के बाह्याचारों और खोखली मान्यताओं और विश्वासों की कमजोरी और निरर्थकता को बड़ी मार्मिक उक्तियों और चुभनेवाले व्यंग्यों से दिखलाया। मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, तिलक, माला, छापा, वस्त्र, परिधान आदि को लेकर जितने भी प्रकार के धार्मिक आचारों का प्रचलन हुआ था, उसके पीछे किस प्रकार की बुद्धिजन्य जड़ता थी, इसको कबीर ने संभवतः सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। कबीर के पहले सिद्धों और नाथ संप्रदायवालों ने इन अंधविश्वासों पर प्रहार किया था, किंतु उनकी उक्तियों और बानियों का केवल सीमित प्रभाव पड़ा। कबीरदास ने जो कुछ कहा या किया वह उनकी अपेक्षा जीवन के वृहत्तर परिपार्श्व में उपस्थित हुआ। सिद्धों की वाणी केवल

१. कबीर ग्रंथावली पृ० १६२

कार्य साधना, करुणा और उपाय के मिलने के प्रसंग में उच्चरित हुई थी। गोरखनाथ के तीखे वाक्य योग के माध्यम से कहे गए, किंतु कबीर की वाणी में एक निराला तेज, प्रखरता और मर्मभेदन की क्षमता थी, क्योंकि उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती सभी साधकों और विचारकों की सत्य शोधन की शैली को अपना लिया। उनका प्राप्तव्य जीवन की एक नाली से प्रवाहित होनेवाला सत्य नहीं था, वरन् समूचे जीवन और व्यक्तित्व को अपने क्रोड़ में समेट कर, आर्द्र करता हुआ ऐसा प्रवहमान सत्य था, जिसके प्रवाह में समानता और गहनता दोनों थीं। कबीर ने नाथ संप्रदाय के योगियों की परंपरा और पद्धति में दक्षता प्राप्त कर औंधें कुएँ से प्रस्रवित होने-वाले अमृत निर्झर का पान किया था, रामानंद के चरणों में बैठकर हृदय का सिंचन उनकी भक्ति आविल वाणी से किया था और जनता के जीवन से अंतरंगता स्थापित कर धर्म के नाम पर व्याप्त शोषण और अंधविश्वास का अनुभव किया था। इसीलिये कबीर में उत्कट आत्मविश्वास और सत्य की एकनिष्ठ साधना अविचल रूप से व्यक्त हुई है। उनकी वाणी में आक्रोश है, किंतु कटुता नहीं। इसलिए विद्रोही व्यंग्य की तीखी चुभन से छटपटा भले ही जाय किंतु कबीर पर आक्रमण करने का समुचित आधार नहीं ढूँढ़ पाता है। कबीर ने सभी वाह्याचारों और अंधविश्वासों का मूल पुस्तकीय पांडित्य को माना है। पंडित, पुरोहित, मौलवी और महंत सभी आप्त वाक्यों की दुहाई देकर जनता की बुद्धि को कुंठित कर धर्म की आड़ में स्वार्थसाधन और शोषण करते हैं। कबीर ने देखा कि लोक मानस का दर्पण अनेक प्रकार की कुरीतियों और विश्वासों की मैल से इतना धूमिल हो गया है कि वह सत्य को अपने हृदय में प्रतिबिंबित नहीं कर सकता। सत्य को ग्रहण करने के लिये उस लोकमानस पर पड़ी हुई धूलिरूपी विश्वासों की तहों को साफ करना पड़ेगा। अतः कबीर ने वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति और कुरान के नाम पर आरोपित आचारों के इस मूल उत्स की ही उपादेयता पर प्रहार किया। वे कभी काजी को संबोधित करते हैं और कभी पाँड़े और पंडित को—

काजी तैं कौन कितेब बखानी।
पढ़त गुनत ऐसे सब मारे, किनहूँ खबरि न जानी।
सकति सनेह करि सुनति करिए, मैं न बदोगा भाई।
जौ वे खुदाई मोहे तुरुक करेगा, आपन ही कटि जाई।
सुन्नति करें तुरुक जो होइगा, औरत का क्या कहिए।
अर्ध सरीरी नारि न छोड़े, तातें हिंदू रहिए।

छाँड़ि कतेब राम भजि बौरे ज़ुलुम करत है भारी।
कबीर पकरी टेक राम की, तुरक रहे पचि हारी।[१]

इसी प्रकार पंडित को भी संबोधित करते हैं और उसके पुस्तक ज्ञान की भर्त्सना करते हैं—

पढ़िया कौन कुमति तुम लागे।
बूड़हु परिवार सकल स्यों राम न जपहु अभागे।
वेद् कतेब पढ़े का किया, गुन रवर चंदन जस मारा।
राम नाम की गति नहीं जानी, कैसे उतरिस पारा।[२]

कबीर पुनः विशेष विस्तार के साथ भिन्न भिन्न प्रकार के पाखंडों का उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि बिना राम की भक्ति के जीवन में कुछ भी सार्थक नहीं है। सभी लोग राम की भक्ति के मार्ग से खटक कर अंत में नैराश्य और असफलता के साथ जीवन का अंत करते हैं। मुक्ति और राम के मिलन के लिये अपने ही हृदय में देखता है। उसी में उसे सब कुछ मिल जायगा—

राम बिना संसार धुंध कुहेरा, सिरि प्रकट्या जम का पेरा।
देव पूजि पूजि हिंदू मुए, तुरक मुए हज जाई।
जटा बाँधि बाँधि योगी मूए, इन मैं किनहूँ न पाई।
कबि कबीनैं कविता मूए, कापड़ी के दारौं जाई।
केस लचि लचि मुए बरतिया, इनमें किनहूँ न पाई।
धन संचते राजा मूए, अरु ले कंचन भारी।
वेद पढ़े पढ़े पंडित मूए, रूप भूले मुई नारी।
जे नर जोग जुगति करि जानें, खोजे आप सरीरा।
तिनहूँ मुकति का संसा नाहीं, कहन जुलाह कबीरा॥[3]

उन सभी वाह्याचारों और अंधविश्वासों की सूची प्रस्तुत करने की संभवतः आवश्यकता नहीं। कबीर का दृष्टिकोण इस संबंध में बिलकुल यथार्थवादी था। वाह्य आचारों की आवश्यकता उन्होंने मनुष्य के अंतर्गत और आध्यात्मिक विकास के साथ स्वीकार नहीं किया है। ज्ञानवाद बहुधा बुद्धि की तुला पर ही तौलकर

१. कबीर ग्रंथावली पृ० १०७।
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ३०२।
३. कबीर ग्रंथावली, पृ० ३१७।

जीवन के मूल्यों का अंकन करता है। बुद्धि किसी तथ्य को केवल उसके अस्तित्व मात्र के कारण ही स्वीकार नहीं करती। उसकी शैली विश्लेषणात्मक है। प्रत्येक तथ्य को भीतर से जाँच कर और सब तरह से अनुरूप पाकर ही बुद्धि उसे स्वीकार करती है और उसे वह सत्य के रूप में मानती है। कबीर का आचारप्रवणता के प्रति यही दृष्टिकोण था। जिस योग मार्ग की अनुभूति उन्हें पूर्णरूप से हो चुकी थी और जिसके अनुभूत अलौकिक आनंद का आस्वादन उन्होंने स्वयं भलीभाँति कर लिया था, उसे भी अंत में उन्हें त्यागना पड़ा क्योंकि यह भी कुछ न कुछ वाह्य क्रियाओं पर अवलंबित था। इसकी सिद्धि होने पर चाहे जिस प्रकार के महासुख का अनुभव हो और अमरत्व की जितनी भी बड़ी आशा हो, कबीरदास फिर भी इसे अल्पकालीन सफलता समझकर अंतिम सत्य के रूप में ग्रहण करनेवाले नहीं थे।

भक्ति का स्वरूप

कबीरदास के ज्ञानवाद की सार्थकता जीवन के सत्य को पहचानने में थी; वह सत्य चाहे निर्गुण राम संबंधी सत्य हो अथवा उसकी प्राप्ति के साधनों के संबंध में। उस निर्गुण राम को पाने के लिये कबीर ने भक्ति को सबसे अधिक उपयुक्त माना। भक्ति में विश्वास, निष्कपट आस्था, हृदय का संपूर्ण समर्पण और बुद्धि के सबल आश्रय को छोड़कर भावना के सूक्ष्म और वायवी आलंबन को ग्रहण करना पड़ता है। ऊपर से इसमें अंतर्विरोध भले ही प्रकट हो किंतु व्यवहार में यह सर्वथा युक्तिसंमत है। ज्ञान का प्रकाश जिस सीमा पर पहुँच कर धुंधला और मलीन हो जाता है, वहीं से भक्ति का आलोक अपनी रहस्य की कुहेलिका का अंतर्द्वार खोलता है। ज्ञान के चरम सीमांत पर ही भक्ति का आविर्भाव होता है और उसके नए लोक की वह परिधि आरंभ होती है जो उस अनंत का स्पर्श करती है 'जिसके आगे राह नहीं।' अतः कबीर की यह भक्ति उनके ज्ञानवाद और योगानुभूति की सहज और स्वाभाविक परिणति के रूप में आती है। योग और ज्ञान दोनों स्वानुभूति को वाहन बनाकर भक्ति की निष्पत्ति पर पहुँचते हैं। उसमें वैयक्तिकता की छाप होना अनिवार्य है। इसमें किसी वाह्य उपकरण की सहायता की आवश्यकता नहीं। अतः कबीर की भक्ति दूसरी प्रकार की भक्तिवादी धाराओं से भिन्न थी। सगुण भक्ति और कबीर की भक्ति में मौलिक अंतर यही था कि पहली भक्ति जहाँ वेद, शास्त्र और पुराणों की संमति और समर्थन की मुहर लगाकर जनता में आविर्भूत हुई थी, वहाँ कबीर की भक्ति इनकी सर्वथा उपेक्षा कर व्यक्तिमानस को ही साध्य और साधन मानकर चली थी। व्यक्ति का मानस ही माया और भ्रम के मल से मलीन होकर मोह लिप्त मनुष्य के आचरण और व्यक्तित्व का आधार बनता है, किंतु वही मानस

यदि इन विकारों और अस्वाभाविक संस्कारों से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है तो उसमें अनायास राम का प्रतिबिंब अपने आप प्रतिफलित हो जाता है। इस प्रकार भक्त और भगवान् एकमय हो जाते हैं, सारा द्वित्व मिट जाता है। और जीवन अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति करता है। कबीरदास ने मन को निर्मल करने के लिये और उसके सब विकारों के उन्मूलन के लिये प्रेम को सबसे आवश्यक तत्व माना। कबीरदास की भक्ति का स्वरूप इस प्रेम तत्व से बहुत ही अधिक प्रभावित हुआ। अतः हम आचार्य द्विवेदी जी के पूर्वोक्त कथन को इस रूप में भी उपस्थित कर सकते हैं कि कबीर की भक्ति वह लता है जो योग क्षेत्र में प्रेम का बीज पड़ने से अंकुरित हुई और जिसका विकास स्वानुभूति का अवलंब पाकर हुआ।

कबीरदास की भक्ति वैष्णवी भक्ति के समीप रहते हुए भी वही नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीरदास अन्य प्रकार के भक्तों और साधकों में वैष्णव भक्त को सबसे अधिक अपने समीप महसूस करते थे। शाक्तों की तुलना में ता उन्होंने वैष्णवों के प्रति अपना झुकाव और समर्थन बहुत स्पष्ट रूप से दिखाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर के समय वैसे तो बहुत से संप्रदाय और भक्ति संबंधी मार्ग रहे होंगे, किंतु साधना और विचारों के मौलिक आधार पर उन्हें मोटे तौर पर इन्हीं दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। मर्यादित आचार के आधार पर जितने भी साधना और भक्ति के संप्रदाय थे, वे सभी वैष्णव कहे जा सकते हैं तथा ऐसे सब मार्ग जिनमें आचार और मूल्यों का दूसरा आधार माना गया था, जिसे हम 'वाममार्ग' भी कहते हैं, वह शाक्त धर्म के अंदर स्वीकृत रहा होगा। कबीरदास स्वयं अपने को वैष्णव धर्म के अंतर्गत गिनते थे नहीं, तो उनकी इन उक्तियों के कहने का कोई आशय नहीं:—

> वैष्णव की कूकरि भली, साकत की बुरी माइ।
> ओह सुनहि हरि नाम जस, वह पाप बिसाहन जाइ[1]॥
> साकत संग न कीजिये, दूरहि जाइए भाग।
> वासन कारो परसिए, तउ कछु लागै दान।
> कबीर संगति साध की, दिन दिन दूना हेत।
> साकत कारी कोबरी, धोए होइ न सेत॥
> संत की गैल न छांडियै, मारगि लागा जाउ।
> पेखत ही पुन्नीत होइ, भेटत जपिए नाउ॥

---

१. ग्रंथावली साखी १३७, पृ० २५९।

कबीर साकत ऐसा है, जैसी लसन की खान।
कोनै बैठे खाइए, परगट होय निदान[1]।
चंदन की कुटकी भली, नां बंबूर अबरांउ।
वैश्नौं की छपरी भली, नां सोषत का बड़ गाउं[2]।
साषत बांभण मनि मिलै, बैसनो मिलै चँडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानौ मिलै गोपाल[3]॥

शाक्तों की उपमा उन्होंने कुत्तों से दी है। कुत्ते को स्मृति और वेद का उपदेश करना जिस प्रकार व्यर्थ है उसी प्रकार शाक्त के संमुख राम का नाम लेना। अतः इससे अच्छा यही है कि उसे राम नाम सुनाया जाय। शाक्त का स्वभाव ही है निंदा करना।

रांम रांम रांम रमि रहिये। साषित सेती भूलि न कहिये।
का सुनहां को सुमृत सुनाएँ, का साषित पै हरि गुन गाएँ।
का कऊवा को कपूर खवाए, का विसहर कौ दूध पिलांए।
साषित सुनहा दोनों भाई, वो नीदै वो भौंकत जाई।
अमृत ले ले नींब स्यँचाई, कहैं कबीर वाकी बानि न जाई[4]॥

कबीर उस माता की सराहना करते हैं जिसने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया—

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाना बैसनों पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत[5]।

कबीरदास की भक्ति में यद्यपि वेद, शास्त्र और पुराणानुमोदित विचारों को ही ग्रहण नहीं किया गया है, उस भारतीय चिंता को और जीवन के मूल्यों को जिसका प्रतिपादन प्राचीनकाल से होता आया है, कबीर ने स्वीकार किया है। भक्ति जीवन का ऐसा दर्शन है जिसका उद्भव साधक के व्यक्तित्व और आचरण से होता है। भगवद्भक्ति के अर्जन के लिए मनुष्य को अपने अंतर्गत को सर्वथा निष्कलुष और पवित्र बनाना पड़ता है। हृदय के केंद्रस्थ मूलभाव को ईश्वरोन्मुख हो जाने के

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० २५९-६०।
२. वही, पृ० ५२।
३. वही, पृ० ५३।
४. वही, पृ० १६३।
५. वही, पृ० ५३।

बाद मनुष्य का सारा व्यक्तित्व इस प्रकार उसमें ओतप्रोत हो जाता है कि उसका कार्य उसीसे प्रतिफलित और संचालित होता है। अंतर्जगत् और वहिर्जगत् के इस पूर्ण सामंजस्य के बिना भक्ति का सच्चा विकास असंभव है। सर्वथा निःसंग होकर सभी प्रकार के स्वार्थ, इच्छा को त्यागकर, स्वयं अपने को सर्वथा भूलकर, मिटाकर भगवान् के साथ एकात्म होना ही भक्त का लक्ष्य होता है। जहाँ इस प्रकार की अहेतुकी और निष्ठ भक्ति की साधना होती है, वहाँ जीवन में किसी भी कार्य और आचार में वासना और कलुष का होना संभव नहीं है। आचार और भक्ति-भावना के ही आधार पर हमारे यहाँ रागानुगा और वैधी दो प्रकार की भक्ति मानी गई है। कृष्णभक्त कवियों की भक्ति को रागानुगी और रामभक्ति को वैधी कहा गया है किंतु अहेतुकी भक्ति दोनों की है। जहाँ पर भक्ति का निष्काम और अहेतुक रूप उपस्थित है वहाँ साधना के मूल रूप में अंतर नहीं पड़ सकता, उसका दार्शनिक तथा सैद्धांतिक परिधान भले ही भिन्न हो। कबीरदास उसी बृहत्तर भक्तिवादी आंदोलन के एक अंग थे जो हृदय के माध्यम से आचार के संयम और पवित्रता को संजोकर भगवत्कृपा का आकांक्षी और प्रार्थी था। ऐसे भक्तों की सबसे बड़ी कामना, यदि इसे हम सांसारिक अर्थ में कामना कह सकते हैं तो यही कि भगवद् रूप में विलीन हो जाना है। स्वर्ग और बैकुंठ को तो वे केवल भक्त को अपने लक्ष्य से विरत करनेवाला प्रलोभन मानते थे। कबीर तो राम और अपने को सर्वथा एक ही समझते थे। इसीलिए राम की तारन-तरन उपाधि उन्हें पसंद नहीं। उस उपाधि का अर्थ तो यही हुआ कि भगवान् तारनेवाला हैं और भक्त तरनेवाला है। तरने के बाद भी भक्त का भगवान् से पार्थक्य बना रहेगा। इस तरह के 'पसाव' और कृपा की कबीर को क्या जरूरत? इसीलिए वे अपने राम से व्यंग्यात्मक ढंग से पूछते हैं कि हे राम, भला हमें तारकर कहाँ भेजोगे? उस तुम्हारे बैकुंठ का कैसा रूप है जो तुम मुझे तारने के बाद कृपा कर दोगे? जब तुम इस समस्त सृष्टि में अद्वैत भाव से रमे हुए हो तो मुझे क्यों भ्रम में डाल रहे हो। तुम मुक्त मुझे उसी हालत में बना सकते हो जब अपने को मुझसे पृथक् समझते हो।[1] कबीरदास की यही निष्काम भक्ति और निष्काम आचरण की प्रवृत्ति थी कि

---

१. राम मोहिं तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहो धूँ कैसा, करि पसाव मोहिं दैहो।
जो मेरे जीव दोइ जानत हौ, तो मोहिं मुकुत बताओ।
एकमेक रमि रह्या सबनि में, तो काह्यो भरमाओ।

उन्होंने अपने को वैष्णव धर्म का एक अनुयायी और अंग समझा। राम और भक्त में जब यह एकात्मता स्थापित हो जाती है तो यह आध्यात्मिक जगत् की एकात्म स्थिति उसके आचरण में अपने आप उतर जाती है। जैसा पहले कहा जा चुका है भक्त के अंतर्जगत् और बाह्यजगत् में पूर्णतः एकरूपता स्थापित हो जाती है। कबीरदास अपने को वैष्णव ही नहीं, हिंदू होना भी घोषित करते हैं। मुसलमानों के जीवन और धर्म में उन्हें यह एकरूपता और संगति नहीं मिली। इसी कारण से वे घोषित करते हैं कि सबको हिंदू रहना चाहिए।

> काजी तें कौन कतेब बखानी।
> पढ़त गुनत ऐसे सब मारे, किनहूँ खबरि न जानी।
> सकति सनेह करि सुनति करिये, मैं न बदौंगा भाई।
> जो से खुदाई मोहे तुरुक करेगा, आपन ही कटि जाई।
> सुमति करे तुरुक जो होइगा, औरत का क्या करिए।
> अर्ध सरीरी नारिन छोड़े, ताते हिंदू रहिए।
> छाँड़ि कतेब राम भजि बौरे, जुलुम करत है भारी।
> कबीर पकरौ टेक राम की, तुरक रहे पचि हारी।[1]

कबीर इसीलिए राम का पल्ला पकड़े हुए हैं और सब तुर्क निराश होकर उनकी ओर देख रहे हैं। किंतु उनको भी वे उपदेश दे रहे हैं कि व्यर्थ कुरान किताब का भ्रम छोड़कर राम का भजन करो।

कबीरदास यद्यपि निर्गुण राम के उपासक थे, किंतु पहले के सगुण भक्तों की प्रशंसा उन्होंने अनेक स्थलों पर की है। जयदेव, नामदेव, अंबरीष आदि की भक्तिभावना और उनके आदर्श से कबीरदास को अवश्य ही प्रेरणा मिली रही होगी। इन भक्तों ने यद्यपि सगुण ईश्वर का गुणगान किया है, किंतु मूलरूप में हृदय की भावना को ही कबीर ने महत्व दिया। गलश्रुदभाव से भगवान् के प्रति अपना सर्वस्व अर्पण करते हुए उन्होंने केवल उनकी कृपा और भक्ति की याचना की है। कबीर ने इसी भाव को पूज्य माना है और इसी के लिये

कबीर का सगुण भक्तों के प्रति दृष्टिकोण

तारण तिरण जबै लग कहिए, तब लग तत्त न जाना।
एक राम देख्या सबहिन में, कहे कबीर मनमाना।
—कबीर ग्रंथावली, पृ० १०५

२. वही, पृ० १०७

इन भक्तों के प्रति उन्होंने अपना हार्दिक आदर व्यक्त किया है। पुराणों और शास्त्रों से उन्होंने उनके दार्शनिक ऊहापोह को तो नहीं ग्रहण किया, किंतु इन भक्तों के जीवन और उनकी भगवद्भावना को उन्होंने अवश्य अपना मार्गदर्शक माना है—

राम जपो जिय ऐसे ऐसे। ध्रुव प्रह्लाद जप्यो हरि जैसे।
दीन दयाल भरोसो मेरे। सब परवार चढ़ाया बेड़े[1]।
मन रे हरि भज हरि भज हरि भज भाई।
जा दिन तेरो कोई नाँही ता दिन राम सहाई
तंत न जानूँ मंत न जानूँ, जानूँ सुंदर काया।
मीर मलिक छत्रपति राजा, ते भी खाए माया।
वेद न जानूँ भेद न जानूँ, जानूँ एकहि रामाँ।
पंडित दिसि पिछियारा कीन्हाँ, मुख कीन्हीं जिन नांमां।
राजा अंबरीष के कारणि चक्र सुदरसन जारे।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो, भगत की सरन उबारे[2]॥

कबीरदास ने और जितने भी प्रकार के साधक हैं, उन्हें मदोन्मत्त माना है। सभी प्रकार के साधक अपनी साधना और ज्ञान के गर्व में डूबे हैं। केवल वही लोग चैतन्य हैं जिन्होंने भगवान् की भक्ति की है। ऐसे भक्तों में कबीरदास ने पौराणिक और समकालीन बहुत से वैष्णव भक्तों का नाम गिनाया है—

सब मर्द माते कोई न जाग।
तार्थे संग ही चोर घर मुसन लाग।
पंडित, मातें पढ़ि पुरान, जोगी माते धरि धियान।
सन्यासी मातें अहंमेव, तपा जु माते तप के भेव।
जागे सुक उधव अक्रूर, हणवंत जागे ले लंगूर।
शंकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामाँ जैदेव[3]॥

यही नहीं, कबीर ने नृसिंह अवतार का पूरा वर्णन अत्यंत उल्लासमय स्वर और गद्गद् भाव से किया है। वैसे वे अवतारवाद और विशेषतः नृसिंहावतार की हँसी

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२७
२. वही, पृ० १२७
३. वही, पृ० २१६

उड़ाते हैं, किंतु यहाँ बड़े मनोयोग और निष्ठा के साथ भगवान् द्वारा भक्त के सत्य की रक्षा का वर्णन करते हैं। अवतारवाद को न मानते हुए भी कबीर ने यहाँ पर जो विस्तार से प्रह्लाद और नृसिंहावतार का वर्णन किया है उससे कबीर भक्ति के प्रति और भगवान् की भक्तवत्सलता के प्रति अपनी गहरी आस्था दिखाते हैं। वास्तव में कबीर योग और ज्ञानवाद की ओर से अपेक्षाकृत भक्तिवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इसीलिये स्वाभाविक उद्वास के साथ पूरे प्रसंग का वर्णन उन्होंने किया है[1]।

दैन्य और निरहंकारिता

सगुण भक्ति नवधा कही गई है। कबीर ने इस नवधा भक्ति के सभी अंगों को नहीं स्वीकार किया। उन्होंने विशेष रूप से उन अंगों का परिहार किया है जो आचार और कर्मकांड संबंधी हैं, जिनमें अंतः साधना के स्थान पर बाह्य विधान पर विशेष जोर दिया गया है; जैसे अर्चन और बंदन आदि, किंतु भावजगत् संबंधी प्रायः सभी प्रकारों की ओर कबीर ने अपनी रुझान दिखाई है। अपने राम के प्रति वे दास्य, दैन्य, सख्य, रति, वात्सल्य सभी भावों की अर्चना करते हैं; जिस किसी भी भाव से उनका राम रीझ जाय, उसकी करुणा का उद्रेक हो जाय और वह कबीर को अपना ले। अतः वे सभी भावों के साथ शरणागत होते हैं; उन्हें कभी संतोष ही नहीं होता कि उस स्वामी को प्रसन्न करने के लिये उनमें पर्याप्त गुण और आवश्यक साधन हैं—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
ना जानों उस पीव सूँ, कैसे रहसी रंग॥

---

१. नहिं छाँड़ौ बाबा राम नाम ? मोहिं और पढ़न सू कौन काम।
प्रह्लाद पधारे पढ़न साल, संग सखा लीयें बहुत बाल।
मोहि कहा पढ़ावै आल जाल, मेरी पाटी में लिखि दे श्रीगोपाल।
तब सनां मुरकां कह्यो जाइ, प्रहिलाद बँधाथो वेगि आइ।
तू राम ब्रह्म की छाँड़ि बानि। वेगि छुड़ाऊँ मेरो कह्यो मांनि।
मोहिं कहा डरावै बार बार, जिदि जल थल गिर को कियो प्रहार।
बाँधि मरि भावै देह जारि, जेहुँ राम छांड़ौ तो मेरे गुरुहिं गारि।
तब काढ़ खड्ग कीय्यौ रिसाइ, तोहि राखन हारो मोंहिं बताइ।
खंभा मैं प्रगट्यौ गिलारि, हंरनाकुस मार्‌यौ नख बिदारि॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० २१४

सभी प्रकार के भावों की अंजलि यद्यपि कबीर ने सजाई है, किंतु उसमें अंतर्विरोध नहीं है। कबीर के सभी कथन और निवेदन में निर्गुण राम के साथ तादात्म्य की भावना है। सभी को पंडित, ज्ञानी, योगी, जती, साधक और संन्यासी को संबोधित करते हुए यही उपदेश देते हैं कि अंत में राम का सहारा लिए बिना कोई रास्ता नहीं। वे तो केवल राम नाम को ही जीवन का परम काव्य और अंतिम सत्य मानते हैं—

का नांगे का बाँधे चाम, जो नहिं चीन्हसि आतम राम।
नांगे फिरे जोग जो होई, बन का मृग मुकति गया कोई॥
मूँड़ मुड़ाये जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई।
ब्यंद राखे जो खेले है भाई, तौ खुसरे कोण परम गति पाई।
पढ़े गुने उपजे अहंकारा, अधधर डूबे वार न पारा।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम बिन किन सुधि पाई॥[1]

कबीरदास उपर्युक्त सभी साधनाओं को व्यर्थ बतलाते हैं। राम की प्राप्ति के लिये उन्होंने सबसे आवश्यक तत्व माना है, अस्मिता का परित्याग। जितनी भी साधनाएँ और मार्ग हैं उनमें साधक अपने को नहीं भूल पाता। अपने कर्तृत्व को नहीं भूल पाता, इस कारण उसका पार्थक्य बराबर बना रहता है। कबीर की भक्ति में सबसे प्रथम अपने इस अहम् का त्याग आवश्यक है। अहम् के प्रति जहाँ मोह भंग हुआ, साधक अपने समस्त बंधनों और विकारों से मुक्त होकर भगवान् के साथ तादात्म्य के मार्ग पर चल पड़ता है—

ते हरि के आवेहि किहि कांमां, जे नहीं चीन्हे आतम रामा।
थोरी भगति बहुत अहंकारा, ऐसे भगना मिलें अपारा॥
भाव न चीन्हें हरि गोपाला, जानि क अरहट क गलि माला।
कहैं कबीर जिनि गया अभिमाना, सो भगना भगवंत समाना॥[2]

कबीरदास ने कई स्थलों पर भक्ति की साधना को दुष्कर बतलाया है और इसे उत्कट साहसी लोगों का ही कार्य कहा है। भक्ति की साधना दुष्कर इसलिये कि इसमें अपने शरीर के भीतर के शत्रुओं को जीतना पड़ता है। साधक और भक्त का सबसे बड़ा शत्रु उसका मन है। जोगी, यती, सन्यासी, ज्ञानी अपने मन को विविध बाह्य प्रक्रिया और साधनों से जीतना चाहते हैं, किंतु किसी भी बाह्य

1. कबीर ग्रंथावली, पृ० १३०
2. कबीर ग्रंथावली, पृ० १३२।

और आभ्यंतर क्रिया से मन को वश में करने का प्रयास सर्वथा विफल होता है, उसकी सफलता क्षणिक होती है और कभी कभी तो ऐसे व्यक्ति एकदम मन के ही दास हो जाते हैं। कबीर और भक्तों का मार्ग आत्मसमर्पण का है। भगवान् में अपने को सब कुछ सहित अर्पित कर दिया। हाँ, इसमें ममत्व और अहं का मोह छोड़ना पड़ता है। यह मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है। एक बार इस ममत्व के मोह से मुक्त होकर भगवान् की शरण में गया तो फिर उसके सभी विकार भगवतोन्मुख हो जाते हैं। वे विकार भक्ति के स्पर्श से पारस मणि के प्रभाव से लोहे से सोने जैसे हो जाते हैं। किंतु इस अहं का मोह छोड़ना अत्यंत दुष्कर है। इसी कठिनाई की ओर कबीर बारबार संकेत करते हैं:—

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारे हाथ करि, सो लेसी हरि नाम॥
भगति दुहेली राम की, जेसि खांडे की धार।
जो डोले तो कटि परे, नहीं त उतरे पार॥
भगति दुहेली राम की, जैसि अगिनि की झाल।
डाकि पड़े तो ऊबरे, दाधे कौतिगहार॥[1]

इस प्रकार कबीर ने शिर उतारने का जो उल्लेख किया है उससे तात्पर्य अहं के त्याग का है। भक्त के लिये यही उसकी सबसे कड़ी परीक्षा है। उसने यदि अहंकार का उन्मूलन कर डाला है तो उसमें और भगवान् में अद्वैत और एकात्म होने में कोई कठिनाई ही नहीं रह जाती है। कबीरदास जोर देकर और स्पष्ट रूप से भक्ति के मार्ग का निर्देश करते हुए कहते हैं कि भक्ति का यही मार्ग है कि अपना शिर भगवान् के निमित्त देने में भक्त विलंब न करे। शिर देने का आशय इसी अपने अहं को उन्मूलित करने का है।

भक्ति का मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे।
साधन के रस-धार में, रहे निस-दिन भीना रे।
राग में सुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे।
सांई सेवन में देत सिर, कुछ बिलम न कीना रे।
कहें कबीर मन भक्ति का, परगट कर दीना रे।[2]

---

१. वही, पृ० ६०।

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० २५१।

कबीरदास अपने इसी अहम् को त्यागने के बाद राम का गुलाम बनने के लिये प्रसन्नता के साथ तैयार हैं। उनको इसी में प्रसन्नता है कि वे राम के गुलाम हैं और उनसे आग्रह करते हैं कि जहाँ चाहो मुझे वहाँ बेच दो क्योंकि वे जानते हैं कि राम ही सब कुछ करनेवाला है। अतः जो कुछ भी वह करेगा, मेरे लिए ठीक ही है। बेचना और रखना दोनों ही उसके कार्य हैं—

मैं गुलाम मोहिं बेचि गुंसाई, तन मन धन मेरा रांम जी के तांई।
आंनिक बीरा हटि उतारा, सोई गाहक सोई बेचनहारा।
बेचै राम तो राखै कौन, राखै राम तो बेचै कौन।
कहै कबीर मैं तन मन जारया, साहिब अपना छिन न बिसारया[1]।

कबीर भगवान् के सामने नितांत दैन्य भाव के साथ उपस्थित होते हैं। अधिक से अधिक हीनता का जो भी उदाहरण उन्हें मिल सकता है, वह घास का है। कबीर अपने को उसी घास के सदृश मानते हैं जो नित्य पैरों तले रौंदी जाती है। वैसा यदि भक्त हो जाय तो उसमें कोई अभिमान नहीं रह सकता है—

कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास।
कबीर ऐसे ह्वै रहा, ज्यूं पाऊं तलि घास[2]॥

कबीर का ऐसा विश्वास है कि भक्त जब सर्वथा निरीह और नितांत दीन हो जाता है, उसी अवस्था में उसे भगवान् की प्राप्ति होती है। वह मार्ग के रोड़े के समान रास्ते में लुढ़कता रहता है। ऐसा निःस्व होकर जिस समय केवल भगवान् पर ही एकमात्र अवलंबित हो जाता है, उसी समय उसे सच्चे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है—

रोड़ा ह्वै रहौ बाट का, तजि पाखंड अभिमान।
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिले भगवान[3]॥

कबीर ने अपनी उपमा राम के कुत्ते से दी है। अपना नाम भी कितना व्यंजक और कितनी दीनता से भरा हुआ 'मुतिया' जिस प्रकार लोग घर में अत्यंत उपेक्षा से बेचारा समझ कर पुकारते हैं, रखा है। गले में राम का पट्टा लगा है। उससे बंधे हुए वे जिधर खींचते हैं उधर वह जाता है। कुत्ते की स्थिति का बड़ा ही यथार्थ

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२४।
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ६५।
३. वही, पृ० ६५।

चित्र उन्होंने खींचा है। टुकड़े का आश्रित कुत्ता, जब 'तू तू' कह कर पुकारा जाता है तब वह दौड़ा आता है और 'दुर दुर' कहने पर, सामने से अत्यंत विनीत भाव के साथ हट जाता है। कबीर भी इसी प्रकार भगवान् के संमुख आचरण करने में सुख मानते हैं—

कबीर कुत्ता राम का, मुतिया मेरा नांउं।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं।
तो तो करै त बाहुड़ौं, दुरि दुरि करे तो जाउं।
ज्यूं हरि राखे त्यूं रहौं, जो देवै सो खाउं[१]॥

भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिये कबीर बालक के भी रूप में उनके संमुख अपने को समझते हैं। भगवान् को माँ के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं कि माता का वात्सल्य तो पुत्र के लिये अयाचित और अहेतुक होता है। बच्चा गलतियाँ भी करता है किंतु माता उनकी ओर कहाँ ध्यान देती है। इसी प्रकार यदि भक्त गलती करता है तो भी माता के समान सहज वात्सल्यवाले भगवान् उसकी नादानी समझ कर उसे क्षमा करते हैं। बच्चा अपने अज्ञान में माता के बाल तक पकड़कर खींचता है, किंतु इस पर भी माता को क्षोभ नहीं होता बल्कि यदि बच्चा थोड़ा भी दुखी होता है तो ममतामयी माँ चिंतित हो जाती है। कबीर अपने भगवान् की मनुहार इसी रूप में करते हैं—

हरि जननीं मैं बालिक तेरा। काहे न औगुंण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित्त रहैं न तेते।
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारे माता।
कहै कबीर एक बुधि बिचारी, बालक दुखी दुखी महतारी[२]॥

कबीरदास इस प्रकार दैन्य, दास्य और वात्सल्य, आदि विभिन्न भावों से राम का सहारा पकड़ना चाहते हैं। उनका यह अडिग विश्वास है कि केवल

प्रेममूला भक्ति

निश्छल और ऐकांतिक भक्ति के द्वारा ही जीवन की सार्थकता संभव है। वे यह भी जानते हैं कि उनका भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने में सदैव तत्पर और सर्वसमर्थ है। इस अगाध विश्वास के सहारे अपने मन को और दूसरे भक्तजनों को

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२३
२. वही, पृ० २०।

समझाते हैं कि तुम केवल भगवान् की भक्ति का अवलंब लो[१]। कबीरदास ने भक्ति निवेदन में सबसे अधिक तल्लीनता और एकांत मनोयोग प्रेममूला-भक्ति के प्रसंग में दिखलाया है। भक्ति हृदय की प्रवृत्ति (डिसपोजीशन) है। इसकी दिशा और लक्ष्य आध्यात्मिक है। भगवान् का सामीप्य प्राप्त कर, उसी के साथ एकात्म हो जाना ही भक्त का लक्ष्य होता है। भगवान् के प्रति किए गए प्रेम की सुखानुभूति जिस आध्यात्मिक जगत् की चीज है उसको शब्द के संकेतों में प्रकट करना असंभव है, क्योंकि वह एक ऐसा अभिनव और अपूर्व अनुभव है कि उसे व्यक्त करने के लिये शब्दों और भाषा की रचना ही नहीं हो पाई है। इसीलिये भक्तों ने उसे गूँगे के गुड़ से उपमा दी है। कबीरदास भी उसे गूँगें की सरकरा कहते हैं—

अकथ कहाँणीं, प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूँगें केरी सरकरा, बैठे मुसकाई[२]॥

सभी लोगों ने इसे 'अकथ कहानी' कहा है। इस प्रेम के दो धरातल हैं। एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक धरातल का प्रेम ही गम्य और सहज अनुभूतिशील है। इस प्रेम में जितनी उत्कट मिलनेच्छा और दुर्दमनीय पिपासा रहती है वह दूसरे प्रकार के प्रेम में नहीं। वात्सल्य और दास्यभाव में गंभीरता और स्थायित्व भले ही हो किंतु जो सीमातीत आवेग और एकात्म होने और मिलने की अतृप्तकारी बुभुक्षा सख्य और रति प्रेम में होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नर और नारी के बीच इस अपूर्व मानसिक आकर्षण के चुंबकीय तत्व को परमात्मा की ओर अभिमुख कर प्रेमी भक्तों ने उसी तल्लीनता और एकांतभाव से अपने निविड़ प्रेम की अर्चना की है, जैसा सामान्य प्रेम में उद्दीप्त होता है। दास्य

---

१. मन रे हरि भजि हरि भजि हरि भजि भाई।
जा दिन तेरो कोई नांहीं, ता दिन रांम सहाई।
तंत न जांनूं, मंत न जांनूं, जांनूं सुंदर काया।
मीर मल्कि छत्रपति राजा, ते भी खाए माया।
बेद न जांनूं भेद न जांनूं, जांनूं एकहि रांमां।
पंडित दिसि पछिवारा कीन्हां, मुख कीन्हौं जित नांमां।
राजा अंबरीक के कारणि, चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर कौ ठाकुर ऐसौ, भगत की सरन ऊबारै॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० १२७।

२. वही १२६।

और दैन्य भाव में भगवान् को महान और अपने को सर्वथा तुच्छ और हेय समझ-कर भक्त उनके सर्वशक्तिमान और वैभवपूर्ण रूप का वर्णन करता है। इस रूप में भी भक्त अपने भगवान् के प्रति अपने हृदय के सच्चे भक्तविह्वल उद्गारों से उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा करता है। किंतु इस भाव में दूरी बनी रहती है, एक महानतम और दूसरा हीनतम। भक्ति में अहंकार और अहम् को हृदय से निष्कासित करने के बाद ही भगवान् के प्रति निष्कलुष पूज्यभाव पैदा होता है। यह एक प्रकार का प्रयास-सिद्ध व्यापार है। प्रेम हृदय की स्वाभाविक और प्रयासहीन क्रिया है। यह किया नहीं जाता, हो जाता है। प्रेम की स्थिति में सभी प्रकार की दूरी समाप्त हो जाती है। महत्ता और हीनता के भाव का अपने आप तिरोभाव हो जाता है। शुद्ध समभाव और अनिर्वचनीय प्रेम के तंतुवाय से बँधे दो हृदयों का एकरस, एकरूप होने का यह व्यापार है। प्रेमी और प्रेमिका अपने अस्तित्व को अपने आप ही सर्वथा भूल जाते हैं और एक दूसरे में ही अपना प्रतिबिंब देखने लग जाते हैं। भक्त कवियों ने भगवान् के प्रति इसी भाव को प्रेम की पराकाष्ठा मानी है। भक्ति के मार्ग से भगवान् को अपनानेवाले सभी देश और स्थान के अतीत से आधुनिक काल तक के भक्तों ने इस सत्य का अनुभव किया है। मिश्र, फारस, अरब और ईसाई देशों में बहुत प्राचीन काल से ही प्रेमी और प्रेमिका की भूमिका में भक्तिभाव का निवेदन किया गया है। बहुत से विद्वानों की धारणा है कि इस्लाम में सूफी संप्रदाय का, जो केवल प्रेम को ही आधार मानकर अपने और खुदा के प्रेमी प्रेमिका के संबंध पर भक्त और भगवान् के खरेपन को तौलता है, कबीर पर बहुत गहरा प्रभाव है और उनकी रचनाओं और विचारों में प्रेम की तीव्र विह्वलता, वियोग की करुण और मार्मिक व्यंजना तथा मिलनोपरांत उल्लासपूर्ण मिलन सुख का चित्रण, सभी पर सूफी संप्रदाय के इश्कमिजाजी (आध्यात्मिक प्रेम) का प्रभाव पड़ा है। सूफी संप्रदाय के संबंध में थोड़े विस्तार से अन्यत्र चर्चा की जायगी। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि कबीर पर प्रायः सभी प्रचलित मत-वादों का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है। इसलिये यदि सूफी संप्रदाय का थोड़ा गहरा प्रभाव पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। कबीर का मुसलमान घर में जन्म लेना सर्वविदित है। इस्लाम की कट्टरता का तो इनके ऊपर कुछ प्रतिकूल ही प्रभाव पड़ा, किंतु सूफी संप्रदाय का इनके ऊपर अनुकूल प्रभाव पड़ना बिलकुल स्वाभाविक है। सूफी संप्रदाय इस्लाम की शाखा होते हुए भी अत्यंत उदार और सहिष्णु संप्रदाय था। बहुत सी रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा कट्टर धार्मिक विचारों का, जो इस्लाम में मान्य और आदृत हैं, सूफी साधकों ने विरोध किया। यद्यपि वे अपने

को इस्लाम और कुरान का अनुयायी मानते हैं, किंतु अनलहक का नारा बुलंद कर एक प्रकार से इस्लामी दर्शन से मौलिक मतभेद के प्रवर्तक बने। परिणाम-स्वरूप उन्हें कट्टर और धर्मांध मुसलमान शासकों का कोपभाजन बनना पड़ा। पर जो बहुत कुछ सामान्य मानवधर्म के प्रतिपादक और प्रचारक थे, वे इस संप्रदाय से अवश्य प्रभावित हुए, क्योंकि प्रेम की पीर को कबीरदास भी ब्रह्म और जीव दोनों के बीच मिलन की सबसे मजबूत कड़ी मानते थे। यह भी कहा जाता है कि कबीर शेखतकी, जो कड़ा मानिकपुर के रहनेवाले सूफी फकीर थे, के शिष्य थे। यद्यपि इस जनश्रुति का कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिलता है किंतु इससे यह अधिक पता चलता है कि कबीर की आस्था सूफी संतों और साधना में रही होगी। इस संबंध में यह भी ज्ञातव्य है कि कबीर की रचनाओं में सख्य या रतिभाव की व्यंजना केवल सूफी प्रभाव से आई हो, ऐसी बात नहीं है। अपने यहाँ पहले से भी स्त्री पुरुष अथवा प्रेमी प्रेमिका के रूप में जीव और ब्रह्म अथवा भक्त और भगवान् की कल्पना की गई है। कुछ विद्वानों के मत से उपनिषदों में प्रतिपादित अद्वैतवाद विभिन्न मार्गों से होता हुआ अरब पहुँचा था और सूफी संप्रदाय के उद्भव में उसके द्वारा महत्वपूर्ण प्रेरणा मिली थी। कबीरदास ने अपने स्वामी के प्रति अत्यंत प्रेम-विह्वल रूप से अपने भावों को व्यक्त किया है जिससे प्रेम की प्रत्येक अवस्था का संकेत मिलता है। मिलन, प्रतीक्षा और वियोग सभी अवस्थाओं की मनःस्थिति की व्यंजना बहुत ही मार्मिक रूप में कबीर ने की है। मिलन का वर्णन तो प्रेममार्गी परंपरा में कबीर ने कम किया है, पर योगमार्ग की परंपरा से कुछ अधिक अवश्य किया है। सहस्रार में कुंडलिनी का प्रवेश हो जाता है और वहाँ से वह अमृत की वर्षा करती है। वह चिरंतन आनंद की अवस्था है जहाँ का अनुभव करते समय, समय का व्यतिक्रम भूल जाता है, वह एक चिरानंद की स्थिति होती है[1]। वैसे प्रेम

---

1. करत कल्लोल दरियाव के बीच में, ब्रह्म की कौल में हंस झूले।
अर्ध औ उर्ध्व की पेंग बाढ़ी तहाँ, पलट मन पवन को कंवल फूले।
गगन गरजै तहाँ, सदा पावस झरै होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कतेब की गम्य नाहीं तहाँ, कहैं कब्बीर कोइ रमै सूरा।
गगन की गुफा तहँ गैब का चाँदना, उदय और अस्त का नाम नाहीं।
दिवस औ रैन तहँ नेक नहिं पाइए, प्रेम-परकास के सिंधु-माहीं।
सदा आनंद दुख-द्वंद्व व्यापै नहीं, पूरनानंद भरपूर देखा।
मर्म और भ्रांति तहँ नेक आवै नहीं, कहै कब्बीर रस एक पेखा।
हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० १५७।

तत्व को स्वयं में ही वे अत्यंत महत्वपूर्ण समझते थे और उसके द्वारा ही वे मिलन सुख का अनुभव भी कर लेते थे—

पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत ॥[1]

यही नहीं, उस प्रेम के प्रभाव से मनुष्य का अंतःकरण अत्यंत निर्मल हो जाता है और उसमें कस्तूरी की सी सुगंधि भर जाती है। उस सुवास को वाणी चतुर्दिक वितरित करती है—

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, बांणीं फूटी बास[2] ॥

कबीर का चित्त अब बिल्कुल आश्वस्त हो गया है। उन्हें प्रेम के द्वारा उस संसार रूप सागर में बहुत ढूँढ़ने के पश्चात् एक प्रेमरूपी ऐसा रत्न मिल गया है जिससे अब उनकी कोई मनोकामना शेष नहीं रह गई।

कबीर दिल स्याबित भया, पाया फल संम्रथ्य।
सागर माँहि ढंढ़ोलतां, हीरै पड़ि गया हथ्य ॥[3]

सूफी कवियों ने प्रेम की सार्थकता वियोग में मानी है। उनके मिलन का लक्ष्य तो जीवनोपरांत है। इहलौकिक जीवन परमात्मा रूपी प्रेमिका से वियोग का काल है। उसमें जितनी ही अधिक तीव्रता और तड़पन होगी, उतनी ही प्रेम में सबलता आवेगी। विरह को प्रेम की परिपक्वता के लिये अनिवार्य माना है। कबीरदास ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जिस शरीर में वियोग का संचार नहीं होता उसे बिलकुल श्मशान समझना चाहिए—

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान ॥[4]

कबीरदास का विश्वास है कि प्रेमी से मिलन सुख का आनंद लेने के लिये अग्नि-परीक्षा में प्रवेश करना ही होगा। उसके बिना प्रेम का लक्ष्य नहीं मिल सकता,

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३।

२. वही, पृ० १३।

३. वही, पृ० १५।

४. वही, पृ० ४।

इसीलिये वे संतों को सलाह देते हैं कि तुम हँसना बंद करो और रोने को अपनाओ—

कबीर हसणाँ दूरि करि, करि रोवण सों चित्त।
बिन रोयाँ क्यूँ पाइए, प्रेम पियारा मित्त॥[1]

साधु इस वियोग के कष्ट को स्वेच्छा से अपनाता है। वियोग में जिस प्रकार की भी यातना सहनी पड़े, वह उफ तक नहीं कहेगा—

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजै घाव।
साधू अंग न मोड़ही, ज्यूँ भावै त्यूँ खाव॥[2]

विरह की अवस्था और मिलन की व्याकुलता इतनी प्रबल है कि कबीर को इतने पर भी संतोष है कि शरीर को जलाने पर उसका धुआँ भी प्रियतक पहुँच कर उसके हृदय में करुणा का संचार कर सके—

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि॥[3]

इस वियोग कष्ट के कारण वियोगी की बुरी दशा है। निरंतर उसकी आँखों से आँसू की धारा रहट के पानी की तरह बहा करती है। वियोगी पपीहा की तरह निरंतर नाम की रट लगाए रहता है।[4] प्रेमी के आने की प्रतीक्षा करते युग बीत गया। आँखें बराबर रास्ते पर बिछी हुई हैं। उनमें झाँई पड़ गई। जीभ में भी नाम का रट लगाने से छाला पड़ गया। अंत में वियोगी उस सीमा तक पहुँच

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० ६।
२. वही, पृ० ६।
३. वही, पृ० ८।
४. नैंनां नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।
पपीहा ज्यूँ पिव पिव करौं, कबरू मिलहुगे राम॥
अँषड़ियां झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि॥
वही, पृ० ६।
यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउं।
लेखणिं करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउं॥
वही, पृ० ८।

गया है कि वह शरीर को जलाकर स्याही कर देना चाहता है और अस्थियों को लेखनी बनाकर राम का नाम अंकित कर उन तक पहुँचाना चाहता है।

विरह की इस सामान्य अवस्था के अतिरिक्त कबीर ने अपने प्रेम और विरह की व्यंजना बहुत प्रत्यक्ष और सीधे ढंग से की है। दाम्पत्य रति में जितनी निकटता और जितने दर्द का अनुभव होता है उतना और किसी प्रकार के प्रेम में नहीं। इसलिये कबीर अपने इस संबंध की घोषणा बहुत स्पष्टता से करते हैं—

हरि मेरा पीव भाई, हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।[1]

कबीर अब अपने राम से निवेदन करते हैं कि मेरे घर शीघ्र पधारें। वे कहते हैं कि दुनियाँ को तो यह विदित हो गया कि मैं तुम्हारी पत्नी हूँ किंतु मुझको तो यही चिंता है कि वह प्रेम कैसा जब तक उसमें पूर्ण एकात्मकता नहीं होती। विरहिणी को प्रिय के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है। घर, बाहर कुछ भी अच्छा नहीं लगता। जिस प्रकार कामी पुरुष को स्त्री की धुन लगी रहती है और प्यासे को पानी की ही तलाश रहती है, उसी प्रकार वियोगिनी को प्रिय की धुन लगी है। वह दूसरों से भी सहायता की याचना करती है कोई मेरा संदेशा तो सुना आता[2]। कबीर ने विरह अवस्था का जो वर्णन किया है उसमें वियोग की पीड़ा को व्यक्त करने के लिये जिन परिस्थिति और प्रसंगों की उद्भावना की है उससे और भी मार्मिकता आ गई है।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२५।

२. बालहा आव हमारे गेह रे, तुम्ह बिन दुखिया देह रे।
सब को कहै तुम्हारी नारी, मोकौं इहै अदेह रे।
एकमेक ह्वै सेज न सोवै, तब लग कैसा नेह रे।
आन न भावै नींद न आवै, ग्रिह बन धरै न धीर रे।
ज्यूँ कांमीं को कांम पियारा, ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे।
है कोई ऐसा पर-उपगारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भए हैं, बिन देखे जीव जाइ रे॥
वही, पृ० १६२।

कबीर जैसे तथ्यवादी कवि ने भावपक्ष की इस व्यंजना में अपनी काव्यगत अनुभूति का बहुत सुंदर वर्णन किया है—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन-मन मोर रहट-अस डोले, सून सेज पर जनम छिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै, सोई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया ॥[1]

उसी प्रकार बसंत के आगमन पर वियोगिनी की पीड़ा और भी अधिक बढ़ जाती है। उस समय उसकी तड़पन शरीर की सीमा तोड़कर जैसे मिलने के लिये अधीर हो उठती है। फागुन में वियोगजन्य कष्ट के कारण उद्वेलित हृदय की यह अधीरता कबीरदास के इन शब्दों में फूट पड़ी है—

रितु फागुन नियरानी हो कोई पिया सो मिलावे।[2]

कबीरदास की भक्ति में इस प्रेम का तत्व मूलतः अंतर्निहित था। अतः उनकी भक्ति में इसका गहरा रंग है।

गुरुनानक और सिक्ख संप्रदाय : मुख्य स्रोत

संत मत की विभिन्न शाखाओं और उनके विभिन्न प्रवर्तकों के बीच गुरु नानक के व्यक्तित्व और उनके द्वारा प्रवर्तित सिक्ख संप्रदाय का महत्व अत्यंत अधिक है। गुरु नानक का जन्म और कार्यक्षेत्र पंजाब था, जहाँ पर मुसलमानों का प्रभुत्व बहुत पहले से था और इस कारण इसलामी धर्म और संस्कृति की नींव भी, अन्य प्रांतों की अपेक्षा, यहाँ पर गहरी थी। इसलिये ऐसा समझना असंभव नहीं है कि उनके ऊपर न तो मुसलिम प्रभाव ही बहुत गहरा था और न हिंदू जोगी और तत्संबंधित हठवाद का ही। आचार्य क्षितिमोहन सेन और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह अनुमान है कि उत्तर भारत में संत परंपरा को वहन करनेवाली कुछ ऐसी वयनजीवी जातियाँ और वर्ग थे, जो पहले हिंदू थे किंतु मुसलिम धर्म प्रचार के प्रवाह में किसी प्रकार इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गए थे। अतः उनके ऊपर मुस्लिम एकेश्वरवाद, सूफी संप्रदाय और उसकी प्रेममूला-भक्ति का बहुत गहरा प्रभाव था। साथ ही उनका संपर्क हिंदू संप्रदाय के अंतर्गत

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० २०१

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० २६६।

चली जाती हुई दीर्घ परंपरा से भी था, जिसमें पुस्तक ज्ञान को आवश्यक समझकर शरीर साधना की आवश्यकता और महत्व को स्वीकार किया गया था। इंगला, पिंगला, सहस्रार, अनाहत नाद की व्यापक चर्चा हम इन संतों में पाते हैं। इसी प्रकार से प्रेममूला भक्ति के अंतर्गत मुसलमानी प्रभाव से प्रेरित सख्य और दांपत्य प्रेम का संबंध भी 'राम' के साथ स्थापित किया गया था। तीसरे प्रकार की अंतर्धारा उस भक्ति की मिलती है, जिसमें दैन्य और नम्रता का भाव ग्रहण कर, भक्त भगवान् की वत्सलता की मनुहार करता है और सर्वस्व भूलकर केवल भगवान् की शरण में आ गिरता है। नानक में उपर्युक्त दोनों प्रभाव अर्थात् कामसाधना की परंपरा या प्रेममूला भक्ति दोनों का ही अत्यंत क्षीण प्रभाव लक्षित होता है। उनमें सबसे प्रमुख विशेषता निराकार ईश्वर के प्रति प्रपत्ति भावना प्रतीत होती है।

कई अंगरेज लेखकों ने नानक को बिलकुल इस्लाम धर्मावलंबी बतलाया है और इसके प्रमाणस्वरूप उनकी शिक्षा और वचनों के उद्धरण तो दिए ही हैं, उनकी बाह्य वेषभूषा का भी प्रमाण रखा है।[1] नानक अपने शिर पर मुसलमान फकीरों जैसी पगड़ी बाँधते थे। इसलिये इसे भी उन्होंने अपने वक्तव्य की पुष्टि में एक प्रमाण माना है। किंतु नानक की वेशभूषा में सभी प्रकार की विशेषताओं का मिलन था। वे शिर पर मुसलमान कलंदरों की टोपी या पगड़ी धारण करते थे, अपने ललाट पर हिंदुओं की भाँति केसर का तिलक लगाते थे और गले में हड्डियों के मनके की एक माला डाल लेते थे। इनके शरीर पर इसी प्रकार की एक लाल वा नारंगी के रंग की जैकेट रहा करती थी, जिस पर ये एक सफेद चादर डाले रहते थे[2]। अतः स्पष्ट है कि इस आधार पर कोई भी निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा। नानक में कबीर की तरह खंडनमंडन की तीव्र प्रवृत्ति नहीं थी। यह तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने निराकार परमात्मा की उपासना का उपदेश दिया, मूर्तिपूजा को अनावश्यक कहा और वर्णव्यवस्था की सीमा को स्वीकार नहीं किया, पर नानक ने जो कुछ भी कहा है उसमें एक मधुर तर्कना है, चोट पहुँचाने की भावना नहीं है। न जाने कैसे एक अंगरेज लेखक ने नानक को मूर्ति और वर्ण व्यवस्था का उग्र विरोधी समझा और इसका श्रेय दिया उनपर पड़े हुए गहरे इसलाम के प्रभाव को[3]।

---

१. फ्रेडरिक पिन्काट : 'द डिक्शनरी आफ इस्लाम', परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० ३४०।

२. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० २६३।

३. 'प्राबेबुली मच आव हिज प्रोटेस्टिंग जील, आव हिज फरी, अगेंस्ट आइडोलाटरी, आव हिज बिटर्नेस एंड वायलेंस अगेंस्ट दोज विथ हूम ही डिड नाट

आश्चर्य है, इस्लाम के प्रभाव को प्रमाणित करने के लिये नानक पर ऐसी बातों का आरोप कर दिया, जो संभवतः उनमें थी ही नहीं। नानक पर मुसलमानी प्रभाव की प्रतिक्रिया संभवतः इसी रूप में हुई थी कि उन्होंने हिंदू धर्म के अंतर्गत एक ऐसा व्यावहारिक मार्ग चलाने का निश्चय किया, जिससे धर्म अपनी निर्बलता और विकारों को त्यागकर पवित्र और आकर्षक हो जाय। मुसलमानी प्रभाव की एक प्रतिक्रिया संभवतः यह भी रही हो कि नानक को अन्य धर्मप्रचारकों की अपेक्षा विशेष रूप से इस आवश्यकता का अनुभव हुआ हो कि व्यर्थ के खंडनमंडन, दार्शनिक ऊहापोह और विचार के द्वंद्व को छोड़कर हिंदू समाज के संमुख ऐसा मार्ग प्रस्तुत किया जाय, जिसमें आचरण की पवित्रता एवं कर्म और भावना की शुद्धता को ही सबसे अधिक महत्व प्राप्त हो। नानक ने सिक्ख संप्रदाय के अंतर्गत इन्हीं मौलिक तथ्यों और आवश्यकताओं को लिया। यह अवश्य है कि उन्होंने अपने मत को इस प्रकार प्रशस्त और सभी प्रकार की रूढ़ियों से मुक्त रखा जिससे उनके मत में मुसलमान और हिंदू दोनों ही बिना किसी कठिनाई के प्रवेश कर सकते थे। उन्होंने इसलाम के प्रति चुभती हुई विरोध की बात कहीं नहीं कही। एकेश्वरवाद, मूर्तिपूजा का खंडन और सामाजिक समता, इस्लाम संप्रदाय के मेरुदंड हैं, जिन्हें नानक ने माना। इस कारण मुसलमानों के लिये भी उनके संप्रदाय में आकर्षण के काफी तत्व थे, फलस्वरूप कई मुसलमान दीक्षित भी हुए थे। गुरुनानक का प्रिय सहचर मर्दाना मुसलमान था। सिक्ख गुरुओं का मुगल बादशाहों के साथ आरंभ में काफी मैत्री संबंध था। प्रसिद्ध है कि हुमायूँ ने सिक्ख गुरु से आशीर्वाद प्राप्त किया था। इन सब तथ्यों से यही प्रमाणित होता है कि सिक्ख गुरुओं का संबंध आरंभ में मुसलमान शासकों और जनता के साथ अच्छा था। पर इसका निष्कर्ष यह कदापि नहीं निकाला जा सकता कि सिक्ख धर्म के जन्म में मूल प्रेरणा इस्लाम की थी।

यह आश्चर्य की बात है कि उपर्युक्त तीन बातों को ही आधार मानकर सिक्ख संप्रदाय में ही नहीं, प्रायः समूचे भक्ति और संत संप्रदाय की प्रेरणा में इस्लाम का प्रभाव देखा जाता है। स्पष्ट है, ऐसे विचारकों और विद्वानों के संमुख सहजयानी सिद्धों का साहित्य और नाथ संप्रदाय की सामग्री उपलब्ध नहीं थी, अन्यथा उनकी दृष्टि भारतीय संस्कृति के मूल उत्स में ही इन सभी आंदोलनों की प्रेरणा देख पाती। इस संबंध में द्रष्टव्य है कि जिस एकेश्वरवाद[१] को लेकर

ऐग्री वाज द रेजल्ट आव दीज एक्सकर्शंस इन इस्लाम।

डोरोथी फील्ड : द रेलिजन आव द सिक्खज, पृ० ३६।

अनेक विदेशी और डा० ताराचंद जी जैसे लब्धप्रतिष्ठ देशीय विद्वानों ने इस्लामी प्रभाव का डंका बजाया, वह एकेश्वरवाद न तो कबीर के सिद्धांतों में है और न नानक के। इस्लाम का ईश्वर संत साधकों का निरगुन और निराकार ब्रह्म नहीं वरन् वह सभी उपाधियों और महान् विशेषताओं से संपन्न सर्वशक्तिशाली नियामक है। संत कवियों ने बहुदेववाद की निंदा अवश्य की है, उसकी व्यर्थता प्रतिपादित की है। किंतु यह प्रवृत्ति तो हिंदू समाज में पुरोहितवाद और कर्मकांड के प्रति विद्रोह रूप में बहुत पहले से विद्यमान थी। लोकभाषा में उस भावना को इन संत कवियों ने ओजस्वी और बलवान स्वर में मुखरित किया।

मूर्तिपूजा तथा इसी प्रकार के अन्य वाह्य प्रतीक या कर्मकांड का विरोध भी उसी परंपरा की विरासत थी।[1] सिद्ध, सहज संप्रदाय, नाथ संप्रदाय शरीर को ही तीर्थ मानता था और इसी कारण मंदिर, मूर्ति और अनेक प्रकार की तीर्थ-यात्राओं को सर्वथा निरर्थक समझता था। जैन मुनि रामसिंह भी इसी स्वर में अत्यंत आक्रोश के साथ मूर्ति और मंदिर की निरर्थकता प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं 'मूर्ख उन देवालयों को तो देखता है जो लोगों के द्वारा बनाए गए हैं, किंतु अपनी देह नहीं देखता जहाँ संत शिव स्थित है।[2]'

जातिवाद के विरोध का भाव मुसलमानों के आने के बाद इस देश में उत्पन्न हुआ, कहना उस समूची परंपरा के प्रति अपना अज्ञान प्रदर्शित करना है जो महात्मा बुद्ध से बराबर कबीर तक अप्रतिहत रूप में बहुत ही स्पष्ट, निर्भीक और तीखे रूप से यह कार्य करती आई है। इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं। वास्तव में इस प्रकार के अनुमान करनेवाले व्यक्ति इतिहास के केवल राजनैतिक घटनाक्रम से परिचित रहे हैं, जिनमें देश और समाज के जीवन के सच्चे मूल्यांकन के लिये उचित संतुलन और दृष्टि का अभाव था, क्योंकि उन्हें उस समय के प्रणीत

---

१. तीर्थ तपोवन न करहु सेवा। देह सुची ना होवै पावा।
ब्रह्मा विष्णु महेश्वर देवा। बोधिसत्व ना करहु रे सेवा।।
देव न पूजहु तीर्थ न जावा। देव पूज तें मोच्छ न पावा।
राहुल सांकृत्यायन : तिलोपा; हिंदी काव्यधारा पृ० १७५।

२. मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं।
पाहुड़ दोहा (१८०), हिंदी काव्यधारा पृ० २६०।

साहित्य की जानकारी नहीं थी। यदि वह उन्हें होती तो डा० ताराचंद जैसे ऊँचे विद्वान समूचे संत और भक्ति आंदोलन के पीछे इस्लामी आदर्शों की प्रेरणा का दर्शन नहीं करते। आश्चर्य है कि वे भक्ति आंदोलन को मुसलमानी प्रभाव से उद्‌भूत प्रमाणित करने के लिये दक्षिण में मुसलमानी बस्तियों का उद्‌घाटन करते हुए, अंदल, रामानुज और शंकराचार्य सभी को उनसे प्रभावित होने की संभावना पर संकेत करते हैं[1]।

गुरु नानक का सिक्ख धर्म वास्तव में हिंदू धर्म के ही शुद्धीकरण का प्रयास था और उसका परिवर्तित रूप था। गुरू के लिये यह आवश्यक था कि उस समय मुसलमानी प्रभाव जो राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में हिंदू आदर्शों को आक्रांत कर रहा था, उससे हिंदू समाज को युक्ति और कौशल से मुक्तकर, उसे एक सबल आधार पर प्रतिष्ठित करते। सबल आधार यही हो सकता था कि यहाँ से सभी प्रकार की बुराइयों और दोषों को निष्कासित किया जाय और इस प्रकार आंतरिक स्वास्थ्य लाभकर, स्वाभाविक रूप से यह सतेज बने। इसी कारण उन्होंने सिक्ख संप्रदाय को चरित्रप्रधान और व्यावहारिक रूप प्रदान किया। कबीर ने सिद्धांतों और नियमों की प्रखरता में अपनी गरिमा दिखलाई, चैतन्य ने हृदय की शुद्धता और व्यक्तित्व के आकर्षण से तत्कालीन समाज को प्रभावित किया, किंतु नानक में शुद्ध और पवित्र व्यावहारिक आचरण की प्रधानता थी, जिसके कारण सिक्ख संप्रदाय की नींव इतनी गहराई से इस देश में जमी कि अनेक झंझा और वात्याचक्र के प्रहार के उपरांत भी आज तक सुरक्षित है। कबीर की शिक्षा और रचनाओं में सत्य की प्रखरता होते हुए भी वे स्थायी रूप न ग्रहण कर सकीं। चैतन्य की भी शिक्षाओं को वह स्थायित्व नहीं मिला, जो गुरु नानक को मिला,। उसके कई कारणों में एक प्रमुख कारण यह भी था कि वे सिद्धांत और तर्क की ऊहापोह में बहुत नहीं पड़े और न उन्हांने अकारण किसी को विरोधी ही बनाया। विरोध में वहीं तक उन्होंने बातें कहीं जहाँ तक कहना अनिवार्य था। इसी कारण आरंभ में हिंदू और मुसललान दोनों ने ही उनकी बात को आदर के साथ सुना और ग्रहण किया।

नानक के विचारों में एक ओर तो निर्गुण और निराकार उपासना के प्रति आस्था दिखाई पड़ती है और दूसरी ओर उनमें प्रगाढ़ प्रपत्ति भावना मिलती है। नामस्मरण और प्रपन्न भावना में स्पष्ट रूप से नानक की स्थिति कबीर, दादू

---

१. डा० ताराचंद : इंफ्लुएंस आव इसलाम पृ०, १११–१५

आदि दूसरे संत कवियों और साधकों से भिन्न है। उनमें सूफी प्रभाव बहुत कम लक्षित होता है। मधुर भाव की भक्ति अथवा दांपत्य या रति भावना का कहीं कहीं हल्का आभास मात्र मिलता है। अतः यहाँ भी इस्लामी प्रभाव की अपेक्षा हिंदू प्रभाव ही अधिक लक्षित होता है।

निर्गुण उपासना और प्रपत्ति भावना

नानक ने सभी भक्तों की तरह परमात्मा को भी भक्ति के ही अधीन माना है। वह भक्ति भी केवल उसी को प्राप्त होती है जिस पर भगवान् की कृपा होती है। नानक कहते हैं 'तुझे वही गाते हैं जो तुझे अच्छे लगते हैं और वे तेरे रसिक भक्तजन होकर तेरे प्रेम में सने होते हैं[1]।' वह भगवान् परम दयालु और परम समर्थ है। निर्गुणी को गुणी और गुणी को निर्गुणी बना सकता है। नानक कहते हैं कि उस परमात्मा की महिमा अनेक सयाने लोगों ने अनेक प्रकार से कहा है, पर वे इतना मात्र ही कहना अलम् समझते हैं कि वह मालिक बड़ा है और उसका प्रकाश भी बड़ा है। वह परमात्मा ही है जिसका किया होता है और कोई कुछ नहीं कर सकता[2]। इतना कहने के बाद भी उनको संतोष नहीं होता। यद्यपि वे भिन्न भिन्न देवी देवताओं में विश्वास तो नहीं करते, किंतु उस परमात्मा की महिमा को हिंदू जनता पर स्पष्ट करने के लिये कभी कभी उनका उल्लेख कर देते हैं। वे किस प्रकार उस परमशक्ति के संमुख नत मस्तक रहते हैं और उसकी गुणगाथा का निरंतर गान करते रहते हैं इसे भी बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जल, वायु और अग्नि उस परमात्मा का गान करते रहते हैं, धर्मराज उसके द्वार पर बैठा रहता है[3]। धर्मराज के मुनीम चित्रगुप्त भी उसका गान करते हैं, जो निरंतर मनुष्यों के कर्मों को लिखना जानते हैं और जिनके लिखे पर धर्मराज जीवों की गति का निपटारा करते हैं। नानक उस परमात्मा को 'सत्य रूप' बतलाते हैं। वे कहते हैं 'सत्य

१. सेई तुधु नो गावहिं जो तुधु भावनि रते तेरे भगत रसाले।
तेजसिंह (संपादक) जपुजी, पृ० १३८।

२. नानक आखनि सभु को आँखें। इकदू इकक सिआणा।
जपुजी, पृ० ११४।

३. गावहिं तुहनो पउण पाणी वैसंतक गावै राजा धर्म दुआरे।
गावहिं चित्रगुपतु लिखि जाणहि, लिखि लिखि धर्म विचारे।
वही, पृ० १२६।

ही पमरात्मा है। अतीत, वर्तमान और भविष्य, त्रिकाल में सत्य ही परमात्मा का रूप रहा है[1]।'

ऐसे अपार महिमावाले सत्य स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कैसे की जाय? नानक एक सबसे अकाट्य उपाय बतलाते हैं, वह है उसके 'हुकुम' का पालन करना। 'हुकुम' की बहुत व्यापक व्याख्या नानक ने की है। नानक तो प्रत्येक वस्तु को उसी 'हुकुम' के अंदर समझते हैं और उनका यह भी कथन है कि जो उस 'हुकुम' को समझ लेता है, उसका अहं भाव मिट जाता है[2]। उसी की आज्ञानुसार मनुष्य अच्छे बुरे स्वभाववाले होते हैं और आज्ञानुसार लिखे कर्मों पर दुख सुख पाते हैं[3]। इसी 'हुकुम' को जो प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के साथ ही लिखा हुआ होता है, मानने से उस परमात्मा को पाया जा सकता है। उसके हुकुम को स्वीकार करो, उसका आचरण करो, इस प्रकार से अपने में से 'अहं' को मिटा दो तो फिर उससे दूरी और द्वित्व मिट जाय।

उस परमात्मा का नामकथन भी उसकी प्राप्ति में बहुत सहायक होता है। गुरु नानक नाम जपने की प्रक्रिया को यांत्रिक नहीं मानते। केवल मुख से शब्द मात्र का उच्चारण करना तो उसी प्रकार का आडंबर है, जिस प्रकार के दूसरे छापा तिलक आदि हैं। अतः व्याख्याकारों ने उसे स्पष्ट किया है। पहले तो 'जप' शब्द का प्रयोग केवल नाम उच्चारण या रटने के ही अर्थ में नहीं होता है। इसका प्रयोग 'ध्यान' के अर्थ में भी होता है। सुखमनी में आया है 'नानक जपि जपि जीवे हरि के चरन।' सिक्ख धर्म में नाम जपने से भाव यह है कि परमात्मा का स्वरूप तो गुरु साहब के शब्द द्वारा अनुभव होता है, उसमें ध्यान जोड़ना।[4] 'अतः इसी जप के द्वारा मन का मैल धुलता है। गुरु नानक विस्तार से बतलाते हैं कि किस प्रकार नामस्मरण मन के मैल को धोता है। वे कहते हैं कि यदि हाथ पाँव

१. 'आदि सचु जुगादि सचु। है भी सचु नानक होसी भी सचु।'
वही, पृ० ८।

२. हुकमै जे अंदीर सभु को, बाहीर हुकमि न को नानक हुकमै बुझै, त हँउ मैं कहै न कोय॥
वही, पृ० ४२।

३. हुकमी उतमु नीचू हुकमु लिखि दुख सुख पाई अहि।
वही पृ० ३६।

४. वही पृ० १००।

या शरीर का कोई अंग मिट्टी से लथपथ हो जाय तो उसे पानी से धोकर साफ करते हैं। यदि मूत्र से दुर्गंधित कपड़े हों तो साबुन लगाकर उसे धोते हैं। इसी प्रकार यदि हमारा अंतःकरण पाप द्वारा मलिन हो जाय तो वह परमात्मा के नाम के प्यार से धोया जा सकता है।[1] नाम की महिमा का जिसे तिल भर भी ज्ञान हो गया तो उसे तीर्थों के स्नान, तपसाधन, जीव दया और दान सभी से बढ़कर पुण्य मिला[2]। सुखमनी साहब नाम का ग्रंथ जो गुरु अर्जुन द्वारा प्रणीत है, नाम की महिमा को बड़े ओजस्वी और दृढ़ आस्था के साथ प्रतिपादित करता है। उसमें जिस भक्ति भाव और एकांत निष्ठा के साथ नाम की महिमा कही गई है, उसे देखकर तो प्रतीत होता है कि सिक्ख धर्म और भक्ति संप्रदाय में बहुत मौलिक अंतर नहीं है। यह अवश्य है कि जपने की यह क्रिया पूरी भक्ति और निष्ठा के साथ होनी चाहिए। सुखमनी साहब के कुछ उद्धरण सिक्ख संप्रदाय में नाम-स्मरण के महत्व को स्पष्ट करने के लिये उपयोगी होंगे।

हरि का नाम ही पारिजात वृक्ष है। हरि गुण का गान करना ही कामधेनु है। सर्वोत्तम हरि कथा है। नामश्रवण से पीड़ा और दुख दूर होता है। नाम महत्व का संत हृदय में बास है। संत प्रताप से सब पाप भाग जाते हैं। नाम सम और कोई वस्तु नहीं है। हे नानक, गुरु द्वारा कोई बड़भागी जन ही नाम को पाता है। अनेक शास्त्र और स्मृतियाँ हैं। सबको विचार कर देखा। हे नानक, हरिनाम तुल्य कोई नहीं है, नाम अमूल्य पदार्थ है।[3] नाम के इस महिमा से स्पष्ट है कि सिक्ख संप्रदाय में भावना और हृदय की सच्चाई का ईश्वरप्राप्ति में बहुत महत्व माना गया है।

---

१. भरीये हथु पैर तनु देह। पाणी धोते उतरसु खेह।
मूत पलीती कपड़्ड होइ। दे साबुन लइये उहु धोइ।
भरीये मति पापा के संग। उहु धोये नावे के रंगि।
वही पृ० १०५–६।

२. तीर्थं तपु दइआ दतु दान। जेको पावै तिल का मान।
वही पृ० ११२।

३. सुखमनी साहिब, प्रकाशक; खालसा टेक्ट सोसायटी पृ० १९।

सिक्ख संप्रदाय में गुरु का भी अत्यंत ऊँचा स्थान है। गुरु का ही स्थान 'परमात्मा' के समान माना गया है। एक ही गुरु की आत्मा दसों गुरुओं में व्याप्त मानी जाती है। इसीलिये गुरु ग्रंथ साहब में यद्यपि सभी गुरुओं की रचनाएँ हैं, किंतु सभी ने 'नानक' शब्द का प्रयोग किया है। सिक्ख संप्रदाय में गुरु के महत्व को देखकर कुछ लोगों ने उन्हें सूफी धर्म से प्रभावित माना है। हिंदू संप्रदाय में गुरु का आदर और संमानपूर्ण स्थान कोई बात नहीं है। प्राचीनतम साहित्य से लेकर आधुनिकतम साहित्य में गुरु देवता और ईश्वर की तरह पूजनीय माना गया है। यह अवश्य है कि इन नए संप्रदायों में गुरु की महिमा एक विशेष आग्रह और निष्ठा के साथ कही गई है। उसका कारण सूफी धर्म नहीं था। कारण बहुत कुछ नए संप्रदायों की साधना पद्धति थी। ये सभी संप्रदाय मुख्य रूप से जनता के बीच से उन्हीं के आदमियों द्वारा उद्भूत हुए। उनमें पांडित्य और पुस्तकीय ज्ञान का विशेष प्रवेश नहीं था। बल्कि इन साधकों और संतों ने पुस्तकों के ज्ञान और पांडित्य को सदैव ही शंका और अविश्वास की दृष्टि से देखा था। कारण कि यह ज्ञान कुछ थोड़े से व्यक्तियों की धरोहर था। आम जनता यदि शिक्षित रही भी हो तो वह तत्वज्ञान संबंधी इन सूक्ष्म भेदों से उदासीन अवश्य रही। इस प्रकार पांडित्य मुट्ठी भर लोगों की निधि होने के कारण, सामान्य जनता के शोषण का साधन बन गया। इसका बड़ा सुंदर उदाहरण गुरु अर्जुन ने अपने दो भक्तों नानू और कालू को समझाते हुए दिया है। उन्होंने कहा है कि जिस सर्प के शिर में मणि रहा करती है, वह उसकी सहायता से रात को उजेले में कीड़ों मकोड़ों को खाया करता है, वैसे ही जो शास्त्रादि में पारंगत विद्वान् भर होता है, वह उनके प्रदर्शन द्वारा साधारण जनता को आकृष्ट कर उनसे अनुचित लाभ उठाया करता है।[1] जितने भी संत हुए उसमें दो एक को छोड़कर प्रायः सभी या तो अशिक्षित थे अथवा साधारण शिक्षित थे किंतु किताबी ज्ञान न होते हुए भी आत्मज्ञान का तेज था। उनकी शिक्षा और उपदेश तथा साधना पद्धति सभी गुरु के उपदेश पर ही निर्भर रहती थी। अतः बिना किसी ग्रंथ की सहायता के गुरु ही एकमात्र ऐसी शक्ति था, जो सभी अनुयायियों के लिये प्रमाणस्वरूप और मार्गदर्शक हो सकता था। इसलिये गुरु की महिमा का इनमें उदात्त स्वर में वर्णन किया गया है और उसके स्थान को सर्वोपरि कहा गया है। सिक्ख धर्म को तो स्थायी बनाने में इसी

गुरु का स्थान

---

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० ३१६।

गुरु परंपरा ने सबसे अधिक सहायता दी। अतः संत संप्रदाय की गुरु परंपरा में सूफी प्रभाव देखना शुद्ध भ्रम है। काय साधना में विश्वास करनेवाले सभी संप्रदायों में गुरु की महिमा इसी प्रकार मानी गई है। सहजयान नाथ संप्रदाय और शैवागमों में गुरु की महिमा का अंत नहीं है।

गुरु नानक कहते हैं 'गुरु की भक्ति का वास्तविक रहस्य कोई प्राणी क्या जान सकता है। यह तो ब्रह्मा, इंद्र तथा महेश के लिये भी अगम्य है। वह जिस किसी को चाहे 'अलख' का दर्शन करा सकता है। बिना उसके ऐसा होना कदापि संभव नहीं कहा जा सकता।'[1] जपुजी में गुरु नानक कहते हैं, 'यदि केवल गुरु का उपदेश सुनोगे तो तुम्हारी समझ में से हीरे और मोतियों जैसे गुण प्रकट होंगे[2]।' गुरु के उपदेश सुने बिना मनुष्य की बुद्धि तमस से आवृत होती है, अपने पूरे गुण के साथ प्रकाशित नहीं होती है। प्रत्येक मनुष्य के भीतर रत्नों के सदृश सद्‌विचार छिपे पड़े रहते हैं। वह उन्हें स्वयं देखने में असमर्थ रहता है। गुरु की कृपा से, उनके द्वारा दी गई दृष्टि से वह उन्हें पहचानने में समर्थ होता है और इस प्रकार वह आत्मदर्शन और परमात्मदर्शन करता है। इसी कारण गुरु का महत्व है। गुरु की शिक्षा सुनने से ही बड़े बड़े पीर, नाथ और सिद्धों के वास्तविक ज्ञान और स्थिति का पता लगता है। उसी से पृथ्वी, आकाश और पाताल के लोगों के रहस्य को जाना जाता है और जिसने गुरु की शिक्षा अच्छी तरह सुन ली है, उस पर मृत्यु अपना प्रभाव नहीं जमाती है। गुरु की शिक्षा सुनने से शिव जी, ब्रह्मा और इंद्र की वास्तविक दशा का पता चल जाता है। उसी प्रकार शास्त्र, स्मृति और वेद के भी यथार्थ का उसे ज्ञान हो जाता है। गुरु द्वारा बतलाए हुए मार्ग पर चलने से सिक्ख को कोई बाधा नहीं पड़ती। संसार में वह संमान का पात्र होता है। गुरु नानक यह भी कहते हैं कि जो गुरु के उपदेश मानकर उनका व्यवहार करता है, वह पगडंडियों पर चलना छोड़कर राजमार्ग को ग्रहण करता है। गुरु के शब्द द्वारा ही अंत में वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। गुरु की शिक्षा से वह न केवल अपना उद्धार करता है, वरन् ऐसे अन्य लोगों का भी करता है जो उसकी वाणी सुनते हैं। गुरु के शब्द सुनने और मानने से मनुष्य को दरबदर याचना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है[3]। गुरु की महत्ता जो सिक्ख-

१. पं० परशुराम चतुर्वेदी द्वारा उद्धृत आदि ग्रंथ मारू ११, पृ० १०३२।

२. मति विचि रतन जवाहर माणिक जो इक गुरु की सिख सुणी।
जपुजी पृ० ५६।

३. जपुजी के आधार पर।
नि० सा० पृ० ८ (११००—६१)

संप्रदाय में दिखाई गई है वह इसीलिये कि बिना सच्ची शिक्षा और उपदेश के मनुष्य को सच्चे मार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता। गुरु के प्रति अनुयायियों की आस्था दृढ़ करने की इसलिए आवश्यकता थी कि एक ओर तो प्रचलित हिंदू और मुसलिम मान्यताओं का विरोध और खंडन किया जा रहा था तथा दूसरी ओर एक लौकिक प्रतीक की भी आवश्यकता थी। हिंदू समाज में मूर्ति, तीर्थ, ग्रंथ, पुरोहित आदि सभी लौकिक थे, जिनके सारे अनुयायी अपने धार्मिक विश्वासों को बाँधे रखते थे। सिक्ख और दूसरे निराकारवादी संप्रदायों में इन सभी प्रतीकों को पाखंड कहकर अस्वीकार कर दिया गया था। ईश्वर की भी साकार सत्ता को नहीं माना गया था। अतः ऐहिक जीवन में ईश्वर के बाद गुरु को ही दूसरा स्थान प्रदान किया गया। कबीर ने तो यहाँ तक कहा कि गुरु और गोविंद में हम गुरु को ही पहला स्थान देंगे। सिक्खों में भी लौकिक गुरु और ईश्वरीय गुरु में अंतर करना कभी कभी कठिन हो जाता है। वाह गुरु, सतगुरु प्रायः परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। उसी प्रकार गुरु शब्द लौकिक गुरु के लिये भी आया है। शब्दों के प्रयोग में यह अभिन्नता गुरु और परमात्मा के पारस्परिक सत्ता की अभिन्नता को प्रतिपादित करती है।

ईश्वर की महत्ता

सिक्ख संप्रदाय में निराकार अर्थात् रूप-रेख-हीन परमात्मा की कल्पना की गई है, किंतु भक्ति की जो विह्वलता, अंतरंगता और निबिड़ तथा एकांत प्रपत्ति-भावना उनके यहाँ वर्णन में आई है, किसी भी साकार उपासक और भक्त से कम नहीं। सिक्ख संप्रदाय के जपुजी, साहब, आसाजी की वार सुखमनी, गुरु ग्रंथसाहब, सभी ग्रंथों में परमात्मा की महत्ता और भक्त की सेवक-सेव्य-भावना का बहुत ही सरल रूप में वर्णन किया गया है। जपुजी में तो विस्तार के साथ और मनोवैज्ञानिक ढंग से भक्तिभावना की पूर्ण निष्पत्ति कराने की चेष्टा की गई है। परमात्मा सृष्टि का एकमात्र स्रष्टा, रक्षक और नियामक है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। वही मात्र सृष्टि की रचना का ठीक रहस्य जानता है। कहने के लिये तो प्रत्येक व्यक्ति एक से एक सयाने होकर परमात्मा की व्याख्या और विशेषता बतलाते हैं, किंतु नानक का कथन है कि 'बड़ा साहब बड़ी नाई कीता जाना होवे।' (वह मालिक बड़ा है और उसका प्रकाश भी बड़ा है। वह परमात्मा ही है जिसका किया होता है। और कोई कुछ नहीं कर सकता।) परमात्मा की महत्ता मानव-जीवन में, और देवताओं के जीवन में सर्वोपरि सिद्ध की गई है। अनेक देवी देवता भी उस परमात्मा के संमुख हाथ बाँधकर खड़े रहते हैं। इस परम भूतिमय, ऐश्वर्य-

संपन्न, भक्तवत्सल परमात्मा की शरण आकर अनन्य भक्ति के साथ उसकी कृपा प्राप्त करने से ही मनुष्य का उद्धार हो सकता है। यह भी साथ साथ बतलाया गया है कि जो उसकी भक्ति से विरत होता है, उसे वह नरक में भी ढकेल देता है। एक ओर तो वह भक्तवत्सल है किंतु साथ ही साथ कर्मानुसार फल भी देनेवाला है। इसीलिए उसने धर्मराज को प्रतिष्ठित किया है ताकि प्रत्येक जीव का लेखा ठीक ढंग से रखा जा सके और प्रत्येक के साथ न्याय हो सके। जो मनुष्य सत्कर्म नहीं करेगा वह स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता है[1]। इसीलिए भक्त अनंत विनीत और नम्र स्वर में निवेदन करता है कि हे गोविंद राम राजे, हम अत्यंत मूर्ख आपकी शरण आए हैं। हे आनंदस्वरूप हमको अपने संग मिला ले। हे वाह गुरू, आपकी एक भक्ति माँगकर हमने एक आपही को पाया है[2]। भगवान् की इस भक्ति का उद्रेक भक्त के हृदय में गहराई से करने के लिये जपुजी-साहब में उसकी महानता का वर्णन विस्तार से किया गया है। वह परमात्मा ऐसा है कि उसको प्रशंसा करनेवाले यद्यपि प्रशंसा करते हैं, पर उन्हें यह पता नहीं रहता कि उसकी बड़ाई कितनी है। समुद्र में जैसे नदी नाले पड़ते हैं पर उसे पूरी तरह समझ नहीं पाते हैं, वही स्थिति गुणगान करनेवालों की है। भगवान् के भक्तों का उसकी कृपा से क्या महत्व हो जाता है, यह अनुमानातीत है। संसार के महान् वैभवशाली भी उसके संमुख तुच्छ हैं। कहा है कि वह शाहंशाह जो समुद्रों का मालिक है और जिसके पास धन पर्वतों से नापा जाता है, वह भी उस तुच्छ कौड़ी के बराबर नहीं जिसे परमात्मा हृदय से नहीं भूलता। परमात्मा के गुणों का कोई अंत नहीं और न गुणों के वर्णन करने का ही अंत है। उसके कार्यों का कोई अंत

---

१. पउड़ी नानक जीअ उपाइ कै लिखि नावै धरमु बहालिआ।
उथै सचो ही सचि निबड़े चुणि वखि कढ़े ज जमालिआ।
थाउ न पाइनि कूड़ि आर मुँह कासै दो जकि चासलि आ।
तेरे नाद रते सि जिणि गए हारि गएसि ठगण वालिआ।
लिखि नावे धरमु बहालिआ।
आसा जी की वार, पृ० १६।

२. हम मूरख मुगध सरणागती मिल गोविंद रंगा राम राजे।
गुरु पूरे हरि पाइआ हरि भगति इक मंगा।
मेरा मनु तनु सबद विगासिआ जपि अनंत तरंगा।
वही, पृ० १६।

नहीं और न कोई अंत उसके देने का है। परमात्मा की रचना में देखने और सुननेवाली वस्तुओं का कोई हिसाब नहीं। उसने जो सृष्टि बनाई है उसका अंत नहीं मिलता और न उसके आरपार का पता लगता है। जितना बड़ा वह है केवल वही जानता है। कोई दूसरा नहीं जानता। नानक कहते हैं कि जो वस्तु हमको मिलती है वह उसी की बख्शीस और कृपा से मिलती है। देने में उसे तिल भर भी संकोच नहीं। मुक्तहस्त होकर वह भक्तों को देता है। मनुष्य की मुक्ति भी उसी की कृपा से होती है। दूसरे किसी को मुक्ति का अधिकार नहीं। परमात्मा स्वयमेव हमारी आवश्यकताएँ समझ लेता है और स्वयमेव वह हमारी आवश्यकताओं को पूरा करता है। यह परमात्मा अनंत क्षमाशील है। यह उसका अमूल्य गुण है कि वह पापियों को क्षमा कर देता है। वह परमात्मा ऐसा है कि उसका गुण वर्णन करने में बड़े से बड़े देवता आदि तल्लीन हैं। 'कई ब्रह्मा और इंद्र, गोपी और गोविंद, शिवजी और बहुत से सिद्धादि और बहुत से पंडित उसके गुण का कथन करते रहते हैं। देवता, दैत्य, महात्मा और ऋषि सब उसका गुणगान करते रहते हैं। यही नहीं जल, वायु और अग्नि भी उसका गायन करते हैं। धर्मराज भी द्वार पर बैठा गुणगान करता है। स्वर्ग, पाताल और सात लोक की सुंदर स्त्रियाँ जो मन को मोहनेवाली हैं, उसका गायन करती हुई उसकी सुंदरता को प्रकट कर रही हैं। उसके उत्पन्न किए हुए रत्न 'अठासठ' (अड़सठ) सतीर्थों सहित उसकी शोभा बतला रहे हैं[1]।'

जिनके हृदय में राम रम रहा है, उन्हें न कोई मार सकता है और न कोई ठग सकता है। वे किसी के भुलाने से नहीं भूलते। यहाँ पर नानक भी भगवान् की भक्ति में उसी प्रकार का आत्मविश्वास दिखला रहे हैं जैसा कबीर आदि पूर्ववर्ती संतों ने दिखाया था। भक्त मृत्युंजय होता है। मृत्युंजय उसे बिलकुल नहीं सताता[2]।

इस प्रभु की प्राप्ति के लिये केवल शरण में गिरना, उसकी सच्ची भक्ति प्राप्त करना मात्र साधन है। यह भक्ति भी सबको नहीं मिलती है। सभी संप्रदाय के भक्तों का यह विश्वास है कि भक्ति बहुत ही अलभ्य पदार्थ है। प्रत्येक व्यक्ति केवल इच्छा करने से भक्ति नहीं पा सकता। इसके लिये प्रभु की कृपा आवश्यक है। जिस पर भगवान् की कृपा होती है, उसी को यह भक्ति प्राप्त होती है। जपुजी में गुरु नानक कहते हैं 'सेई तुधु नो गावहिं जो तुधु भावनि रते तेरे भगत रसाले।'

१. जपुजी, पद सं० ११३–१५० ।

२. जपुजी, पद सं० ११३–१५० ।

तुझे वही गाते हैं जो तुझे अच्छे लगते हैं और जो तेरे रसिक भक्तजन होकर तेरे प्रेम में सने होते हैं। ऐसे भाव और भी कई स्थलों पर आए हैं। इसके अतिरिक्त नानक ने एक और बात बारबार दुहराई है। यह है क्रियाशीलता की प्रेरणा। वे बारबार याद दिलाते हैं कि बिना कर्म के कुछ भी संभव नहीं। 'जेती सिरठि उपाई वेखा विणु करमा कि मिले लई।' (जितनी सृष्टि उत्पन्न की हुई देखता हूँ उसमें बिना कार्य किए क्या मिलता है जो मैं लूँ)। भाव यह कि भगवान् की भक्ति जैसी महान् वस्तु बिना साधन किए संभव नहीं है। दूसरे स्थल पर वे कहते हैं 'आपे बीजि आपे ही खाहु' (जो आप बीजते हो वह आप ही खाते हो) कर्म से ही भगवान् की भक्ति संभव है। बिना शुभ कार्य किए भक्ति नहीं हो सकती—'विणु गुण कीते भगति न होय।' सिक्ख संप्रदाय में भगवत् कृपा और भक्त की कर्तव्यनिष्ठा दोनों पर ही समान बल दिया गया है।

निःसंग भाव

भगवद्भक्ति की प्राप्ति में सबसे अधिक बाधक तत्व अहंकार है। निःसंग भाव से ही उसकी उपलब्धि संभव है। इस निःसंगता की प्राप्ति के लिये अद्वैत भाव से परमात्मा का शरणागत होना तथा बाह्योपचारों में विश्वास न करना—दो गुरु मंत्र हैं। बाह्योपचार अहंकार की व्यापक परिधि में ही आता है। इस अहंकार का ज्योंही उन्मूलन किया गया, भक्त भगवान् का सानिध्य प्राप्त कर लेता है। अहंभाव ही मनुष्य को भटकाकर अनेक गलत रास्तों पर ले जाता है और परमात्मा की विभूति को देखने नहीं देता है। जीव अहंकार के ही कारण जन्म लेता है और अहंकार पूर्वक ही मरकर परलोक में जाता है। जीव अहंकारवश ही दान देता और लेता है। जीव अहंकार के ही कारण कमाता और खाता है। अहंकारवश ही जीव सच्चा और झूठा है। अहंकार में ही पुण्य और पाप का विचार करता है। जीव अहंकार-वश ही नरक और स्वर्ग में जन्म लेता है। अहंकार के ही कारण जीव हँसता और रोता है। जीव अहंकारवश ही पाप मल से भरता और धोता है। अहंकार के ही कारण जीव मूर्ख और सयाना है। जीव अहंकार में आकर ही जीवनमुक्ति और विरहमुक्ति के सार को नहीं जानता। माया और अविद्या दोनों अहंता में है। अहंकार ने ही जीव उत्पन्न किए हैं। यदि यह जीव समझ ले कि यह अहंकार व्यर्थ ही है, तब जीव की दृष्टि में परमात्मा का स्वरूप आ जाय[1]।' इससे स्पष्ट है

---

१. आसा जी की वार, पृ० ४६-४७।

कि अहंकार ही द्वित्व का कारण है। अहंकार के मिट जाने पर द्वित्व भी मिट जाता है। जीव और ब्रह्म एक दूसरे से एकात्म हो जाते हैं।

भक्त भगवान् के समीप सर्वथा निस्संग और निरस्व होकर जाता है। उस समय वह भगवान् से उसकी शरण की याचना करता है 'हे दीनदयाल, हरिप्रभु, हरिराय हमारी एक विनती सुनो, 'मैं केवल आपकी शरण ही माँगता हूँ जिससे मेरे मुख में आपके अमृतोपम नाम की प्राप्ति हो जाय। हे भक्तवत्सल भगवान्, यह आपकी प्रतिज्ञा है कि जो आपकी शरण में आया है, उसकी लज्जा आप रखते आए हैं। हे भगवान्, मैं आपकी शरण आया हूँ। मुझे भी तार लीजिये[1]।' परमात्मा' के प्रति अनन्यभाव से शरण की याचना प्रायः की गई है। वह परमात्मा माता, पिता और गुरु है। भक्त बालक है। वह प्रायः अपराध ही करता है, किंतु भगवान् भक्त के इन सभी अपराधों को क्षमा कर अपना लेता है। वह कहता है कि आप उत्तम बुद्धि देकर हमें उचित शिक्षा दें। भक्त तो भगवान् का दास है। भगवान् उसकी सब प्रकार से लज्जा रखें। भगवान् के प्रति प्रपत्तिभावना, जो दास्य भक्ति का रूप है, प्रायः उनकी रचनाओं में मिलता है। सिक्ख धर्म की भक्ति भावना में इश्क या प्रेम का माध्यम बहुत ही कम स्थलों पर स्वीकार किया गया है। जो लोग सिक्ख धर्म पर सूफी प्रभाव देखते हैं, उनकी दृष्टि में ही कुछ भेद या भ्रम प्रतीत होता है। अन्यथा गुरुनानक और दूसरे भी गुरु दास्य और प्रपत्ति की भावना के साथ परमात्मा के समक्ष जाते हैं, प्रेम भाव लेकर नहीं।

सिक्ख धर्म में इसी भक्ति को सर्वस्व समझा गया है। इसके अतिरिक्त जितने अनेक प्रकार के कर्मकांड हैं, उनकी प्रसंगवश व्यर्थता बतलाई गई है। बहुधा जो यह कहा गया है कि गुरु नानक ने हिंदू रूढ़ियों का बहुत तीव्र ढंग से विरोध किया है, सर्वथा सत्य नहीं प्रतीत होता है। गुरु नानक की रचनाओं में केवल प्रसंगवश वाह्य कर्मकांडों का विरोध किया गया है। उसमें जिहाद का सा तीव्र स्वर नहीं हैं। हिंदू धर्म के भिन्न भिन्न देवी देवताओं की स्थिति या अस्तित्व

---

१. छंतु, दीनदयाल सुणि बेनती हरि, प्रभु हरि राइआ राम राजे।
हउ मागउ सरणि हरि नाम की हरि हरि मुखि पाइआ।
भगति वछलु हरि बिरदु है हरि लाज रखाइआ।
जनु नानकु सरणागति हरि नाम तराइआ।
आसा जी की वार, पृ० २४।

को उन्होंने स्पष्ट रूप से कहीं भी इनकार नहीं किया है। धर्मराज, यमराज, चित्रगुप्त, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि का उल्लेख कई स्थलों पर आया है। यह अवश्य है कि वे परमात्मा को इन सब देवी देवताओं से बहुत ऊँचा मानते हैं। उन्होंने इनकी न तो निंदा की है और न प्रशंसा। उनका उल्लेख तुलनात्मक ढंग से किया है अर्थात् परमात्मा की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिये किया है। डा० गोकुलचंद नारंग ने भी इसी तरह का मत प्रतिपादित किया है[1]। उन्होंने जातिवाद, तीर्थ, यज्ञोपवीत, तिलक, माला आदि का जहाँ तहाँ विरोध अवश्य किया है। उक्त मत के ग्रंथ 'आसाजी की वार' से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

यह जीव पुस्तक के पाठ और लेखन में जितना ही व्यस्त हुआ, उतना ही दुखी होता गया। जितने अधिक तीर्थों में इसने भ्रमण किया, उतना ही अधिक बकवादी और वाचाल हुआ। जितना ही अधिक वेष किया, उतना ही शरीर को अधिक दुख दिया। हे जीव, अब अपना किया सँभालो। तुम अन्न को खाते नहीं हो केवल स्वाद मात्र लेते हो। तत्व को नहीं ग्रहण करते हो, ऊपर के आकर्षण में उलझते हो। मनुष्य के अनेक दुखों का कारण वह करता है। मनुष्य वस्त्र नहीं पहनता। बहुत से योगी सन्यासी विवस्त्र ही रहते हैं और इस प्रकार शरीर को दुख देते हैं। मौन साधना करके भी अनेक कष्ट भोगते हैं। नंगे पाँव रहते हुए मानो अपनी किसी बुराई का फल वे भोगते हैं। निर्जन बन, मढ़ी और मसान में रहकर एकांत साधना की प्रवंचना यह मनुष्य करता है, किंतु जानता नहीं कि ये सभी साधन व्यर्थ हैं। जीवन के अंत में उसे पश्चाताप करना पड़ता है। वास्तव में हरि नाम को मन में जिन्होंने बसाया है, वे सच्चा सुख पाते हैं[2]।

इस भक्ति की प्राप्ति के लिये जो अनेक प्रकार के नाच, गान, टीका और दूसरे प्रसाधन हैं, उनकी बड़ी व्यंग्यात्मक आलोचना 'आसा जी की वार' में की गई है। गुरु और चेला मिलकर नाचगान का स्वांग रचते हैं। *चेला गाने बजाने का काम करते हैं और गुरु नाचते हैं। नाचते समय पैरों को हिलाते हैं और शिर को फेरते हैं। इस प्रकार धूल उड़ उड़कर सबके शिर पर पड़ती है। देख कर सब लोग हँसते हँसते घर जाते हैं, ये सब रोटी जीविका वृत्ति के लिये ताल पर नाच

1. डा० गोकुलचंद नारंग : ट्रांसफार्मेशन आव सिक्खिज्म, पृ० ११।
2. आसा जी की बार, पृ० १२।

गा रहे हैं। जीवन निमित्त कभी तो गोपी बन के नाचते हैं, कभी श्रीकृष्ण। कभी सीता कभी राजा राम बन के गाते हैं।......यदि नाचने कूदने से मुक्ति हो, तब यह सब नाचते और कूदते हैं यथा कोल्हू, धरावा, कुलाल की चक्की या दही मथने की मथानी और वे बैल जो निकालने के लिये घुमाए जाते हैं। वे उस पक्षी की तरह हैं जो बराबर घूमता रहता है विश्राम नहीं करता। श्री गुरु कहते हैं कि घूमने वालों की गिनती करने से अंत नहीं। मोहादि बंधनों से बंधे जीव को वाहि गुरु स्वयं घुमाता है। कर्मानुसार सब कोई नाच रहे हैं।...वास्तविक बात यह है कि नाचना और कूदना यह मन का भाव है। श्री सत्गुरु जी कहते हैं जिनके मन में प्रभु भय है उनके मन में प्रभु प्रेम है।[1] इसी प्रकार जपुजी में जोगियों की भी अनेक प्रकार की वेष भूषा, साधना और पद्धतियों को नानक ने व्यर्थ बतलाया है। हृदय की सच्ची भक्ति ही आवागमन से मुक्त होने के लिये सबसे उपयोगी मार्ग है। वे कहते हैं—

'मुदा संतोखु सरम पतु झोली, ध्यान की करहि बिभूती।'

(संतोष की मुद्रा पहन कर, परिश्रम का खप्पर और झोली बना परमात्मा को सदा स्मरण करने की विभूति लगा।) एक दूसरे स्थल पर वे नाथपंथियों को सिद्धि-साधना और चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति को व्यर्थ कहते हैं और भगवद्प्राप्ति में उसकी आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं :—

'अप्पनाथु नाथी सम जाकी, सिद्धि सिद्ध अवरा साद।'

(वह आप ही नाथ है, जिसने सब सृष्टि नाथ रखी है। चमत्कार की इच्छा एक और ही साध्य है।)

सूत के यज्ञोपवीत को नानक व्यर्थ समझाते हैं, क्योंकि यह गंदा हो जाता है और बाद में टूटकर गिर जाता है। वे ऐसा जनेऊ चाहते हैं जो कभी भी टूट कर गिरे नहीं, दया रूप सूई, संतोष रूप सूत, यज्ञ पालन रूप गाँठ, सत्य संभाषण रूप बट होना चाहिए। हे पंडित, पूर्वोक्त सामग्री का तैयार किया हुआ यज्ञोपवीत यदि तुम्हारे पास है, तब हमारे गले में डाल दो क्योंकि यह न तो टूटेगा, न इसको मल लगेगा, न जलेगा और न कहीं जायगा। वह मनुष्य धन्य है, जो इस सर्वोत्तम जनेऊ को पहनकर चलता है। वह जनेऊ बेकार है, जो बाजार से मोल मँगा लिया और चौके में बैठ कर गले में पा लिया। तथाकथित गुरु ने कान

१. आसा जी की वार, पृ० ३३-३५।

में दीक्षा दी और ब्राह्मण ने अपने आपको गुरु मान लिया। जब पहननेवाला मरा तब वह जनेऊ झड़ कर गिर पड़ा[1]।

स्पर्शास्पर्श आदि को भी नानक जी ने अनावश्यक माना है। भोजन के समय वाह्य छूत से तो मनुष्य अपने को बचाता है, किंतु अपने दुष्कर्मों की छूत से बचने की चेष्टा नहीं करता। वे कहते हैं कि भोजन का चौका पूरते हो। लकीर बनाते हो। उस पर तुम्हारे ही समान पाखंड में विश्वास करनेवाले आकर बैठते हैं और दूसरों की छूत से अपने को बचाते हैं; क्योंकि तुम समझते हो कि उस छूत से तुम्हारा भोजन नष्ट हो जायगा। वैसे वे अपने अनेक मंद कर्म और शरीर के विकार को नहीं देखते हैं।[2]

नानक ने केवल विद्याध्ययन को निरर्थक माना है। अनेक स्थलों पर उन्होंने अपने इन विचारों को प्रकट किया है। बार बार वे आत्मज्ञान की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं। मनुष्य भले ही पढ़ते पढ़ते पुस्तकों को पूरा गाड़ी भर इकट्ठा कर ले और पूरे ऊँट का बोझ तैयार हो जाय। इतना हो कि रखने की जगह न रह जाय तो जमीन में गढ़ा खोदकर भर दे। अपनी पूरी जिंदगी के सब महीने और वर्ष केवल पठन पाठन का ही काम करे। यहाँ तक कि प्रत्येक साँस के साथ उसका वेदाध्ययन चलता रहे तो भी यह सब अहंकार का झगड़ा झगड़ा ही है।[3]

परमात्मा नाम के बिना तिलक का लगाना और यज्ञोपवीत का पहनना कुल व्यर्थ है (पृ० ५४) ब्राह्मणादि जातियाँ, पशु पक्षी आदि पदार्थ और नीलादि रंग ये सभी माया रूप हैं (पृ० २३)। इस तरह सिक्ख धर्म की साधना में मूल वस्तु भक्त की भावना को स्वीकार किया गया है। कबीर ने इला, पिंगला की बहुत चर्चा की है, योग की निंदा भी की है, किंतु सहस्रार चक्र के अनहत्-नाद को सुनने के भी वे आकांक्षी हैं। उन्होंने अपनी उलटबासियों के द्वारा अपने वचनों को कहीं कहीं पर बहुत गुह्य भी बनाया है और साधो को ललकारा भी है कि हमारा अर्थ समझो। नानक में यह सब कुछ नहीं है। उनमें अपूर्व विनम्रता है। विरोध भी यदि किया है, तो नितांत अनिवार्य होने पर। किंतु उसमें ललकार और चुनौती नहीं है। उन्होंने योग संप्रदाय और शरीर साधना का बहुत कम उल्लेख किया है।

---

१. आसा जी की वार पृ० ६६।
२. वही, पृ० ११०।
३. वही, पृ० ५६।

वास्तव में शरीर साधना की विभिन्न क्रियाओं की व्यर्थता भी उन्होंने संकेतित की है। वे सर्वोपरि चाहते हैं मन की शुद्धता, भावना की पवित्रता और आचरण की उच्चता। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि नानक मुसलमानी प्रभाव के बीच रहते हुए भी अन्य संतों की अपेक्षा कम प्रभावित हुए। हठवादियों की भी अनेक चमत्कार बहुल साधनाओं के प्रभाव में नहीं पड़े। उन्होंने अनेक प्रकार के दूसरे भी साधनों को नहीं अपनाया, जिससे जनता प्रभावित होकर उनकी ओर आकृष्ट हो। सूफी संप्रदाय का भी बहुत कम प्रभाव नानक पर लक्षित होता है। सूफी संप्रदाय के आशिक-माशूक की चर्चा भी कम है। उनमें विरह की पीर की अपेक्षा परमात्मा की शरणागति की इच्छा अधिक है। वास्तव में गुरु नानक का धर्म नितांत व्यावहारिक है। अनेक प्रकार की साधनाओं के संग्रह के फेर में न तो वे पड़े और न दर्शन की ऊँची कल्पना और गहरे तत्व-चिंतन में ही अपनी मेधा और प्रज्ञा का उपयोग किया। उन्होंने केवल मनुष्य के कार्य और आचरण की मर्यादा निर्धारित की। इसके साथ ही मन और विचार की पवित्रता के साथ परमात्मा की करुणा और कृपा की प्राप्ति को परमावश्यक माना। उन्होंने अपने को परमात्मा का प्रतिनिधि, दूत अथवा अवतार कहीं नहीं कहा है। गुरु की अपूर्व महिमा का प्रतिपादन कर अपने बाद गुरुओं की परंपरा और उन्हें उत्तराधिकारी बनाने की प्रथा को जन्म देकर, उन्होंने इसे बिखरने और विविध शाखाओं में विभक्त होने से बचा लिया। बाद के गुरुओं ने भी संगठन और एकीकरण के प्रयास को और अधिक पुष्ट बनाया। एक गुरु, एक ग्रंथ और एक भाषा, जो सिक्ख संप्रदाय में मान्य हुई उससे संगठन की एकता बनाए रखने में अपूर्व सफलता मिली। बाद में सिक्ख गुरुओं ने लंगर की प्रथा चलाई, जहाँ धनी निर्धन सब एकत्र एक जगह एक भोजन करते थे। इससे समत्व, भ्रातृत्व और एकत्व की भावना को बल मिला। गुरु नानक के व्यक्तित्व में जो व्यावहारिक क्षमता थी, उससे उनके कार्य का महत्व कबीर की अपेक्षा स्थायी और प्रभावशाली हुआ जिनमें चिंतन और अनुभूति की प्रतिभा अत्यंत प्रखर थी।

दादूदयाल

कबीरदास ने अपने संप्रदाय के साथ ही उत्तरी भारत में उस विशेष प्रकार की चिंता और आचरण का सूत्रपात किया, जिसे आगे आनेवाले अनेक संतों ने ग्रहण किया एवं अपने अपने ढंग से कुछ थोड़े बहुत हेर फेर के साथ उसे व्यक्त किया। दादू एक ऐसे ही संत थे, जो यद्यपि बहुत कुछ कबीर के विचारों के समीप थे फिर भी उनका अपना व्यक्तित्व था। यह कहा जा सकता है कि उन्होंने

उन्हीं सत्यों को जिन्हें कबीर ने व्यक्त किया है, अधिक नर्मी के साथ और ग्राह्य-रूप में व्यक्त किया है। दादूदयाल के जीवनवृत्त के संबंध में आज तक विवाद है कि वे जाति के धुनियाँ, मोची या ब्राह्मण थे। पं० सुधाकर द्विवेदी ने इन्हें मोची कहा है और इनका जन्मस्थान जौनपुर बतलाया है। इनका पहला नाम महाबली बतलाया है और यह कहा है कि स्त्री के मरने के बाद घर छोड़ साधु होकर बनारस चले गए; जहाँ ये कबीर के चेले कमाल के अनुग्रह से पूरे जोगाभ्यासी हुए।[1] इसके प्रमाण में वे एक दोहा मात्र उद्धृत करते हैं—

साचा समरथ गुरु मिला, तिन तन दिया बताय।
दादू मोट महाबली घट घृत मथी कर खाइ ॥[2]

इस एक दोहे के आधार पर इतना सब कुछ निष्कर्ष निकालना उचित नहीं प्रतीत होता, फिर इसके द्वारा निकाला गया अर्थ भी संदिग्ध है।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अनेक अनुश्रुतियों और सांप्रदायिक परंपरा से छानबीन कर यह स्थिर किया है कि वे वस्तुतः निम्नवर्ग के मुसलमान थे। दादू प्रायः धुनियाँ जाति में उत्पन्न कहे जाते हैं। बाउलों के लोकगीतों से तथा विभिन्न प्रदेशों के संतों से पूछताछ कर, यह निष्कर्ष निकाला है कि दादू मुसलमान थे। उन्होंने यह भी अनुमान लगाया है कि दादू धुनियाँ और मोची दोनों ही व्यवसाय से संबद्ध रहे होंगे। पंजाब में एक जाति पिञ्जारा नाम की होती है। ये लोग कभी धुनियाँ का काम करते हैं और कभी मोट के चमड़े की सिलाई करते हैं। इस जाति में दादू संप्रदाय के बहुत से अनुयायी भी हैं। अतः एक अनुमान उन्होंने यह भी लगाया है कि संभव है, दादू इसी जाति के रहे हों। दादू के प्रसिद्ध शिष्य रज्जब ने उन्हें 'पीर' कह कर संबोधित किया है।[3] यह भी इस ओर संकेत है कि दादू मुसलमान थे। दादू की रचनाओं में सूफी संप्रदाय की प्रेमाभक्ति की अत्यंत गहरी अनुभूति और दर्द मिलता है। हो सकता है, मुसलमान होने के कारण मुसलिम सूफी फकीरों की ओर विशेष आकृष्ट हुए हों और उनसे उनका संपर्क भी बना रहा हो। दादू के निम्नवर्गीय मुसलमान होने से यही सिद्ध होता

---

१. पं० सुधाकर द्विवेदी : दादूदयाल की बानी (प्रस्तावना)।

२. दादू दयाल की बानी, भाग १ (वे० वे० प्रेस), पृ० ४।

३. रज्जब रजा खुदाय की पाया दादू पीर।
कुल मंजिल महरम भया दिल नाहीं दिलगीर ॥

है कि कबीर ने हिंदू मुसलमान के मिलने का जो सामान्य मानवीय आधार स्थिर किया था, वह कालांतर में दृढ़ हो गया और दादू भी उसी परंपरा के प्रसिद्ध समर्थकों और पोषकों में से थे।

दादू के ब्राह्मण कुल में जन्म लेने की बात तो बहुत बाद उनके अनुयायियों ने उच्च जन्मा सिद्ध करने के लिये फैलाई। उनमें कोई तथ्य नहीं प्रतीत होता।

दादू का परब्रह्म संप्रदाय कहा जाता है। पहला नाम तो 'ब्रह्म संप्रदाय' था, किंतु बाद में संभवतः मध्वाचार्य के ब्रह्म संप्रदाय से इसे अलग सिद्ध करने के लिये इसका नाम परब्रह्म संप्रदाय रखा गया। दादू ने संभवतः संप्रदाय के रूप में कोई नया पंथ चलाने का विचार नहीं किया था। रज्जब की भी रचनाओं में इस संप्रदाय का उल्लेख नहीं है। बाद में शिष्यों ने ही इस नाम को प्रचलित किया।

दादूदयाल की साधना और वाणी में यद्यपि हमें कबीर का सामान्य समर्थन मिलता है, किंतु स्वर के उतार चढ़ाव में अंतर है। दादू के स्वर में कबीर जैसा आक्रोश नहीं है और न विरोधियों के लिये चुनौती या ललकार ही है। प्रायः वे अपनी बात विनीत और शिष्ट ढंग से कहते हैं। संत का स्वभाव शीतल जल के सदृश ठंडा होना ही चाहिए। दादू की रचनाओं से उनके इसी प्रकार के स्वभाव का पता लगता है। दादू ने रूढ़ियों के खंडन-मंडन में भी उतना आग्रह और तीव्रता का आभास नहीं दिया है जितना कबीर ने बाह्याचार एवं प्रदर्शन का विरोध और उसकी निरर्थकता सिद्ध की है, किंतु उसमें यथासाध्य अनुभूति और मर्म को व्यक्त करने की इच्छा लक्षित होती है, किसी के विरोध की आकांक्षा नहीं। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को इन्होंने बाह्याचार और पाखंड छोड़कर सहज धर्म और मार्ग पर चलने के लिये प्रेम पूर्ण निमंत्रण दिया है। अंतर्शुद्धि, आत्मज्ञान आदि की महत्ता को समझाकर ही वे बारबार साधकों और जनता को अपने मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। कबीर की तरह इनका दृष्टिकोण खंडनात्मक नहीं था। ये अपनी बात का ग्राह्य पक्ष विशेष रूप से उपस्थित करते थे। इसी से दादू का व्यक्तित्व तुलसी आदि भक्त कवियों के दास्यभाव से भींगा भींगा सा प्रतीत होता है। ज्ञानवाद के तर्क और विश्लेषण को इन्होंने धर्म प्रचार का मुख्य साधन न बनाकर आत्मसमर्पण पूर्णभक्ति ही को इसका माध्यम बनाया। दादू ने सूफी कवियों के दर्द और व्याकुलता के साथ भारतीय पद्धति के मर्यादित आत्मनिवेदन को समन्वित किया है। इस दृष्टि से भक्ति की सच्ची

भावभूति इनकी रचनाओं में उपलब्ध होती है। उपासना में अक्खड़पन का समावेश नहीं हो सकता। सहज सरल निरभिमान स्वभाव दादू का, सचमुच ही ऐसी भक्ति के अभिव्यक्ति के अनुकूल था। दादू बारबार कबीर के प्रति अपना आभार प्रकट करते हैं और यह स्वभाव ही उनका इस बात का द्योतक है कि वे अपने से बड़ों के प्रति अत्यंत विनयशील थे।

दादू की रचनाएँ कबीर की अपेक्षा प्रसादगुण से अधिक परिपूर्ण थीं। भाषा का सहज सौष्ठव उनकी वाणी में मिलता है। यद्यपि काव्य को दादू ने भी साधन के ही रूप में स्वीकार किया था, साध्य के रूप में नहीं, फिर भी उसका उपयोग उन्होंने मधुर और सार्थक वाहन बनाकर किया।

दादू की साधना

दादू निर्गुण ब्रह्म के आराधक होते हुए भी इतने भक्ति विह्वल थे कि आश्चर्य होता है कि शुद्ध निर्गुण का उपासक किस प्रकार ऐसी भक्ति का अर्जन कर सकता है। उनकी भक्ति, पूजन, अर्चन अथवा दूसरे प्रकार की अन्य अर्चा में विश्वास करनेवाली नहीं थी, किंतु नाम की महिमा दादू ने बड़े ही निविड़ भाव से कहा है। वैसे दादू ने प्रायः अनेक स्थलों पर निर्गुण और सगुण दोनों को ही विवादग्रस्त कहा है। अतः दोनों में किसी पर भी उनकी आस्था या आग्रह नहीं प्रतीत होता है। वे केवल अनुभूति और भाव प्रधान विश्वास को ही आराधक मानते थे[1]। दादू ने नामस्मरण की महिमा का जितने विचार और श्रद्धा के साथ वर्णन किया है, संभवतः तुलसीदास आदि का वर्णन भी उस टक्कर का नहीं। सगुण भक्तों के पूर्व ही इन निर्गुण भक्तों में राम नाम की महिमा का इतना विस्तारपूर्ण वर्णन यह प्रमाणित करता है कि निर्गुण उपासना शास्त्रीय मर्यादा और ज्ञानवाद के निर्धारित ढाँचों में ढली हुई नहीं थी, वरन् वह सहज लोक विश्वास को आधार मानकर केवल मानवीय गुणों का अवलंब लेकर चली थी।

---

१. दादू राम अगाध है, अविगत लखइ न कोइ।
निरगुन सरगुन का कहइ, नाउ विलंब न होइ।
दादू की बानी (भाग १) वे० वे० प्रेस, पृ० १८।
सरगुन निरगुन ह्वै रहै, जैसा तैसा लीन्ह।
हरि सुमिरन लव लाइए, का जानौ का कीन्ह।
वही, पृ० १८।

दादू का यह नामस्मरण अवश्य ही सगुण उपासकों अथवा शास्त्रीय परंपरा के अनुयायियों से अधिक उदार था। उनके लिए राम और अल्लाह का नाम-भेद बहुत महत्व का नहीं था। एक ही मैदा से जैसे विभिन्न पकवान बनते हैं, उसी प्रकार ईश्वर और अल्लाह का नाम-भेद है[1]। दादू ने इसी प्रकार अन्य पूर्ववर्ती संतों और भक्तों को भी इसी श्रेणी में रखा है और उनकी सिद्धि तथा सफलता का सारा दायित्व नामस्मरण पर ही माना है[2]। यह सहज विश्वास ही वास्तव में दादू संप्रदाय की विशेषता है।

दादू का सुमिरन भी अन्य लोगों के सुमिरन से भिन्न है। यह सुमिरन केवल शरीर का या जिह्वा का नहीं है। शरीर का सुमिरन तो तभी तक सुखद है जब तक आत्मा में सुमिरन नहीं होता।

दादू की साधना बिलकुल सत्य पर आधारित थी। उनका विश्वास था कि वाह्य आवरण और दिखावट और अनावश्यक कष्ट साधना बिलकुल व्यर्थ है[3]। वास्तव में सभी संत कवियों ने दिल की सचाई, अनुभव की सचाई और भावना की सचाई को ही ईश्वर प्राप्ति का साधन माना है। पाषंड और आडंबर से उन्हें तीव्र विरोध था। इसी आधार पर इन संत कवियों ने मूर्तिपूजा, तीर्थाटन और अन्य दूसरे कर्मकांडों की निंदा की है। दादूदयाल भी इसीलिए ऐसे मूर्तिपूजकों को अंधा कहते हैं जो ईश्वर को भूलकर केवल पत्थर पूजा को ही अपना लक्ष्य बना

---

१. एकै अल्लाह राम है, समरथ साईं सो।
मैदे के पकवान सब, खाना होइ सो होय॥

× × ×

दादू सिरजन हार के केते नाउ अनंत।
चित आवइ सो लीजिये, यों साधू सुमरहिं संत॥
वही, पृ० १६।

२. (दादू) कहं सिव बइठा ध्यान धरि, कहाँ कबीरा नाम।
सो क्यों छाना होइगा, जो रे कहैगा राम॥
दादू, की बानी, वे वे प्रेस (भाग १), पृष्ठ २७

३. सच बिन साईं ना मिलइ, भावइ भेष बनाइ।
भावइ करवत अरध मुख, भावइ तीरथ जाइ॥
वही।

लेते हैं। इस क्रिया को वे आत्मघातके नाम से पुकारते हैं[1]। जिस प्रकार संत कवि स्वानुभूति की सच्चाई को ही सच्ची आस्था और विश्वास के रूप में ग्रहण करते थे, उसी प्रकार वे वस्तु जगत् के सत्य को भी स्वीकार करते थे। इहलोक में प्राणियों को कष्ट देकर बैकुंठ में सुख पहुँचाने के प्रयास को वे निरा पाषंड मानते थे। प्रत्यक्ष में जो जीव को कष्ट पहुँचावेगा वह परोक्ष स्वर्ग में क्या सुख पहुँचा सकता है[2]।

हिंदू मुसलमान की अभिन्नता और एकता पर भी दादू ने बड़ी तर्कपूर्ण और ओजस्वी भाषा में अपने विचार व्यक्त किए हैं। इन संत कवियों ने मनुष्य के सभी वाह्य परिच्छेद, रूप और वर्ग तथा जाति प्रकार से ऊपर उठकर सब में एक मानव मात्र का प्रतिबिंब देखा है। मनुष्य के प्रति अगाध सहानुभूति और अपूरणीय प्रेम से उनका हृदय आप्लावित था। जहाँ कहीं मनुष्य में भेदभाव बना है, ऊँच नीच का बिलगाव है, उनका स्वर आक्रोश से परिपूर्ण हो उठता है और मानव को अपमानित करनेवाली इस व्यवस्था और प्रणाली पर वे निर्भय प्रहार करते हैं। दादू में आक्रोश यद्यपि कम है, किंतु मीठे तर्क और सद्भाव को जगाकर एवं मनुष्य को अपने दोष और कमी के प्रति जागरूक कर, उसे ठीक राह पर लाने के वे पक्षपाती थे[3]।

---

१. जग अंधा नैन न सूझइ, जिन सिरजै ताहि न बूझइ।
बाहन की पूजा करइ, करि आतमघाता।
निरमल नयन न आवइ, दो जग दिसि जाता।
पूजइ देव दिहाड़िया, महामाई मानइ।
परगट देव निरंजिना, ताकी सेव न जानइ।
भइ रो भूत सब भ्रम के, पशु प्रानी ध्यावइ।
सिरजनहारा सबनिका, ताको नहिं पावइ॥
दादू दयाल की बानी, (भाग दो), वे० वे० प्रेस, पृष्ठ ८३।

२. मवाँ पीछे बैकुंठ वासा, मूवँ सुरग पठावहिं।
मूआँ पीछे मुकुत बतावहिं, दादू जग बौरावै॥
वियोगीहरि: संत सुधासार, पृ० ४६४।

३. दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन है, हिंदू मुसलमान॥
वही, पृ० ४९५।

संत काव्य में गुरु की महिमा बहुत ही बड़ी मानी गई है। दादू का निजी गुरु कौन था, यह तो विवादग्रस्त है, किंतु उन्होंने अपनी रचनाओं में कबीर के प्रति अपना अटल विश्वास प्रकट किया है। इससे अधिक स्पष्टता और क्या हो सकती है कि वे कहते हैं कि मैं भी उसी ईश्वर को मानता हूँ जिसे कबीर मानते थे। उनको छोड़कर मन, वचन और कर्म से और किसी का आराधन नहीं कर सकता। दादू का यह विश्वास था कि गुरु के प्रति सच्ची आस्था और विश्वास भक्त को भी बिलकुल उनके अनुरूप बना देती है[1]।

दादू की रचनाओं में प्रेम का जितना मार्मिक और स्वाभाविक उद्रेक दिखलाई पड़ता है, उतना कम संत कवियों में है। मुसलमान होने के कारण भी संभव है उनके ऊपर सूफी प्रभाव अधिक पड़ा हो। किंतु सबसे बड़ी बात दादू का स्वभाव था। वे सहज ही अनुरागी व्यक्ति थे। द्वंद्व और संघर्ष उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था। मर्मी कवियों जैसी उन्हें प्रेम-आविल दृष्टि मिली थी। इसी से उन्हें सारी प्रकृति ही उस विराट पुरुष से मिलने की सजा में प्रतीत होती थी, जिसके लिए दादू स्वयं तड़पा करते थे। यद्यपि परमपुरुष को प्राप्त करने के लिये दादू ने 'आशिक माशूकाना' ढंग स्वीकार किया था, किंतु उसमें फारसी कवियों और संतों की तरह वह ऊहात्मक अभिव्यक्ति नहीं थी, जिसके कारण सारा वर्णन बहुत कुछ मखौल सा हो जाता है। उस अपूर्व प्रियतम से मिलने की अपनी उत्कट आकांक्षा को दादू ने स्वाभाविक ढंग से कहकर, जितना प्रभावशाली बनाया है उसे अतिरंजित कर कभी भी नहीं बना सकते थे। हरीभरी प्रकृति को देखकर दादू के हृदय में कैसी पवित्र और अनूठी कल्पना का उद्भव होता है। उन्हें प्रतीत होता है कि हरीतिमा का सुंदर परिधान धारण कर पृथ्वी अपने सुदूर आकाश में रहनेवाले प्रियतम से मिलन की तैयारी में है।[2] सारी सृष्टि में फल,

---

१. जो था कंत कबीर का, सोई वर वरिहूं।
मनसा, वाचा, करमना, मैं और न करिहूं।
वियोगी हरि, संत सुधा सार : पृ० ४८९।
जो कोई सेवइ राम को, राम सरीखा होइ।
दादू नाम कबीर ज्यों साखी बोलइ सोय।
वही।

२. आज्ञा अपरंपार की, बहि अंबर भरतार।
हरे पटंबर पहिरि कर, धरती करइ सिंगार।
दादूदयाल जी की बानी०, वे० वे० प्रेस, (भाग १), पृ० ४५।

फूल, हरियाली और उल्लास सभी उसी आनंद के द्योतक हैं, जो इस प्रेम मिलन के अवसर पर उद्भूत होता है[१]।

प्रेम के उपरांत विरह का समय आता है। प्रेम की परीक्षा और कसौटी यही विरह ही है। विरह के कष्ट से संतरूपी प्रेमी सच्चा प्रणयी हो सकेगा। बिना विरह के प्रेम में तीव्रता, कसकता और आस्था न होगी। सूफी कवि सारे जीवन को ही विरह की अवस्था मानते हैं। अपने प्रेम की लौ को इसी विरह की वायु से सुलगाकर उद्दीप्त करते हैं। अतः सूफी संप्रदाय में विरह वेदना को झेलना अनिवार्य और कल्याणकारी समझा जाता है। दादू ने भी इसी विरह की वेदना और तड़पन को अत्यंत मार्मिक शब्दों में प्रकट किया है। यद्यपि सूफी कवियों का प्रेम आध्यात्मिक था, फिर भी उसमें इतनी यथार्थता और सच्ची अनुभूति थी कि उससे ध्वनित होनेवाली व्याकुलता किसी को भी द्रवित कर सकती है। दादू बार बार अपने राम प्रेमी को बुलाते हैं। आतुर होकर विरहिनी उस प्रेमी के पंथ को देख रही है :—

> आवहु राम दया करि मेरे। बार बार बलिहारी तेरे।
> बिरहिनि आतुर पंथ निहारइ। रामनाम कहि पीव पुकारइ।
> पंथी बूझइ मारग जोवइ। नैन नीर जल भरि भरि रोवइ।
> निसि दिन तलफइ फिरइ उदास। आतम राम तुम्हारे पास।
> वय विसरे तन की सुधि नाहीं। दादू विरहिन मिरतक माहीं[२]।

उसी विरह की व्याकुलता में अनेक प्रकार की मनुहार करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि प्रेम ही जीवन का सबसे काम्य पदार्थ है। उसके बिना कोई भी आनंद सुखद नहीं हो सकता है, अमृत भी विष तुल्य प्रतीत होता है। अतः वे हर प्रकार से इस परम तत्व को स्थायी बनाने का आग्रह करते हैं :—

> सजनिआ नेह न तोरी रे। जो हम तोरहिं महा अपराधी,
> तऊँ तूँ जोरी रे।

---

१. बसुधा सब फूलइ फलइ, पृथिवी अनंत अपार।
गगन गरज जल थल भरै, दादू जय जयकार॥
वियोगी हरि : संत सुधासार, पृ० ४६१।

२. दादूदयाल की बानी (भाग २), वे० वे० प्रेस, पृष्ठ १३४।
नि० सा० पृ० ६ (११००–६१)

प्रेम बिना रस फीका लागइ, मीठा मधुर न होई।
सकल सिरोमनि सबदैं नीका, कड़ुआ लागइ सोई।
जब लगि प्रीति प्रेम रस नाहीं, त्रिखा बिना जल अइसा।
सबतें सुंदर एक अमीरस, होइ हलाहल जइसा।
सुंदर खाई खरा पियारा, नेह नवा नित होवइ।
दादू मेरा तब मन मानेइ, सेज सदा सुख सोवइ॥[1]

सच्चे भक्त के लिये अहं का त्याग और पूर्ण आत्मसमर्पण नितांत आवश्यक है। जब तक तिलमात्र भी बिलगाव का भाव बना हुआ है, प्रिय से सच्चा तादात्म्य नहीं हो सकता। भक्तों में दादू की निरीहता और दैन्य अप्रतिम है। भक्त और भगवान् के बीच जब तक यह अभिन्न स्थिति नहीं होती, तब तक भक्ति की पूर्ण निष्पति नहीं हो सकती। अभिन्नता का अनुभव ज्ञान और तर्क के द्वारा भी किया जा सकता है और भाव के द्वारा भी। दादू तो संत थे। ज्ञान और तर्क जो कोरी बुद्धि का परिणाम हो उससे उन्हे कोई सरोकार नहीं। वे तो आस्थावान साधक थे। भाव के द्वारा प्रेमी को जीतने के प्रयासी थे। अतः उन्होंने दैन्य और आत्म समर्पण का मार्ग स्वीकार किया। दादू का दैन्य जैसे उनके हृदय की गहराई से व्यक्त हुआ है। शिष्टाचार का दैन्य नहीं है। वह एक अनुभूत सत्य के रूप में व्यक्त हुआ है, जब भक्त यह सच्चाई से अनुभव करता है कि वह सर्वथा निःस्व है। भगवान् सभी शक्ति और क्षमता के उद्भव केंद्र हैं। अपनी इस निरीहता को ही दादूदयाल ने सीधे सादे शब्दों में जहाँ तहाँ व्यक्त किया है। हम कह सकते हैं कि मनुष्य की दैन्यानुभूति जब पारलौकिक अनुबंध में व्यक्त होती है, उसे ही भक्ति कहते हैं। इस अर्थ में दादू दयाल की भावभूमि भक्ति की अनुरूपिणी थी।

हमरे तुमही हो रखवाल।
तुम बिन और नहीं कोऊ मेरे, भव दुख मेटन हार।
वैरी पंच निमिष नहिं न्यारे, रोकि रहे जमकाल।
हा जगदीस दास दुख पावइ, स्वामी करहु संभाल।
तुम्ह बिन राम दहहिं एदुँदर, दसौ दिसा सब साल।
देखत दीन दुखी मों कीजइ, तुम्ह हौ दीनदयाल।

---

1. दादू की बानी, वे० वे० प्रेस, (भाग २), पृ० १८२।

निरभै नाउं हेत हरि दीजइ, दरसन परसन लाल।
दादू दीन लीन करि लीजै, भेटहु सब जंजाल[1]॥

इन पंक्तियों को पढ़कर दादू और किसी भी सगुण भक्त में क्या अंतर प्रतीत होगा? उनकी इस भक्तिभावना को देख कर तो उनकी यह पंक्ति स्मरण हो जाती है—

सरगुन निरगुन ह्वै रहै, जैसा तैसा लीन्ह।
हरि सुमिरन लौ लाइए, का जानउं का कीन्ह।

किंतु दादू का ईश्वर, कन्हैया ऐसा नहीं, जो किसी स्थान विशेष पर ही हो। उसकी ज्योति वे सारे विश्व में देखते हैं। वह सर्वत्र व्याप्त है। उसे जहाँ देखा और ढूँढ़ा जाय वह सर्वत्र मिल सकता है। उसकी क्रीड़ा कहीं भी देखी जा सकती है। अतः उसके ढूँढ़ने के लिये भटकने की आवश्यकता नहीं है[2]।

मुसलमानों के आगमन के साथ जिस सूफी संप्रदाय का प्रवेश इस देश में

---

१. दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० ५६।

२. (क) राम रमत देखइ न कोई। जो देखइ सो पावन होई।
बाहर भीतर नेड़ा न दूरि। स्वामी सकल रहा भरपूरि।
जहँ देखउ तहँ दूसरि नाहिं। सब घटि राम समाना माहिं।
जहाँ जाउँ तहाँ सोई साथ। पुरि रहा हरि त्रिभुवन नाथ।
दादू हरि देखे सुख होय। निसि दिन निरखन दीजइ मोंहि।
दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० १७१।

(ख) घटि घटि गोपी घटि घटि कान्ह। घटि घटि राम अमर अस्थान।
गंगा जमुना अंतरवेद। सुरसति नीर बहइ परसेद।
कुंज केलि तहँ परम विलास। सबके संग मिलि खेलइ रास।
तहाँ बिन बेना बाजइ तूर। बिगसइ कंवल चंद अरु सूर।
पूरन ब्रह्म परम परकास। तहाँ तिन देखइ दादू दास।
दादू दयाल की बानी, भाग २, पृ० १७३।

हुआ, उस पर भक्तिभावना का इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ था कि उसमें तथा भारतीय भक्ति परंपरा में एक स्पष्ट समानांतरता दिखाई पड़ती है। सूफी भावनाओं से भक्तिवाद भी प्रभावित हुआ और स्वयं सूफी धर्म भी हमारे देश की भक्ति परंपरा से संपृक्त हुआ। सूफी धर्म का जन्म मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् करीब करीब अढ़ाई सौ वर्ष बाद मानना चाहिए। अरब के मरुस्थल में प्रेम से सिक्त यह रसमयी धारा वहाँ के सिकता कणों को आविल करती, ईराक और फारस से मधुरिमा का संचय करती हुई भारतवर्ष में आई। सूफी धर्म के पीछे मानव आत्मा का अनेक प्रकार के विधिविधानों के जंजाल से मुक्त होकर अखिल सत्ता के साथ एक रूप होने की प्रेरणा ही मुख्य है[1]।

सूफी संप्रदाय उत्पत्ति और विकास

संप्रदायों का सदैव ही एक मार्ग रहा है—अनेक प्रकार के आचार, विश्वास और विधियों से अपने और अपने अनुयायियों को बाँधकर उन पर अपनी मुहर अंकित करने का प्रयत्न। इस्लाम में भी कुरान और शरियत के वसूलों से अपने अनुयायियों को कड़ाई से बाँधने की चेष्टा की गई थी। मुहम्मद साहब ने आचार की पवित्रता और सादे जीवन को ही धर्म की आधार शिला बनाई, किंतु उनके बाद के धार्मिक नेताओं ने इस्लाम को धार्मिक एकतंत्रवाद में इस प्रकार जकड़ा कि सामान्य व्यक्तियों की कौन कहे, बड़े बड़े नरेशों को भी खलीफा की कृपा की याचना करनी पड़ती थी। मुहम्मद बिन कासिम जैसे अनेक विजेताओं को खलीफा के अकारण क्रोध और प्रतिहिंसा के संमुख मूक रूप से अपने को बलिदान करना पड़ा। रोजा, नमाज आदि अनेक प्रकार के आचार थे जो मनुष्य की आत्मा को कैद किये हुए थे। सूफियों ने केवल ईश्वर के प्रति प्रेम को ही अपनी आस्था और निष्ठा का मुख्य आधार बनाया। मुसलमानों का यह विश्वास है कि ईश्वर सिंहासनारूढ़ हो निर्णय के दिन अंतिम रसूल के नेतृत्व में सबको प्रतिफल देता है। सूफी इसमें विश्वास नहीं करते। उनका कहना है कि मनुष्य का हृदय ही ईश्वर का सिंहासन है, जो मानव मन की आठ बौद्धिक शक्तियों रूप देवदूतों से उद्वहित है[2]। इसी प्रकार इस्लाम में स्वर्ग और नरक की भी कल्पना की

---

१. 'अनासक्ति का एक विंदु सहस्रों वर्षों की नमाज और रोजा से श्रेष्ठ है।' हसन (लिटरेरी हिस्ट्री आव अरब) सूफीमत साहित्य और साधना, पृ० २१६।

२. द डिवाइन थ्रोन इज कंसिडर्ड टु बि बार्न बाई एट ऐंजिल्स ऐंड सो आर द एट ह्यूमन फैकल्टीज।
आउटलाइंस आव इस्लामिक कल्चर, वाल्यू दो, पृ० ५२६।

गई है, किंतु सूफी इस प्रकार का स्वर्ग नरक नहीं मानता। उसके लिए ईश्वर से वियोग ही नरक है और उससे मिलन स्वर्ग है[1]। मुहम्मद साहब ईश्वर के पैगंबर हैं, ऐसा सभी मुसलमानों की तरह सूफी भी मानते हैं, इसके अतिरिक्त वे भक्त और भगवान् के बीच अनिवार्य रूप से मध्यस्त रहना नहीं मानते, क्योंकि सूफी तो अपने और अपने ईश्वर के बीच कोई व्यवधान नहीं चाहता[2]।

सूफी संप्रदाय में कुरान और मुहम्मद साहब के बावजूद भी गुरु का महत्व सर्वोपरि माना गया है। धर्म के विविध निषेधों और आदेशों के जाल से मुक्त होने में गुरु की भक्ति बहुत सहायक हो सकती थी। मुसलमानों में पाँच कर्तव्य आत्म-शुद्धि के लिये आवश्यक माने गए हैं—तौहीद (एक ईश्वर पर विश्वास) सलात (प्रार्थना) रोजा, जकात और हज। सूफियों में ये सभी कर्मकांड इसी रूप में नहीं मिलते। ईश्वर न्यायी और कठोर है, ऐसा कुरान में कहा गया है, किंतु वह दयालु और उदार भी बहुत अधिक है। अतः सूफियों ने पंचकर्मों द्वारा नहीं, वरन् अपने प्रेम द्वारा उसे पाने की चेष्टा की।

यदि इस्लाम के विकास और प्रचार के क्रम पर हम दृष्टि डालें तो अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सूफी धर्म का भी जन्म बाह्यवाद के विरुद्ध अंतर्जगत् की स्थापना के लिये हुआ। पैगंबर ने इस्लाम के रूप में जिस धर्म का प्रवर्तन किया, वह बहुत ही सादा धर्म था, जिसमें आचरण की पवित्रता पर सर्वाधिक जोर दिया गया था। मुहम्मद साहब को आरंभकाल में ही वर्षों गंभीर चिंतन के बाद जो ईश्वरीय इलहाम हुआ था, उसमें शरीर और मन की सफाई के लिये ईश्वरीय निर्देश स्पष्ट है :—

> 'ऐ चादर में लिपटे हुए (मुहम्मद साहब चादर में अपने को लपेटे थे)
> उठ और लोगों को आगाह कर
> और अपने रब्ब की बड़ाई कर
> और अपने कपड़े को साफ कर
> और मैलेपन से बच

---

१. हेल एकार्डिंग टु द सेलिब्रेटेड सूफी शिबली इज सेपरेशन फ्राम गाड ऐंड हैवेन नियरनेस टु हिम।
आउटलाईंस आव इस्लामिक कलचर, वाल्यू० दो, पृ० ४६१।

२. डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० ५३।

और दूसरों की सेवा करने के लिये किसी पर अहसान मत जता और अपने रब्ब के लिये सब्र से काम ले[1]।'

इसी प्रकार ईश्वर के संबंध में भी उसकी सबसे बड़ी विशेषता प्रेम बतलाया गया। उसे दयावान कहा गया—

'जिसने प्रेम से प्रेम का पुतला तैयार किया, ऐलान कर, तेरा रब्ब बड़ा ही दयावान है, जिसने आदमी को कलम के जरिए ज्ञान दिया और आदमी को वे सब बातें सिखाई जिन्हें वह नहीं जानता था[2]।'

कुरान में इसी तरह से यह भी प्रतिपादित है कि जिस पर ईश्वर की कृपा होती है वही ठीक मार्ग पर चलता है। भटकनेवाले ईश्वर की कृपा से वंचित होते हैं—

'ईश्वर जिसे मार्ग पर (चलने की) प्रेरणा करता है, वह मार्गवाला (होता है) जिसे भटकाता है, वह भटकता रहता है[3]।'
'भगवान जिसे चाहता है मार्ग पर लगाता है, जिसे चाहता है भटकाता है।'

कुरान में मुसलमानों को उपदेश दिया गया है कि उन्हें सबके प्रति विनम्र होना चाहिए, किसी से भी कठोर बर्ताव नहीं करना चाहिए। धर्म के मूल में ईश्वर के प्रति सच्ची आस्था का होना है। 'लोगों के साथ नरमी से बर्ताव करना, किसी से सख्ती न बरतना, उनके दिलों को खुश रखना, उन्हें बुरा न कहना। जब वे तुमसे पूछें 'स्वर्ग की कुंजी क्या है' ? 'तो तुम जबाब देना 'एक ईश्वर की सचाई और नेकी में विश्वास करना और नेक काम करना यही स्वर्ग की कुंजी है[4]।' सहिष्णुता, करुणा और परोपकार वृत्ति के ऐसे भव्य उपदेश कुरान में हैं कि उनको पढ़ कर यह विश्वास नहीं होता कि उसका अनुयायी किसी भी प्रकार असहिष्णु, धर्मांध और कठोर हो सकता है। कुरान कहती है 'बुराई का बदला भलाई से दो।......अगर तुम चाहते हो कि अल्लाह तुम्हें माफ कर दे तो तुम्हें चाहिए कि तुम दूसरों के कसूरों को माफ कर दो और उन्हें भूल जाओ, अल्लाह

१. कुरान (अनु० पं० सुंदरलाल) —७४, १—७।
२. वही, ९६, १—५।
३. वही, ७, २२—७।
४. मिर्जा अब्दुल फजल : लाइफ आफ इस्लाम ; सुंदरलाल जी द्वारा उद्धृत।

माफ करनेवाला और दयावान है[1]।' इस्लाम में भी यह स्वीकार किया है कि कष्ट आत्मशुद्धि का साधन है। भगवान् अपने भक्तों को कष्ट इसलिए देता है, जिससे वे अपने हृदय के कल्मष को धो सकें। कष्ट सहन से न तो घबड़ाना चाहिए न ईश्वर में आस्था खोनी चाहिए।' कहा गया है कि जो ईश्वर में अधिक विश्वास रखता है, उसकी अत्यधिक कड़ी परीक्षा की जाती है।

'हमारे दुख हमारे पापों के धोने के लिये हैं। सचमुच अगर ईश्वर में विश्वास करनेवाले किसी आदमी के एक काँटा चुभता है तो अल्लाह इसके जरिए उसका रुतबा बढ़ा देता है और उसका एक पाप धुल जाता है।......जिसका विश्वास जितना पक्का होता है उतनी ही उसकी परख की जाती है। जिसका विश्वास अटल है, उसी को दुख भी ज्यादह दिए जाते हैं[2]।'

कुरान के इन कतिपय उद्धरणों से स्पष्ट है कि इस्लाम में मुख्यरूप से तीन बातें उल्लेखनीय हैं—

१—सिर्फ ईश्वर को मानना और उसी की पूजा करना।

२—नेक काम करना और बुरे कामों से बचना।

३—सब धर्मों का मूल एक मानना और सब धर्मों के चलनेवालों और महापुरुषों का एक समान आदर करना[3]।

इन मौलिक सिद्धांतों पर विचार करने से स्पष्टतः दो निष्कर्ष निकलते हैं—पहला यह कि इस्लाम में भी सहिष्णुता को अत्यंत आवश्यक माना गया है, दूसरा यह कि प्रपत्ति को भी सद्गुणों में गिनाया गया है। इसी प्रपत्ति का दूसरा नाम है आत्मसमर्पण। ईश्वर प्राप्ति के लिये इस्लाम में भी हृदय पक्ष, भाव और भावना को प्रधान माना गया है। मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् इस्लाम में भी कर्मकांड की बहुलता हो गई। नैमित्तिक और नैत्यिक विधि विधानों को ही प्रधान समझा जाने लगा। पाँच समय की नमाज, हदीस के नियमों का अक्षरशः पालन और वाह्य उपचारों की इतनी प्रधानता हुई कि शुद्ध और पवित्र आचार तथा हृदय की सच्ची भक्ति बहुत कुछ विलुप्त हो गई। कुरान में तो आस्था तो थी किंतु केवल उसका तोतारटंत ज्ञान ज्यादा होता था, उसे आचरण में उतारने की चेष्टा कम होती थी। हृदय की वह गद्गद भक्ति, जो मुहम्मद साहब के उद्गारों में

---

१. सुंदरलाल : हजरत मोहम्मद और इस्लाम, पृ० ७४।

२. कुरान; २८, ८३। (सुंदरलाल : हजरत मोहम्मद और इस्लाम, पृ० ११८)

३. वही पृ० १३६।

थी, आँखों से ओझल सी होने लगी। नमाज के समय मुहम्मद साहब के उद्गार इस प्रकार के होते थे, 'ऐ अल्लाह, मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। तुझ पर ही मेरा विश्वास है। मैं अपने को तेरे ही सुपुर्द करता हूँ। मेरा कान और मेरी आँख, मेरा मेजा, मेरी हड्डियाँ, मेरे पट्ठे सब तेरी तुच्छ भेंट हैं। 'यह उल्लासपूर्ण, एकांत और निविड़ भाव ही धर्मों को स्फूर्ति प्रदान करता है। जब इस पर कर्मकांड और विधिवादों की काई जम जाती है तो उसकी प्रेरणा लुप्त हो जाती है और केवल निर्जीव यांत्रिकता रह जाती है। सूफी साधकों का यह प्रयास था कि वे बाह्य कर्मकांडों को पृथक् कर हृदय का सीधा संबंध ईश्वर से स्थापित करें।

नए तत्वों का सन्निवेश

इसमें संदेह नहीं कि बाह्य विधानों से विद्रोह की भावना तो सूफी संतों में अपने आप आई और कुरान में पाए जानेवाले अनुकूल विचारों का उन्होंने सहारा लिया, किंतु समय के साथ ही इन पर बाह्य विचारधाराओं का भी प्रभाव और पड़ा और सूफी धर्म में नए तत्व भी संनिविष्ट हुए। मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् इस्लाम का राजनैतिक तथा धार्मिक प्रसार योरप के अधिकांश पर और एशिया के बहुत बड़े भूभाग पर हुआ। इस विस्तार के कारण मुसलमान संतों और जिज्ञासुओं ने दूसरे देशों से भी बहुत कुछ सीखा। उनके जीवन में अभीतक संस्कृति और शिक्षा का बहुत कम प्रवेश हो पाया था, किंतु एशिया की तरफ या योरप में जहाँ उनके राज्य और धर्म का विस्तार हुआ, प्रायः सभी देश चिंतन, विद्या और दर्शन में उनसे बहुत आगे थे। उन देशों में इस्लाम का प्रचार हुआ और उन पर इस्लामी संस्कृति और धर्म का प्रभाव पड़ा। इन्हीं प्रकार के प्रभावों में भारतीय बौद्धधर्म और अद्वैतवाद और ग्रीस के नियो-प्लेटोनिज्म (नव अफलातूनी) मत थे। कई सूफी संत और विचारक आरंभिक आक्रमणकारियों के साथ और उनके बाद भारत में आए और उन्होंने यहाँ के दर्शन और तत्वचिंतन से अपने को अवगत किया। यहाँ से भी कई पंडित बगदाद गए थे। इस प्रकार परस्पर विचारों का आदान प्रदान हुआ। इस्लाम में बौद्ध धर्म के निर्वाण का सिद्धांत प्रविष्ट हुआ जो सूफियों में 'फना' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी प्रकार इस्लाम में ईश्वर की व्यंजना एक सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में है जो सगुण रूप के बहुत समीप प्रतीत होता है। उसमें अनेक प्रकार के गुण और विशेषताएँ हैं। उसके सिंहासन तक का उल्लेख है। सूफियों को ऐसे ईश्वर का सामंजस्य अद्वैत के ब्रह्म के साथ करने में कठिनाई अवश्य थी, किंतु जब तक उस अल्लाह की विश्वव्यापी सत्ता का आरोप ब्रह्म में नहीं हो पाता और वह केवल एक देशीय

और एक वेषीय रहता है तब तक उससे अभिन्नता और अद्वैतभाव की स्थापना सर्वथा असंभव थी। ऐसा ही करने में सूफियों को कुरान की मान्य दार्शनिक विचारधारा को छोड़ना अनिवार्य हो गया। इस्लाम में स्पष्ट रूप से द्वैत भाव को स्वीकार किया गया है। ईश्वर सर्वशक्तिमान सर्वसत्तापूर्ण है। उसके संमुख मनुष्य सर्वथा निरीह प्राणी है। 'वह तुम्हारा ईश्वर सब चीजों का बनानेवाला है, उसके सिवा कोई पूज्य नहीं[1]।

'ईश्वर सब चीजों का स्रष्टा तथा अधिकारी है'। (३६।६।१०)

'निस्संदेह ईश्वर, भूमि और आकाश को धारण किए हुए है, कि वह नष्ट न हो जाय।' (३५।५।४)

'निस्संदेह तेरा ईश्वर मनुष्यों के लिये उनके अपराधों का क्षमा करनेवाला है।' (१३।१।६)

'वह (परमेश्वर) जिसने छः दिन में भूमि और आकाश को बनाया और फिर अर्श पर विराजमान हुआ'। (५७।१।४)[2]

इस ईश्वर के प्रति जिस विश्वव्यापी रूप की व्यंजना सूफी करना चाहते थे, संभव नहीं था। यह ईश्वर न केवल सर्वशक्तिमान है, वरन् वह परमसौंदर्यमय भी है। उस परमसौंदर्य के प्रतीक सत्ता का दर्शन अणु परमाणु में किया जा सकता है और उसकी अनुभूति स्वयं अपने में भी की जा सकती है। जुरथास्त्र में भी 'समस्त प्रकृति सौंदर्य ईश्वरीय सत्ता का स्वरूप माना गया है[3]।' ऐसा प्रतीत होता है कि इस धर्म का भी प्रभाव सूफी धर्म के प्रेममूलक एकेश्वरवाद पर, जो अद्वैतवाद में परिवर्तित हो गया था, पड़ा हो[3]।

नव अफलातूनी मत में आत्मा को विश्वात्मा का अंश माना गया है। भौतिक शरीर में पृथकता का आभास देने पर भी ईश्वर के साथ जीव की मौलिक एकता विद्यमान है। यह एकता की भावना भौतिक जीवन और पार्थिव सत्ता की सीमाओं के कारण दृश्यमान नहीं होती, किंतु यदि मनुष्य को इसकी खोज करने की प्रेरणा मिले तो उस दैवी सत्ता से उसके अभिन्न संबंध का ज्ञान हो सकता है। विश्व व्याप्त सौंदर्य ही अच्छाई कहा जाता है। दृश्यमान सौंदर्य से अदृश्य सौंदर्य अधिक मोहक और आकर्षक है। इस विचारधारा ने भी इस्लाम में सूफी संप्रदाय को जन्म देने में सहायता पहुँचाई। सौंदर्य का ही पर्याय ईश्वर को समझना और

१. राहुल सांकृत्यायन : 'कुरान सार', पृ० ६७, ६८।
२. वही,
३. डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० २३०।

उनकी प्राप्ति के लिये इश्क या प्रेम को माध्यम बनाना, इसी विचारधारा से प्रसूत निष्कर्ष है। इन विचारों के गृहीत होने पर बौद्धधर्म का सिद्धांत निर्वाण' इस्लाम मत में प्रविष्ट हुआ। बौद्धधर्म का प्रचार मध्यपूर्व में एशिया में पहले से था। ईरान और खुरासान तक उसके अनुयायी और प्रचारक फैले थे। अतः उनके निर्वाण ने सूफियों के फना का रूप धारण किया। दोनों में ही मन और वासना की चंचलवृत्ति समाप्त हो जाती है और साधक आत्मरूप को सर्वथा भूलकर विश्वात्म में अपने को एकलय कर देता है।

कहा जाता है वायजीद ने सर्वप्रथम 'फना' के सिद्धांत को इस्लाम में प्रचारित किया[1]। वायजीद स्वयं खुरासान का निवासी था, जहाँ पर जुरथास्त्र का धर्म प्रचलित था। उनसे उसने विश्वदेववाद के सिद्धांत को ग्रहण किया। सिंध के अबू अली से उसने बौद्धों के निर्वाण, प्राणायाम और उपनिषदों के अद्वैतवाद के सिद्धांत को सीखा। उसने इन दोनों ही विचारों का बड़ा सुंदर समन्वय अपने 'फना' के सिद्धांत में किया। सूफियों ने यद्यपि कई प्रकार के प्रभावों को आत्मसात् किया, किंतु पुष्ट और प्रौढ़ होकर जो सूफी धर्म निकला, उसका मूल आधार अहेतुक भक्ति या प्रेम था। इस प्रेम की उपलब्धि ही सूफियों के लिये सबसे बड़ा पदार्थ है। एक तरह से वे प्रेम को ही ईश्वर का पर्याय मानते हैं। आरंभ के सूफियों में संयम, पवित्रता और त्याग का प्राधान्य था। कालांतर में ज्ञानवाद और तत्वचिंतन को भी सूफी साधकों ने अपनाया और उसी की प्रेरणा से मंसूर ने 'अनल हक' का मंत्र उच्चरित किया। अंतिम रूप में सारी विचारधारा का पर्यवसान प्रेममूला भक्ति में हुआ, जिसमें आध्यात्मिक प्रेम (इश्क मजाजी) के द्वारा निजत्व को भूलकर, सभी प्रकार के द्वित्व को मिटाकर, उस प्रेमिकारूपी ईश्वर में मिलकर सर्वथा उसी में समाने की भावना मूल है।

सूफियों को प्रेम की सर्वव्यापी प्रेरणा नवअफलातूनी मत से ही मिली हो किंतु उसका दार्शनिक निरूपण उन्होंने दूसरे ढंग से किया। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुरान में वर्णित ईश्वर बहुत कुछ सगुण रूप के समीप प्रतीत होता है, किंतु सूफियों ने ईश्वर को सर्वव्यापी माना है। अद्वैतवाद के अनुसार उन्होंने समस्त सृष्टि को उसी का प्रतिरूप माना। जीव भी ईश्वर ही है, किंतु शरीर के पार्थिव बंधन में पड़ने के कारण उसमें विकार आ गया है। जीव ईश्वर का ही अंश है, अतः उसका जीवों के प्रति प्रेम है।

संतमत और सूफी संप्रदाय की समानांतरता

१. डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० २७।

अतः जीव भी यदि उसे प्राप्त करना चाहता है, तो प्रेम के इसी संबंध को अधिकाधिक दृढ़ करके ही प्राप्त कर सकता है। सूफी ईश्वर के इस रूप को स्वीकार करने के पश्चात् इस्लाम में विहित अनेक प्रकार के औपचारिक कर्मकांडों को उसी रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे। ईश्वर का सिंहासन 'अर्श' है, किंतु सूफियों के विचार में प्रत्येक साधक का हृदय ही उसका सिंहासन है। मस्जिद में पश्चिम मुख ही से क्यों प्रार्थना की जाय? यदि ईश्वर सर्वव्यापी है तो उसकी प्रार्थना कहीं भी और किसी मुख होकर को जा सकती है। इसी प्रकार दिन में पाँचों नमाज पढ़ने को भी सूफी बहुत आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे, क्योंकि प्रार्थना कहीं और किसी भी समय की जा सकती है। सूफी इसे अनावश्यक बंधन मानते हैं। सूफीधर्म में हमें प्रायः अपने यहाँ के संत आंदोलन से बहुत कुछ समानता मिलती है। कर्मकांड तथा विधि निषेधों के असह्य भार से ऊबकर, धर्म की जड़ कर्मकांड के पाश से अपने को मुक्तकर, हृदय की भावना के मुक्त आधार पर ईश्वर की उपासना का प्रतिपादन करनेवाले सूफी संत साधकों से अनेक मौलिक मान्यताओं में बहुत समीप हैं।

सूफी धर्म और संत मत में कर्मकांड के विरोध और अनुभूतिजन्य ज्ञान की प्रधानता में समानता तो है ही। दोनों ही पुस्तकीय ज्ञान को निरर्थक मानते हैं। पुस्तक ज्ञान को सूफी भी व्यर्थ मानते थे। इसका स्पष्टीकरण वायजीद की इस कहानी से हो जाता है। वायजीद तेरह सौ सूफी साधकों के साथ रहता था। उन्हीं में से एक सादिक नाम के साधक थे, जिनके साथ वह रह चुका था। एक समय सादिक ने वायजीद से ताक पर से कोई पुस्तक ले आने के लिये कहा। वायजीद ने पूछा 'कैसा ताक'? सादिक ने कहा कि बहु काल से तुम हमारे पास रहते हो और यह आश्चर्य है कि तुमने पुस्तक का ताक नहीं देखा। उसने कहा, 'प्रभो, उससे हमें क्या मतलब कि आपके सामने मस्तक ऊँचा करूँ। मैं यहाँ कुछ देखते हुए घूमने के लिये नहीं आया हूँ।' सादिक ने कहा, 'तुम विस्ताम (वायजीद का नगर) चले जाओ। तुम्हारी साधना पूर्ण हो गई।[1]' पुस्तकों में लिखी मान्यताओं को अंध श्रद्धा के साथ स्वीकार करना उन्हें मान्य नहीं। ज्ञान की दोनों ही प्रमुखता देते हैं, किंतु ज्ञान आप्त वाक्यों का संग्रह नहीं, वरन् अपनी अनुभूति पर आधारित उपलब्ध ज्ञान है। उनका ज्ञानवाद इसी प्रकार का है। उनमें बहुत गंभीर दार्शनिक विवेचन, ऊहापोह एक प्रकार से

१. रामपूजन तिवारी : सूफी मत साधना और साहित्य, पृ० ३३।

निरर्थक है। जहाँ प्रेम ही सत्य का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है उसको पुस्तकों तथा मंदिर मस्जिद आदि में ढूँढ़ना व्यर्थ है। उसका भांडार प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में आवृत पड़ा है।

गुरू का महत्व दोनों ही धर्मों में समान रूप से स्वीकार किया गया है। संभवतः गुरु की उपादेयता इस रूप में न तो पहले कहीं स्वीकार की गई थी और न बाद में इस महत्व को किसी ने माना। सूफियों ने गुरु या मुरशिद को स्वयं ईश्वर के समकक्ष माना है। गुरु की कृपा से ही वह सच्चा मुरीद (शिष्य) होता है। गुरु के बिना वह मात्र आबिद (कर्मकांडी) रह जाता है। प्रायः सभी सूफी संतों ने गुरू की महिमा का बहुत ही गहरी आस्था के साथ वर्णन किया है। कबीर आदि संतों ने तो गुरू को गोविंद से भी बड़ा माना है। वास्तव में साधना के सभी मार्गों में गुरू के पथप्रदर्शन की नितांत आवश्यकता है। बिना गुरू के इस मार्ग पर चलनेवाला न केवल पथभ्रष्ट हो सकता है, वरन् अपनी बहुत बड़ी क्षति भी कर सकता है।

ये दोनों ही मार्ग शास्त्रीय परंपरा के पोषक नहीं। सूफीधर्म संत संप्रदाय की तरह उग्र विद्रोही नहीं। उसके स्वर में चुनौती का वह निर्घोष नहीं है, जो संत कवियों में पाया जाता है। सूफी संतों ने अपने सिद्धांत और मान्यता की रक्षा के लिये अपने प्राणों को भी प्रसन्नता के साथ निछावर किया, किंतु उनकी वाणी में बराबर प्रेम की मिठास ही रही। शास्त्रीय मर्यादा के पोषकों के इन लोमहर्षक अत्याचारों ने उन्हें शक्ति दिया और उनका विकास बराबर ऊर्ध्वमुखी रहा। संत कवियों को भारतवर्ष में इस प्रकार का अत्याचार नहीं सहना पड़ा, किंतु उनके विरोध में अधिक कटुता और उग्रता थी। संभवतः इसका कारण यह रहा कि सूफी साधना केवल धर्म के क्षेत्र में शास्त्रीय मान्यताओं को अंशतः अस्वीकार करती थी। भारतीय संत मत के विद्रोह में धर्म के साथ ही सामाजिक मान्यताओं का भी तीव्र विरोध था। इस्लाम धर्म की परंपरा बिलकुल नई थी। उसके अंतर्गत धार्मिक विधिनिषेधों का अंकुश और बोझ इतना दुर्वह नहीं था, जितना हिंदू धर्म और समाज में दीर्घकाल से चले आते हुए अनेक प्रकार के कठोर निर्देशों का। संतों का विरोध उग्र होने पर भी यहाँ की परंपरा में विचार स्वातंत्र्य की सुविधा थी। अतः मतभेद के बावजूद भी इन संत कवियों को राजकीय अथवा दूसरे प्रकार के अत्याचारों से दबाने का प्रश्न नहीं उठा।

सूफी और संत साधकों ने अनेक शास्त्रीय मर्यादाओं को स्वीकार नहीं किया उन्हीं में विवाह संबंधी मान्यता भी थी। इस्लाम में विवाह का निषेध यों

भी नहीं किया गया है। सूफियों ने इसी कारण विवाह को साधना में बाधक नहीं माना है। भारतवर्ष में संन्यास की भावना विशेष रूप से व्याप्त थी। धार्मिक साधना के लिये संन्यस्त जीवन बहुत कुछ आवश्यक समझा जाने लगा था। संतों ने इसे आवश्यक नहीं माना। प्रायः सभी संत साधक गृहस्थ थे। जीवनयापन की इस विधि में भी दोनों का साम्य था। वास्तव में सूफी और संतमार्ग अतिवाद का मार्ग नहीं था। थोड़े बहुत हेर फेर के साथ मध्यम मार्ग था। सामान्य जीवन व्यतीत करनेवाला भी इस मार्ग का अनुयायी हो सकता था। सूफी मार्ग प्रेम की भावना का उदात्तीकरण कर आध्यात्मिक सत्य की प्राप्ति में विश्वास करता था। संत मार्ग शुद्ध आचारों का समुच्चय था, जिसमें निश्छल प्रेम भी एक मुख्य आचार था। सूफी साधक बहुत अंशों में कुरान और पैगंबर में विश्वास करते थे। संतमत के साधक किसी एक शास्त्रीय मार्ग, पुस्तक और पैगंबर में विश्वास नहीं करते थे, किंतु यह अंतर बाह्य अधिक था, आभ्यंतर कम। कारण, साधना के अंतरंग में प्रवेश करने पर सूफी बीच के सभी माध्यम को भूल जाता था। ईश्वर और अपने बीच कोई भी अंतर स्वीकार करने के लिये वह प्रस्तुत नहीं था। जैसा कहा जाता है कि निर्णय के दिन जब पैगंबर सब आत्माओं का परिचय ईश्वर से करावेंगे तब एक जगह बैठे सूफियों को संबोधित करके ईश्वर कहेगा, 'ऐ मुहम्मद, तू इन्हें नहीं जानता, क्योंकि इन्होंने तुम्हारे द्वारा मुझ से मुहब्बत नहीं की है। इन्होंने मुझसे सीधे मुहब्बत की है। इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य है कि सूफी अपने और ईश्वर के बीच पैगंबर के भी अंतर को स्वीकार नहीं करते। पश्चात्ताप के लिये सूफियों में जिक्र, जप एवं ध्यान का बहुत महत्व है। जिक्र को हम साधारणतः दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) जली (२) खफी। जली का तात्पर्य उच्चस्वर से नामोच्चारण से है तथा खफी में मनन और चिंतन होता है। जिक्र का मूल मंत्र है 'ला इलाह इल्ललाह', इसके जाप के अनेक विधान हैं। जली में मंत्र को व्यष्टि या समष्टि रूप में जपा जाता है। खफी में मन की एकाग्रता का प्राधान्य है। इसके लिये योग साधना द्वारा श्वास का संयमन करना पड़ता है। कुछ लोग पलथी मारकर बैठ जाते हैं। प्रथम दाईं ओर से पुनः बाईं ओर से श्वास लेते हुए मन ही मन जाप करते हैं। इसकी तुलना संतों के जाप और अजपा जाप से किया जाय। दोनों में बिलकुल मिलती जुलती क्रिया है। अजपाजाप में नाम का उच्चारण नहीं होता, वरन् ध्यान को एकाग्र कर श्वासों के साथ नाम और रूप स्मरण किया जाता है। प्राणायाम और आसन तो अपनी जगह पर ठीक ही है।

१. डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० ६०।

सूफी और संत संप्रदाय दोनों में ध्यान और प्राणायाम को महत्व का स्थान दिया गया है। प्राणायाम तो सिंध के अबू अली ने भारतवर्ष में आकर सीखा और फिर उसका प्रचार सूफी संप्रदाय में हुआ। ध्यान और चिंतन भी दोनों ही संप्रदायों में आवश्यक माना गया है। हर एक सूफी प्रायः एकांत स्थल पर, कोलाहल से दूर, चिंतन के द्वारा अपने ध्यान को केंद्रीभूत करने की चेष्टा करता है। ध्यान तो भारतीय साधना में बहुत पहले से ही चला आ रहा है। इसी प्रकार सूफी संप्रदाय में जिक्र की भी बहुत बड़ी महत्ता बतलाई गई है। यह जिक्र संत संप्रदाय का नामस्मरण या जप है।

सूफी धर्म में फना की स्थिति साधना की चरम अवस्था मानी गई है। फना और समाधि में मन, भावना और तल्लीनता की दृष्टि से बहुत कुछ स्थितिसाम्य है। डा० विमलकुमार जैन ने सूफियों की साधना के इस मार्ग का आदि से अंत तक निम्नांकित ढंग से परिचय दिया है। फना और समाधि में स्थिति की दृष्टि से तो काफी साम्य है, किंतु इस स्थिति को प्राप्त होने तक के साधन में भेद है। फना की साधना का क्रम इस प्रकार है, 'जो सूफी परमात्मा की गवेषणा आरंभ करता है, वह सालिक (यात्री) कहलाता है। वह पुनः मार्ग पर सात मुकामात (स्थितियाँ) पार करता हुआ ईश्वर से अभेद प्राप्त करता है। सालिक से पूर्व वह मोमिन की अवस्था में होता है, जहाँ वह शरीजत पर विश्वास करता है[1]। शरीजत के विधान जब बाधारूप प्रतीत होते हैं, तो वह किसी मुर्शिद के पास मुरीद (शिष्य) बन जाता है और पुनः निष्ठावान होकर ईश्वरीय मार्ग पर यात्रा आरंभ कर देता है। अब वह सालिक हो जाता है और शीघ्र ही आबिद (आराधक) होकर मार्ग पर आगे बढ़ता है। यहीं से उसकी वास्तविक यात्रा आरंभ होती है और वह शरीजत से तरीकत के क्षेत्र में आ जाता है। इस स्थिति में यात्री पश्चाताप, संयम, त्याग, धैर्य, ईश्वर में विश्वास, मितभोजन एवं मितभाषण आदि गुणों को पूर्णतः ग्रहण करता है। तदनंतर उसमें इश्क पूर्ण विकसित हो जाता है और उसे एकांतप्रियता भाने लगती है। अब वह जाहिद कहलाता है। एकांत चिंतन से उसमें ईश्वरीय ज्ञान का आविर्भाव होता है। सूफी लोग इसे ही मारिफत कहते हैं। अब वह आरिफ बन जाता है और तल्लीनता को प्राप्त करता हुआ हकीकत के क्षेत्र में पहुँचता है। इसी क्षेत्र में उसे वस्ल (ईश्वर से अभेद) की स्थिति आते ही फना की दशा प्राप्त हो जाती है, क्योंकि यहाँ

---

१. द मिस्टिक्स आव इस्लाम, पृष्ठ २८।

आत्मभाव का संक्रमण और ईश्वर से अभेद हो जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकरूपता से भी ऊपर साक्षात्कार का आनंद प्राप्त होता है। आत्मा ईश्वर में अभिन्न रूप से निवास करती है। सूफी इसी अवस्था को 'बका' कहते हैं। यही सूफी का चरम लक्ष्य है[1]। सूफियों की फना और बका की यह अवस्था ही संतों की समाधि अवस्था है। इस अवस्था में दोनों ही उस अभेद स्थिति में पहुँचते हैं जहाँ निजत्व का सर्वथा लय हो जाता है और ब्रह्म से पूर्ण एकरूपता स्थापित हो जाती है। फना की इस अवस्था का बौद्धों की निर्वाण अवस्था से थोड़ा भेद है। सूफियों को फना की स्थिति उपलब्ध होने पर अपूर्व उल्लास की अनुभूति होती है। यह उल्लास जागतिक उल्लास से भिन्न सर्वथा दैवी है। यही उल्लास संत लोग भी सहज समाधि में अनुभव करते हैं। बौद्धों के निर्वाण में आत्मतत्व का विलय तो होता है, किंतु उसमें उल्लास के तत्व का सर्वथा तिरोभाव रहता है। इस प्रकार निर्वाण का भाव सूफियों में फना के रूप में भले ही गृहीत हुआ, किंतु उसका सामीप्य जोगियों की समाधि से अधिक है। संतमत और सूफी ध्येय के लक्ष्य की एकता की दृष्टि से भी एक दूसरे के बहुत समीप हैं।

सूफी संप्रदाय के विकास के दो चरण

सूफी संप्रदाय के विकास को हम मुख्यतः दो चरणों में बाँट सकते हैं। पहला चरण इसके प्रवर्तन से नवीं शताब्दी तक और दूसरा नवीं शताब्दी से आगे तक। प्रथम भाग में सूफी साधना में कोई विशेष पद्धति, दर्शन या क्रिया का विकास नहीं हुआ था। इसके साधक पवित्र, स्वार्थहीन और एकांत जीवन व्यतीत करते थे और अधिक से अधिक संयम और इंद्रिय निग्रह को आवश्यक मानते थे। नवीं शताब्दी के बाद जब सूफी धर्म अरब के रेगिस्तानी प्रदेश से बाहर निकल कर पार्थिव शुष्कता से दूर रसस्निग्ध फारस देश में प्रविष्ट हुआ, तब यहीं से उसमें बिलकुल नया परिवर्तन आया। यहीं पर भारतीय साधना और बौद्ध धर्म का भी प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ना आरंभ हुआ। इसी समय साधना की विशिष्ट पद्धति का विकास हुआ। साथ ही वैचारिक जगत् में भी विनिमय हुआ। इस्लाम तो एक प्रकार से शास्त्रबद्ध संप्रदाय हो चुका था। अतः उसमें नए विचारों के शीघ्र प्रवेश के लिये बहुत कम गुंजायश थी। सूफी धर्म अभी निर्माण की अवस्था में था। इस्लाम के कर्मकांड और अनेक रूढ़िबद्ध मान्यताओं का उसमें स्पष्ट विरोध था। अतः सूफी धर्म ने उदारता के

---

१. डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० ७२।

साथ बाहरी बहुत से ऐसे प्रभावों को ग्रहण किया, जिनसे उनको लाभ हो सकता था। बहुत सी ऐसी बातों का उल्लेख ऊपर हो चुका है, जो भारतीय साधना से मिलती हुई सूफी धर्म में भी पाई जाती हैं। विचार के क्षेत्र में सूफियों ने संभवतः मनुष्य की तीन तात्विक क्रियाशक्तियों को यहीं से लिया है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। सूफियों ने भी नफ्स, रूह और कल्ब से संभूत मनुष्य के चेतन व्यक्तित्व को माना है। सूफी और संत तथा इसके पूर्ववर्ती योग संप्रदाय में एक और भी महत्त्वपूर्ण समानता प्रतीत होता है। कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में यह समानता आकस्मिक थी अथवा सुविचारित। योगी को अपनी अंतिम सिद्धि तक पहुँचने में छः चक्रों को पारकर सातवें चक्र सहस्रार में ही उसे अमृतत्व की प्राप्ति होती है। छः चक्रों से पार करते हुए कुंडलिनी क्रमशः अधिक सतेज और शक्तिमान होती चलती है। अंतिम चक्र में पहुँचकर शिव से मिलन के पश्चात् उसे वास्तविक सिद्धि की प्राप्ति होती है। सूफी साधकों ने मार्ग में सात मंजिलें मानी हैं। उनकी स्थिति और विशेषता निम्नलिखित है:—

(१) **उब्दियत** : इसमें साधक अपने हृदय को पवित्र करने की चेष्टा में लगता है, जिसमें कि वह आगे की ओर बढ़ सके। शरीअत के अनुसार वह परमात्मा की सेवा में अपने को लगा देता है।

(२) **इश्क** : परमात्मा का प्रेम उसके हृदय में उत्पन्न होता है और साधक इस मंजिल में फक्र (गरीबी) को वरण करता है।

(३) **जुहद** : इसमें सांसारिक इच्छाओं का अवसान हो जाता है।

(४) **मारिफत** : इसमें साधक परमात्मा के गुण, स्वभाव, कर्म का ध्यान करता है।

(५) **वज्द** : (भावाविष्टावस्था) परमात्मा के एकत्व का ध्यान करते करते साधक में भावाविष्टावस्था उत्पन्न हो जाती है।

(६) **हकीकत** : इसमें साधक को परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है और वह परमात्मा पर पूर्ण रूप से निर्भर (**तवक्कुल**) करता है।

(७) **वस्ल** : इसमें साधक जैसे परमात्मा का साक्षात्कार करता रहता है। इसमें सात अवस्थाओं को पार करता हुआ साधक अंतिम फना और बका की अवस्था में प्रवेश करता है, जहाँ ईश्वर से बिलकुल एकलय की अवस्था हो जाती है[1]।

---

१. डा० विमलकुमार जैन : सूफी मत साधना और साहित्य, पृ० ३२६।

सूफी और संत संप्रदाय की इस समानता को यदि हम और अधिक दूर ले जायँ तो विचार, दर्शन और साधना के क्षेत्र में और भी बहुत समानता मिलेगी। सूफियों ने मनुष्य के चेतन व्यक्तित्व को नफ्स, कल्ब, अक्ल और रूह का एकीकरण माना है। ऐसा असंभव नहीं है कि ये मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार के ही परिवर्तित रूप हों।

सूफी धर्म का प्रवेश भारतवर्ष में १०वीं शताब्दी के आसपास से समझना चाहिए। यद्यपि दोनों ही संप्रदायों में बहुत पहले से विचार विनिमय हो रहा था। विशेष रूप से बहुत से सूफी संत भारतवर्ष आए और उन्होंने यहाँ के योगियों, बौद्धों और जैनों सभी से कुछ न कुछ सीखा। बायजीद ने बहुत सी बातें सिंध निवासी अबूअली से सीखी थीं। मंसूर अल हल्लाज के भारतवर्ष आने में कोई संदेह नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार फरीदुद्दीन अत्तार, सादी आदि सूफी भारतवर्ष आए। इन लोगों के भ्रमण और पर्यटन के बाद मुहम्मद गोरी ने स्थायी रूप से यहाँ पर मुस्लिम राज्य की स्थापना की, तो उसके साथ सूफी संत भी स्थायी रूप से यहाँ आए। सूफी संप्रदाय में कई शाखाएँ हो गई थीं। सर्वप्रथम चिश्ती संप्रदाय का यहाँ प्रवेश हुआ। शहाबुद्दीन गोरी की सेना के साथ सन् ११९२ में ख्वाजा मुहीउद्दीन चिश्ती भारत आए और ११९५ में अजमेर को उन्होंने अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया। इनकी समाधि भी यहीं पर बनी हुई है। सूफी धर्म का दूसरा संप्रदाय सुहरावर्दी था, जिसके नेता सिंध में आकर बसे थे। कहा जाता है, इस संप्रदाय के सर्वप्रथम प्रचारक सिंध में बहा अलहक्क बहा अल्दीन जकरिया थे। कादरी संप्रदाय के संस्थापक बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जिलानी थे। इनका समय सन् १०७८ से ११६६ तक माना जाता है। भारत में इस संप्रदाय के प्रचारक सैयद बंदागी, मुहम्मद गोष थे। नक्शबंदी संप्रदाय का जन्म तुर्किस्तान के ख्वाजा बहा अल्दीन नक्शबंद के द्वारा हुआ। इसका प्रचार हिंदुस्तान तथा अन्य कई देशों में भी हुआ। हिंदुस्तान में मुख्य रूप से सूफी संप्रदाय की यही चार शाखाएँ प्रचलित हुई। वैसे सूफी संप्रदाय में शाखाएँ चौदह के करीब हैं। आइने अकबरी में अबुलफजल ने इनके नाम इस प्रकार दिए हैं, 'चिश्ती, सुहरावर्दी, हबीबी, तफूरी, बर्खी, सकती, जुनेदी, कजरूनी, तूसी, फिरदौसी, जैदी, इयादी अधमी और हुबेरी'[1]। सूफी संप्रदाय में इतनी अधिक शाखाएँ इसमें मिलती हैं, इसका एक बड़ा कारण

१. डा० विमलकुमार जैन : सूफीमत और हिंदी साहित्य, पृ० ८३।
नि० सा० पृ० १० (११००-६१)

यह भी था कि साधनावाले संप्रदायों में गुरुओं का इतना अधिक महत्व प्रतिपादित किया गया था कि प्रत्येक प्रसिद्ध संत का एक मत-विशेष खड़ा हो जाता था। बिलकुल इसी प्रकार की प्रवृत्ति हमें संत संप्रदाय में मिलती है। निर्गुन मत का प्रवर्तन यद्यपि कबीर ने ही किया, किंतु कालांतर में पचीसों शाखाएँ हो गईं। भारतवर्ष में सूफी धर्म का प्रवेश हुआ और इसकी प्रेममूलक साधना ने भारतीय चिंता को प्रभावित किया। उस समय उत्तरी भारत में भक्तिवाद का पुनरावर्तन हो रहा था। दक्षिण भारत से सगुण उपासना की पद्धति, उत्तर भारत की सिद्ध, नाथपंथी निर्गुण साधना से मिलकर कहीं एकमएक होकर प्रचलित हो रही थी और कहीं शुद्ध सगुण रूप में ही प्रेम और भक्ति को भगवान् के सगुण रूप में आरोपित कर फैल रही थी। सूफी साधना निराकार ईश्वर का आलंबन लेकर चली थी, अतः निर्गुण मतावलंबी संत संप्रदाय को इसने सर्वाधिक प्रभावित किया। इन दोनों में और भी बहुत सी अनेक समानताएँ थीं। दोनों की आत्मा एक थी, भले ही बाह्य कलेवर में भेद हो। रूढ़िवाद, कर्मकांड, अंधविश्वास की निरर्थकता का प्रतिपादन मुख्य था। सूफी साधकों ने भारतीय संतों की नमाज, रोजा और कुरान आदि की आवश्यकता को इनकार किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से मन की पवित्रता को नमाज और रोजा से नितांत श्रेष्ठ माना। 'अनासक्ति का एक बिंदु सहस्रों वर्ष की नमाज और रोजा से श्रेष्ठ है'[1] इसी प्रकार सिद्धि के लिये शरीर को अनावश्क कष्ट देना भी निरर्थक है। 'अल सरीज ने कहा है कि कुछ लोग अन्न और जल त्याग कर यह आशा करते हैं कि मनुष्य का शरीर जब कमजोर हो जाता है तो उसमें परमात्मा के गुण आ जाते हैं। उसका कहना है कि इस सिद्धांत को माननेवाले नासमझ हैं[2]।' रूढ़िवाद के और भी जो रूप हो सकते हैं, उसका खंडन इन दोनों में पाया जाता है। संप्रदाय में तो पुस्तक विरोधी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। सूफी साहित्य में भी ऐसे विचार मिलते हैं। इस तरह सूफी संप्रदाय और संतमत का परस्परावलंबन दृष्टि की एकता और साधना की समानता के कारण हुआ।

संतसाहित्य में सूफी भावना : प्रेम की पीर

सूफी संतों का आगमन तो ११ वीं शताब्दी के आसपास से शुरू हो गया था, किंतु साहित्य में सूफीमत का प्रतिपादन व्यापक रूप से हमें संत साहित्य में ही देखने को मिलता है। संत साधकों पर सूफीमत का अधिक प्रभाव पड़ने का एक और महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि इसमें बहुत से मुसलमान भी थे और यह स्वाभाविक है कि उनका संपर्क और झुकाव

दोनों ही सूफीमत की ओर अधिक हुआ हो। कबीर, दादू, बुल्लेशाह, यारी साहब आदि अनेक मुसलमानों ने संत परंपरा को ग्रहण किया और सूफी धर्म के 'प्रेम की पीर' से अपनी कविता को रससिक्त और कोमल किया। संत साहित्य में भावपक्ष की जो कुछ भी सुंदरता दीख पड़ती है, उसका बहुत कुछ कारण सूफी संतों का दर्द और प्रेम की मधुर कोमल और करुण व्यंजना है। मुसलमान संतों के अतिरिक्त भी जो दूसरे संत थे, वे बहुधा जाति और परंपरागत ज्ञान के कारण धार्मिक और सांप्रदायिक रूढ़ियों से युक्त थे। उन पर भी सूफी धर्म का रंग गहरा चढ़ा। मलूकदास भी इस प्रेम के रंग में इतने डूबे हैं कि वे गुलाम के समान उस प्रियतम के दर्शन की लालसा से दरबार में खड़े हैं। जब से उनका हृदय उस प्रेमी पर मुग्ध हुआ है तब से वे रोजा, नमाज आदि सभी कुछ भूल गये हैं—

तेरा मैं दीदार-दिवाना।
घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहेब रहमाना।
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की पिया प्रेम पियाला।
ठाढ़ होउँ तो गिर गिर परता, तेरे रंग मतवाला।
× × ×
तौजा और निमाज न जानूं, ना जानूं धरि रोजा।
बांग जिकर तबही से बिसरी, जब से यह दिल खोजा।
कहैं मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सौं दिल लाया॥
मक्का हज्ज हिए मैं देखा, पूरा मुरसिद पाया॥[1]

संत साहित्य में सूफीमत का प्रभाव इन तीन रूपों में देखने को मिलता है। प्रायः सभी कवियों ने प्रेम की महत्ता पर बहुत विस्तार और उत्साह के साथ प्रकाश डाला है। इसे हम दार्शनिक विवेचन तो नहीं कहेंगे, किंतु प्रेम के संबंध में उन्होंने अपने दृष्टिकोण को बहुत स्पष्टतया के साथ अंकित किया है। उन्होंने बतलाया है कि प्रेम तप, तीर्थ और साधना से सभी बड़ा है। दूसरा रूप है, संयोग की आनंदावस्था का चित्रण और तीसरा है, वियोग के करुणा विदग्ध रूप का चित्रण।

प्रेम की महत्ता का वर्णन सभी संत कवियों ने किया है। कबीर भी प्रेम की आवश्यकता को द्विधाहीन भाषा से स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि प्रेम के ही प्रादुर्भाव के साथ योग की भी चेतना पैदा होती है, मन संशय मुक्त हो

१. मलूकदास की बानी, वेलवेडियर प्रेस, पृ० ७।

जाता है और अंत में प्रियतम का दर्शन मिलता है। प्रेम कस्तूरी की तरह सारे चेतन रूप में व्याप्त हो जाता है तथा कविता और वाणी उसी सुगंधि से सुवासित होकर आनंद का सृजन करती है।[1]

सुंदरदास ने बहुत सी साधनाओं और साधकों का व्यंग्यात्मक रूप से उल्लेख किया है। सभी पद्धतियों की व्यर्थता और उनमें निहित मिथ्या और पाखंड का संकेत करते हुए उन्होंने अंत में प्रभु की प्रीति को ही सबसे बड़ी सिद्धि और साधन माना है।[2]

संयोग और वियोग

संयोग और वियोग की अवस्था का वर्णन सूफी कवियों में बहुत ही मार्मिक रूप से हुआ है। ईश्वर को प्रेमी और अपने को प्रेमिका मानकर रति प्रेम के माध्यम से इन्होंने जो भाव और विचार व्यक्त किए हैं, उनसे इनके हृदय की वह व्याकुलता प्रकट होती है, जो परमात्मा से मिलने के लिए इन संत साधकों के हृदय को उद्वेलित करती रहती थी। प्रेम के माध्यम से ईश्वर का सामीप्य पाने की इच्छा में अत्यंत तीव्रता और गहराई होती है। उसमें किसी भी प्रकार का विलंब सह्य नहीं होता और न तो किसी भी प्रकार के दुराव और फासले को ही अपेक्षित माना

---

१. पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कंत।
प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुख कसतूरी महमहीं, बाँणी फूटी बास॥
डा० श्यामसुंदरदास (संपा०): कबीर ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १३।

२. कोई फिरै नांगे पायँ, गुदरी बनाय करि,
देह की दसा दिखाइ, आइ लोक धूर्‌यो है।
कोइ दूधाहारी होई, कोई फलाहारी होई,
कोई अधोमुख झूलि झूलि धूम घूट्यो है॥
कोई नहिं खाय लोण, कोई मुख गहै मौन।
सुंदर कहत यूँही वृथा भूस कूट्यो है॥
प्रभु सूँ है तौ प्रीति नाहिं, ज्ञान सूँ परिचै नाहिं।
देखो भाई आँधरे ने ज्यूँ बजार लूट्यो है॥
सुंदरदास : सुंदर विलास, बेल्वेडियर प्रेस, पृ० ६६।

जाता है। इसलिए रुखे और विरागी इन संतों की वाणी में कुछ इस प्रकार की व्यंजना और उच्छल भावुकता आ गई है कि पाठक पढ़कर द्रवित हो जाता है। उनका काव्यत्व सहज भाव से और निःप्रयास इन रचनाओं में प्रस्फुटित हुआ है। संयोग प्रेम का वर्णन इनके यहाँ कम मिलता है। संभवतः वह केवल उस क्षण की मानसिक अनुभूति को व्यक्त करता है, जब ध्यान की गहराई और एकाग्रता में कुछ क्षण के ही लिए ईश्वरीय सत्व का अनुभव हो जाता है और उससे उपलब्ध आनंद को वे कवि प्रेमी और प्रिय के मिलन को प्रतीक बनाकर व्यक्त करते हैं। वियोग का वर्णन विशेष तन्मयता और गहरी अनुभूति के साथ किया गया है। सूफी कवि समूचे जीवन को ही वियोग मानते हैं। अतः इसी वियोग के कष्ट से सर्वदा तड़पते रहना उनकी साधना और काव्य की विशेषता है।

कबीर भी इस वियोग के कष्ट का अनुभव करते हैं। यह कष्ट उस समय और बढ़ जाता है, जब चतुर्दिक उद्दीपन की सामग्री उपस्थित हो। इसलिए फागुन और बसंत के आगमन के समय यह व्याकुलता और भी बढ़ जाती है। इसीसे कबीरदास के स्वर में इतनी बेबसी और करुणा है—

ऋतु फागुन नियरानी हो कोई पिया से मिलावै।

धरमदास जी ने इस वियोगावस्था का बहुत ही चुभता हुआ वर्णन किया है। वियोगिनी की मानसिक दशा का चित्रण अत्यंत स्वाभाविक और सरल ढंग से किया है। परिचित परिस्थितियों के बीच जिस ढंग से वियोग व्यथा का चित्रण किया है, उसका दर्द जरूर उस प्रियतम को प्रभावित करेगा—

'मितऊ मड़ैया सूनी कर गैलो।
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के कछुवो न गुन दै गैलो।
संग की सखी सब पार उतर गैली, हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलो।'[1]

संवाद के रूप में उन्होंने वियोगिनी का चित्रण दूसरी परिस्थितियों के बीच किया है। यह वर्णन भी उसी प्रकार मार्मिक और सुंदर है :—

'चढ़ि अमवा की डारि, अकेली धनि का रे खड़ी।
चले जाव मुरुख गँवार, मोरी तोहिं का रे पड़ी॥
की तोरी सासू दारुनियाँ, की नैहर दूर बसै।
हमरे बलम परदेस, जोहत बा की बाट खड़ी।

१. धरमदास जी की शब्दावली, बेलवेडियर प्रेस, पृ० १२।

पंचरंग पहिरु चुनरिया, ऊपर धरी आरसी।
सतगुरु संग सुजान, समुझै मोर पारसी॥'[1]

हमारे घरेलू जीवन की नित्य की परिस्थिति से लिया गया प्रसंग हमारे हृदय में वियोगिनी के कष्ट का यथार्थ अनुभव कराने में पूर्ण समर्थ है।

दादूदयाल तो स्पष्ट घोषणा करते हैं कि हम सब जितने साधक हैं, सभी नारियाँ हैं। पति रूप में केवल एक ईश्वर है। नारी रूप साधकों का कर्तव्य है कि वे पुरुष रूप परमेश्वर को अपने प्रेम तथा आत्मसमर्पण द्वारा प्रसन्न करें :—

'सब हम नारी एक भरतार। सब कोई तन करै सिंगार।
धरि धरि अपणे सेज सँवारे। कंत पियारे पंथ निहारै॥
आरति अपणे पिवू कौं ध्यावै। मिलै नाह कबू अंग लगावै।
अति आतुर ये खोजत डोलैं। बानि परी वियोगिनी बोलैं।
सब हम नारी दादू दीन। देइ सुहाग काहू संग लीन॥[2]

ऐसे पुरुष के दर्शन तथा मिलन के लिये दादू की आत्मा तड़फड़ा रही है। उस दर्शन की आशा संजोए अनंत प्रतीक्षा चल रही है। अतः वियोगिनी उस चिर आकांक्षा की पूर्ति के लिये निवेदन कर रही है :—

'आव पियारे मीत हमारे। निस दिन देखौं पाँव तुम्हारे।
सेज हमारी पीव सँवारी। दासि तुम्हारी सो धन वारी।
जो तुझ पाऊँ अंगि लगाऊँ। क्यूँ समझाऊँ वारण जाऊँ।
पंथ निहारूं बाँट सँवारूँ। दादू तारूँ तन मन वारूँ॥'[3]

रहस्यवाद

हिंदी साहित्य में रहस्यवादी काव्य की धारा भी बहुत प्राचीन काल से और प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। ईश्वरीय अनुभूति को हृदय के माध्यम से साहित्य में जब अभिव्यक्त किया जाता है, तो उसे हम रहस्यवाद की संज्ञा देते हैं। संत साहित्य में आद्यंत रहस्यवाद का बहुत ही गहरा प्रभाव है। प्रायः सभी संत कवियों ने निराधार ब्रह्म के प्रति अपने अनुभवों को अपनी अपनी शैली में व्यक्त किया है। रहस्यवाद की अनुभूति एक ऐसे क्षेत्र से उपलब्ध होती है, जो

---

१. वही, पृ० ४३।

२. दादूदयाल की बानी, वेलवेडियर प्रेस, भाग २ पृ० २७।

३. वही, पृ० ४४।

नित्य जगत् से सर्वथा भिन्न है। वह अनुभव एक प्रकार से अनिर्वचनीय होता है। इसे कबीरदास ने भी 'गूँगे की सर्करा' कहा है। साधक जब इस अपूर्व अनुभव को शब्दों के माध्यम से व्यक्त करना चाहता है, तब उसे प्रतीत होता है कि उसके शब्दों की पूँजी इस कार्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। सामान्य शब्द और उनपर आरोपित अर्थ उस सारतत्व को ठीक ढंग से उतार नहीं पाते हैं। यहाँ उसकी शैली में अपेक्षित संस्कार और परिवर्तन की आवश्यकता उत्पन्न होती है। साधक का यह अनुभव जिस प्रकार दुरूह, सूक्ष्म और दुर्ग्राह्य होता है, उसी प्रकार उसकी व्यंजित करनेवाली शब्दावली और शैली भी सामान्य से भिन्न होती है। रहस्यवाद की इस शैली में वैचित्र्य और अभिनव व्यंजना उसमें प्रयुक्त प्रतीकों के द्वारा आती है। सभी देश और काल के कवियों ने इस अलौकिक अनुभूति को व्यक्त करते हुए उसी प्रकार के बिलकुल नए प्रतीकों का प्रयोग किया है। प्रतीकों के अतिरिक्त अन्य कई विधानों का प्रयोग करके पाठकों के हृदय में जिज्ञासा, चमत्कार और रुझान उत्पन्न की जाती है। भाव और प्रेरणा की दृष्टि से इस अनुभूति और पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के मार्ग भी कई हैं! तप, साधना, ज्ञान, चिंतन, प्रेम और भक्ति आदि कई साधन हैं, जिनके द्वारा साधक अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। संत साहित्य की पारमार्थिक अनुभूति भी कई स्रोतों की मिली-जुली साधना से उपलब्ध थी। उन सभी उपलब्धियों की चर्चा यहाँ पर अप्रासंगिक होगी। यहाँ हमें केवल सूफी साहित्य और साधना के द्वारा संत काव्य के अंतर्गत आनेवाली रचनाओं पर पड़नेवाले प्रभावों का ही विचार करना है। यह स्पष्ट है कि सूफी संप्रदाय में प्रेम ही सबसे बड़ा उपादान माना गया है, जिसको पूर्णरूप से अर्जित करने पर भक्त अपनी माशूका (प्रिया) ईश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। प्रेम की पूर्ण निष्पत्ति तभी समझी जाती है, जब भक्त अपने पृथक् अस्तित्व को सर्वथा भूल जाय और ईश्वर के साथ ही निःशेषभाव से तादात्म्य कर ले। यद्यपि यह प्रेम आध्यात्मिक प्रेम है, इसका आलंबन नारी न होकर केवल एक दैवी शक्ति मात्र होती है, किंतु इस भौतिक प्रेम की चरम अवस्था से भी उच्चतर एक ऐसे बिंदु तक प्रेम की स्थिति पहुँचाई जाती है, जिसमें साधक सर्वथा निस्संग होकर पूर्ण रूप से एक लय हो जाता है। यह कार्य सबके लिये सुलभ नहीं है। कुछ ही इसे कर सकते हैं :—

> 'साँई सेंत न पाइए, बातां मिलै न कोय।
> कबीर सौदा राम सौं, सिर बिन कदै न कोय॥'[1]

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० १६०।

इस प्रेम की स्थिति का चित्रण संत कवियों ने अत्यंत उल्लासपूर्वक किया है। आस्था और विश्वास के आधार पर जो भी प्रेम का प्रकाश उनके अंतर्मन को प्राप्त हो सका, उसी में आत्मविभोर होकर विह्वल हो उठे—

> नाचु रे मन मत्त होय।
> प्रेम को राग बजाय रैन-दिन शब्द सूनै सब कोइ।
> राहु केतु नवग्रह नाचै जम आनंद होइ।
> गिरि समुंदर धरती नाचै, लोक हंस रोइ।
> छापा तिलक लगाइ बाँस चढ़, होइ रहा जग से न्यारा।
> सहज कला कर मन मेरौ नाचै, रीझै सिरजनहारा॥[1]

सहजोबाई भी ईश्वरीय प्रेम के चित्रण में आनंदातिरेक की इसी अवस्था का उल्लेख करती हैं—

> प्रेम दिवाने जो भए, प्रीतम के रंग माँहि।
> सहजो सुधि बुधि सब गई, तन की सोधी नाहिं॥[2]

जगजीवन जी भी प्रेम की इस आनंदोन्मत्त अवस्था की साक्षी देते हैं। संसार उन्हें भले ही पागल समझे किंतु उस अनुभूत और रहस्यात्मक प्रेम के अमृत का वे पान कर रहे हैं :—

> 'मोर दिल भयो मतवारा।
> मैं तो प्रभु के चरनन लाग्यो बाउर कहै संसारा॥
> अधर बैठि अमृत रस पीऔं, नाम कै करत पुकारा।
> जगजीवन सतगुरु को भेंटे, उतरे भवजल पारा॥[3]

प्रेम की इस अवस्था की पूर्ण अनुभूति कराने के लिये प्रेमी और प्रेमिका के रूप में साधक और ब्रह्म की यह भावना व्यंजित की गई है। सूफी संतों ने तो भक्त को प्रेमी और भगवान् को प्रेमिका के रूप में चित्रित किया है। मिलन के लिये भक्त और भगवान् दोनों ही की ओर से समान आकांक्षा और प्रयास है। किंतु संत कवियों ने सूफियों के प्रेम और मादकभाव को तो लिया है, किंतु उसको भारतीय भावभूमि, परंपरा और मर्यादा के अनुकूल बनाकर ग्रहण किया है। यहाँ पर

---

१. वही, पृ० २४२।

२. सहजोबाई की बानी, पृ० ३६।

३. जगजीवन साहब की बानी, भाग १, पृ० १४।

साधक अपने को प्रेमिका के रूप में चित्रित करता है और भगवान् को प्रेमी के रूप में। हमारे यहाँ शृंगाररस के चित्रण में सदैव प्रेमिका के ही विरह और मिलन के भावोद्वेग और तीव्रता का चित्रण किया गया है। प्रेमी बहुत कुछ तटस्थ तथा निष्क्रिय रहता है। उसमें भी मिलनेच्छा रहती अवश्य है, किंतु वह प्रायः प्रेमिका की अपेक्षा कम क्रियाशील रहता है। यह प्रतीक और इसमें व्यंजित अत्यंत कोमल और मर्मस्पर्शी मिलन और विरह की योजना, इन संत कवियों ने भौतिक धरातल की परिपाटी में किया है। उनकी वृत्ति बराबर ऊर्ध्वमुखी रही है। इसलिए कहीं कहीं पर तो वर्णन बिल्कुल सामान्य ढंग के प्रेम विरह के समान है और कहीं पर उसमें आधिभौतिक और आध्यात्मिक संकेत भी पर्याप्त आ गए हैं, जिससे सुनने और पढ़नेवालों के हृदय में भ्रम न पैदा हो जाय। संत कवियों ने प्रेमावस्था का यह चित्रण चाहे संयोग या वियोग जिस किसी भी परिस्थिति में किया है, सदैव भौतिक चित्रण से कुछ अपनी भिन्नता लिए रहता है। संत कवियों ने संभवतः भारतीय परंपरा के ही कारण प्रेमी को पति के रूप में चित्रित किया है, केवल प्रेमी के रूप में नहीं। प्रेम से पूर्व की अवस्था को उन्होंने नैहर माना है और प्रेम पश्चात् मिलन की स्थिति को ससुराल कहा है। पति प्रेमी से विवाह होने के पश्चात् पत्नी प्रेमिका उसके साथ ससुराल जाती है, जहाँ पर उसे प्रतिक्षण अपने इस अलौकिक पति के अपूर्व सौंदर्य का 'दीदार' प्राप्त होता है। संत कवियों के ऊपर वेदांत के अद्वैत का भी गहरा प्रभाव था। इसलिये उनकी प्रेम व्यंजना कहीं भी उथली अथवा सर्वथा स्थूलाश्रयी नहीं हो पाई है। सूफी कवियों में कहीं कहीं पर इश्क मजाजी और इश्क हकीकी का विभाजन बहुत ही कठिन हो जाता है। उनके रूप और सौंदर्य की उपासना तो उस सीमा तक पहुँची है, जहाँ प्रेमिका के अभाव में अमरद (पुरुष) को ही उन्होंने माशूका के पद पर बिठाया है।

सूफी कवियों के इस आध्यात्मिक प्रेम का निदर्शन उतनी गूढ़ शैली में नहीं हुआ है, जितना योग परक अथवा अनुभूति परक उक्तियों का। प्रेम की यह व्यंजना तो अत्यंत काव्यमय शैली में हुई है। इस क्षेत्र में प्रविष्ट होकर कबीर जैसा अक्खड़ साधक भी जैसे खंडन मंडन और समर्थन तथा विरोध की प्रवृत्ति को सर्वथा भूल जाता है और एकदम प्रेम की गहराई में निमग्न होकर सर्वभूत को उसी स्नेह और प्यारभरी दृष्टि से देखने लगता है। इन रचनाओं में पर्याप्त प्रसाद गुण है। भाषा के अटपटेपन के बावजूद भी एक ऐसा उच्छल प्रेमातिरेक उनसे व्यंजित होता है कि आश्चर्य होता है कि 'ज्ञान की शमशेर' से लड़नेवाले

कबीरदास अवगुंठनवती रसीली और दर्दभरी नायिका की भूमिका में कैसे उपस्थित हो गए।

संत कवियों ने अपने हृदय के दर्द को इतनी निश्छलता के साथ व्यक्त किया है, इसका कारण यह है कि वे अपने और परमात्मा के बीच किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं चाहते थे। इसीसे कबीर घूँघट भी उठा लेने की सलाह देते हैं। स्पष्टरूप से 'घूँघट का पट खोलि रे तोहि पीय मिलैंगे।' प्रेमी और प्रेमिका के भीतर उस पर्दे को भी रहने देना उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसी प्रेम के परिणाम स्वरूप वे आध्यात्मिक विवाह की कल्पना और विधान करते हैं—

'दुलहनीं गावहु मंगलचार, हम घरि आए हो राजा राम भरतार।
तन रत करि मैं मन रति कर हूँ, पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुनै आए, मैं जोबन मैं माती।
सरीर सरोवर बेदी करिहूँ, ब्रह्म वेद उचार।
रामदेव संगि भाँवरि लै हूँ, धनि धनि भाग हमार।
सुर तैतीसूं कौतिग आए मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अबिनासी॥'[1]

इस विवाह के उपरांत कबीर पुकार पुकारकर घोषणा करते हैं कि राम मेरे पति हैं और मैं उनकी दुलहिन हूँ। उनके मिलन के निमित्त सभी प्रकार के शृंगारकर उल्लास में भरे हुए हैं—

'हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव॥
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
किया स्यंगार मिलन कै तांई
काहे न मिलो हो राजा राम गुसांई।
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ,
कहै कबीर भौजलि नहीं आऊँ।'[2]

इस प्रियतम के मिलन पर चरनदास भी प्रसन्न होकर होली मनाते हैं—

---

१. (कबीर ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ८७।

२. कबीर ग्रंथावली, पृ० १२५।

हिलमिल होरी खेलि लई हो बालमा घर पाइया।

(बानी पृ० १५३)

मिलन के आनंद का अनुभव करने के बाद ही विरह की दारुण परिस्थिति की सच्ची अनुभूति होती है। इन कवियों ने जिस तन्मयता के साथ मिलन के आनंद का वर्णन किया है, उससे भी अधिक तन्मयता, सचाई और मार्मिकता से उन्होंने विरह की पीड़ा का वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में विरह का अनुभव ही साधक को शीघ्रता और पवित्रता के साथ भगवान् के समीप लाता है। यह सारा संसार ही उन्हें विरह की पीड़ा से जलता हुआ प्रतीत होता है। जायसी ने कई स्थलों पर इस विरह की समस्त सृष्टि में व्याप्त अनुभूति का चित्रण अत्यंत हृदयस्पर्शी ढंग से किया है :—

सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसंत राती बनस्पती। औ राते सब जोगी जती॥
भूमि जो भीजि भयउ सब मेरू। औ राते तँह पंखि पखेरू॥
राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया॥[1]

× × ×

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन बिछोऊ॥[2]

जायसी ने इसी प्रकार जीवन के बृहद् परिपार्श्व में उस अलौकिक और सर्वव्यापी सत्ता के प्रति प्रेम और सौंदर्य को देखा है। उनकी दृष्टि प्रेम की व्यंजना में संत कवियों की अपेक्षा अधिक विशाल और तीव्र है। प्रकृति के अन्य व्यापारों में भी जो अत्यंत सामान्य मालूम पड़ेंगे, जायसी ने प्रेम तत्व का दर्शन किया है और उसकी अत्यंत मार्मिक व्यंजना की है—

सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक टूक होइ के बिहराई।
बिहरत हिया करहु पिय टेका। दीठि दवंगरा मेरवहु एका।[3]

पानी के अभाव में उससे वियुक्त होने पर ही सरोवर का हृदय मानों फट गया है। पुनः पानी पड़ने पर मिट्टी की दरारें मुँद जाती हैं। इसीलिए जायसी दृष्टि रूपी प्रथम वृष्टि का आवाहन करते हैं। संत कवियों के प्रेम और विरह का आलंबन और आधार बहुत कुछ व्यक्तिगत था। प्रेमिका के रूप में उन्होंने बहुधा वैयक्तिक

१. रामचंद्र शुक्ल : जायसी ग्रंथावली, भूमिका, पृ० ४०।

२. वही।

३. वही, (भूमिका) पृ० ८८।

विरहानुभूति का ही चित्रण किया है, किंतु उनकी प्रेम संबंधी रचनाएँ अन्य रचनाओं की तुलना में अधिक हृदयस्पर्शी हैं। इनमें न तो हठयोगियों का अक्खड़पन है और न वेदांतियों की ज्ञानगरिमा और तज्जनित शुष्क तर्कवाद।

कबीरदास जी अपने हृदय की कसक को व्यक्त करते हुए करुणा से भींगी वाणी में कहते हैं—

साईं बिन दरद करेजे होय।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय।
आधी रतियाँ पिछले पहरवा सांई बिना तरस तरस रही सोय।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, सांई मिले सुख होय॥[1]

संत कवियों ने वियोग की इस व्यथा को व्यक्त करने के लिये उद्दीपनों की भी चर्चा की है। कहीं उन्हीं के द्वारा संदेशवाहक का भी काम ले लिया जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में धरमदास जी इस आध्यात्मिक वियोगी (वियोगिनी ?) की मर्मव्यथा को कोयल के ही सहारे बतलाते हैं—

चढ़ि नौरंगिया की डार, कोइलिया बोलै हो।
अगम महल चढ़ि चलो जहां पिय से मिलो॥
मिलि चलो आपन देश, जहाँ छबि छाजई।
सेत सब्द जहँ खिले, हँस होइ आवही॥[2]

संत रैदास की भक्ति अत्यंत विनय और नम्रता से भरी है। वे अपने वियोग की चर्चा भी संभवतः नहीं करते। केवल एक बार अपने प्यारे भगवान् की याद करते हैं और अपनी वियोग व्यथा की चर्चा कर देते हैं। वे उससे दर्शन देने की मनुहार करते हैं जिससे प्रेम सार्थक हो सके। वे उस प्रियतम को चंद्रमा और चकोर की याद दिलाते हैं और उसी मिस अपनी दशा का संकेत करते हैं इस भवसागर में उसे प्रेमी के दर्शन और साहचर्य से वंचित होने पर सारी रात्रि तड़पते ही बीतती है। अतः एक क्षण युग के सदृश अनुभव करनेवाले रैदास को अब वियोग व्यथा असह्य हो रही है[3]।

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० २५०।
२. धरमदास की शब्दावली, पृ० ४४।
३. प्रीति सुधारन आव।
तेज सरूपी सकल सिरोमनि, अकल निरंजनराव।

दरिया साहब (बिहारवाले) को उस प्रीतम की याद वर्षा ऋतु में विशेष रूप में आती है। बरसात में प्रेम के उद्दीपन की क्षमता तो है ही, साथ ही व कई दृष्टियों से निर्बलों और निस्सहायों को उनकी असमर्थता और विवशता का बोध भी कष्टकर रूप में कराती है। घनी वर्षा का समय है, तीव्रवाही पवन का वेग है और उसके कारण बादल और भी उमड़ घुमड़ के साथ वर्षा करते हैं। वर्षा की भयानकता झींगुरों की झंकार के कारण बढ़ जाती है और इस अवसर पर वियोगिनी को उसके सर्वसमर्थ प्रियतम की स्मृति पुनः हरी हो जाती है। सघन वन में दूर से दादुरों का शोर सुनाई पड़ता है और इसे सुनकर वर्षा और वियोग से भींगा प्रेयसी का हृदय और भी आर्द्र हो जाता है, क्योंकि प्रियतम के प्रवास की याद आ जाती है। छोटी बड़ी सभी सरिताएँ सलिलवती होकर अपने अपने कँगारों को तोड़कर बह निकलीं। युवा वियोगिनी को अपना उद्दाम यौवन इसे देखकर सँभालना और भी कठिन हो जाता है और उसकी आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती है। कोई पता बतलानेवाला नहीं। पंख भी नहीं, अन्यथा उड़कर प्रियतम का पता तो अवश्य ही लगा लेती। फिर तो उनके दर्शन के आनंदरूपी अमृत से अपने शरीर भाजन को भरपूर भरती। इस वियोग की दुर्दांत पीड़ा में भी वियोगिनी ने आशा का संबल नहीं छोड़ा है। उसे पूरा विश्वास है कि अंत तक उसे प्रियतम का अवश्य ही दर्शन मिलेगा[1]।

पिउ संग प्रेम कबहुँ नहिं पायो, करनी कवन बिसारी।
चक को ध्यान दधिसुत सौं हेत है, यों तुम ते मैं न्यारी।
भवसागर मोहिं इक टक जोवत, तलफत रजनी जाई।
पिय बिन सेजइ क्यों सुख सोऊँ, विरह बिथा तन खाई।
मेटि दुहाग सुहागिन कीजै, अपने अंग लगाई।
कह रैदास स्वामी क्यों बिछोहे, एक पलक जुग जाई॥ ३॥
—रैदास जी की बानी, पृ० ३६।

१. अमर पति प्रीतम काहे न आवो।
तुम सतवर्ग हौ सदा सुहावन, किमि नहिं उर गहि लाओ।
बरषा विविध प्रकार पवन अति, गरजि घुमरि घहराओ।
बुंद अखंडित मंडित महि पर, छुटा चमकि चहुँ जाओ।
झींगुर झनक झनक झनकारहिं, बान बिरह उर लाओ।
दादुर मोर सोर सघन बन, पिया बिन कछु न सुहाओ।

दादू की करुणा और व्यथा तो और भी गंभीर है। वे तो दरदवंद प्रियतम के दरबार में गुहार कर रहे हैं। अपने स्वामी से बार बार दर्शन देने की प्रार्थना करते हैं। उनके इस अकेलेपन में उनकी व्यथा का अनुमान लगाना कठिन है। उसका निवारण करने में वही प्रियतम ही समर्थ है। वियोग के अनेक सख्त घाव दादू ने अपने ऊपर झेले हैं, किंतु ये सारे घाव निःप्रयास मिट जायँ यदि प्रिय का दर्शन हो जाय। इस कष्ट में उन्हें अब केवल इसी की आशा रह गई है[1]।

इस प्रकार रहस्यवाद की यह प्रेममूला अभिव्यक्ति, जो सूफी सिद्धांत और प्रभाव पर अवलंबित है, संतकाव्य में आद्यंत बड़ी मार्मिकता के साथ मिलती है। संत संप्रदाय के मौलिक सिद्धांतों में ईश्वर विषयक दांपत्य प्रेम सन्निविष्ट है। अतः सभी संत कवि उस प्रेम के प्याले का आकंठ पान कर उसकी मस्ती में अपने प्रणय और विछोह की अनुभूति प्रकट करते हैं। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर पं० रामचंद्र शुक्ल ने संत कवियों के संबंध में लिखा है 'निर्गुण शाखा के कबीर, दादू आदि संतों की परंपरा में ज्ञान का जो थोड़ा बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदांत का है, पर प्रेमतत्व बिलकुल सूफियों का है। इनमें से दादू, दरिया साहब आदि

सरिता उमड़ि घुमड़ि जल छावो, लघुदिर्घ सब बढ़ियावै।
थाके पंथ पथिक नहिं आवत, नैनन में झरि लावों।
कोइ पूछे पछितावत दिल में, जो पर होइ उड़ि धावों।
जो पिया मिलैं तो मिलौं प्रेम भरि अभिभाजन भरि लावौं।
है विश्वास आस दिल मेरे, फेरि दृग दर्सन पावों।
कहै दरिया धनि भाग सोहागनि चरन कंवल लपटावों॥
दरिया साहब के चुने हुए शब्द, पृ० ३२।

१. दरबार तुम्हारे दरदवंद पिव पीव पुकारै।
दीदार दरूनै दीजिये, सुनि खसम हमारे॥
तनहा केतनि पीर है, सुनि पुँहीं निवारै।
करम करीमा कीजिए, मिलि पीव पियारे॥
सूल सुलाकौं सौ सहूँ तेग तन मारै।
मिलि साईं सुख दीजिए, तूंही तुं सँभारै॥
मैं सुहदा तन सोखता, बिरहा दुख जारै।
जिव तरसै दीदार कूँ, दादू न बिसारै॥
दादूदयाल की बानी, भा० २ पृ० ३७।

तो खालिस सूफी ही जान पड़ते हैं[1]।' आगे उन्होंने कबीर के संबंध में लिखा है, 'कबीरदास में जो रहस्यवाद पाया जाता है, वह अधिकतर सूफियों के कारण।[2] इस प्रकार संत साहित्य पर तो सूफी मत का प्रभाव बहुत ही गहरा है, विशेष रूप से उसके रहस्यवादी साहित्य पर।

रहस्यवाद की इन अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिये सूफी संत कवियों ने प्रतीकों का सहारा लिया है। रहस्यवादी रचनाओं में मुख्य रूप से प्रेमी या प्रेमिका के प्रतीक का सहारा लेकर संतकवियों ने प्रेम का चित्रण किया है। कहीं पर पतिपत्नी के रूप में और कहीं केवल प्रेमी और प्रेमिका यही प्रतीक मुख्यतः प्रयुक्त हुए हैं। इसमें संयोग और वियोग की चर्चा करते हुए प्रासंगिक अनेक वर्णन और परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। उन सबमें प्रतीक योजना ढूढ़ना ठीक नहीं है। यह अवश्य है कि अधिकांश प्रतीकों में आध्यात्मिक और लौकिक पक्ष दोनों को ढूंढ़ा जा सकता है।

सूफी संप्रदाय में प्राणायाम, श्वास निरोध और अनेक प्रकार के आसनों का पालन किया जाता है। ये सभी क्रियाएँ नाथपंथ या हठयोग का प्रमाण देती हैं।

जायसी आदि सभी भारतीय सूफी हिंदी कवियों ने इला, पिंगला आदि नाड़ियों का प्रयोग किया है। हठयोग के प्रति एक प्रकार की रुझान हमें इन कवियों में मिलती है। इन सभी सूफी कवियों ने अपने आख्यान के नायकों को जोगियों की वेषभूषा में दिखलाया है और जोगियों के चमत्कार द्वारा अपने कथा प्रसंग में सहायता ली है।

सूफी कवियों ने हिंदू देवी देवताओं और उनकी परंपरा का अपने ग्रंथों में बहुत ही संमान के साथ वर्णन किया है। सूफी कवियों में संभवतः भारतीय प्रभाव के ही कारण विशेष रूप से धार्मिक सहिष्णुता का भाव आया। वैसे यह उनमें प्रारंभ से ही मौजूद था, किंतु भारतीय प्रभाव ने इसमें निश्चित रूप से वृद्धि की।

भारत के सूफी कवियों ने फारस आदि के सूफी कवियों की अपेक्षा प्रेम और शृंगार का चित्रण अधिक मर्यादित ढंग से किया है। उनके प्रेम में भौतिक और वासनात्मक तत्व का बहुत कम अंश आ पाया है। बाहर के सूफी कवियों

---

१. रामचंद्र शुक्ल (संपा०) : जायसी-ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १६२।
२. वही, पृ० १६४।

ने इस प्रकार की मर्यादा का निर्वाह भारतीय परंपरा की सीमा तक नहीं किया है।

साधना पक्ष में भी माला का फेरना, दृष्टि और चित में [एकाग्रता की आवश्यकता सूफी संप्रदाय को भारतवर्ष से मिली है। पीरों की मजार और कब्र की पूजा और स्पष्ट रूप से बुतपरस्ती की चर्चा में भी भारतीय प्रभाव ढूढ़ा जा सकता है।

इस प्रकार सूफी संप्रदाय और भारतीय चिंतन दोनों के संपर्क से दोनों ने एक दूसरे से प्रभाव ग्रहण किया और दोनों ने एक दूसरे के प्रति अपनी आस्था और कृतज्ञता का प्रदर्शन किया। सूफी संप्रदाय के प्रभाव से हमारे यहाँ के चिंतन में उदारता और अंतर्मुखी दृष्टि में निखार आया। यहाँ रूढ़ियों और अंधविश्वासों के बंधन ढीले हुए।

———

पंचम अध्याय

निर्गुण साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

नि० सा० पृ० ११ (११००–६१)

५

संत साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि

संत साहित्य के पीछे जो दार्शनिक प्रेरणा रही है उसके संबंध में विद्वानों ने प्रायः वेदांत और उपनिषद् में प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्मवादी विचारधारा की ओर संकेत किया है। संत साधक और उनके अग्रणी कबीर को लोगों ने यही समझा है कि वे जीव, आत्मा, ब्रह्म और प्रकृति संबंधी अपनी मान्यताओं को स्थिर करने में मुख्य रूप से प्राचीन हिंदी ग्रंथों और विशेष रूप से निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथों और महात्माओं से अनुप्राणित हुए थे। निर्गुण ब्रह्म की इसी मान्यता के आधार पर कबीर में अद्वैत दर्शन के प्रति दृढ़ आस्था दिखलाई देती है[1]। किंतु कबीर का अद्वैतवाद सगुण और निर्गुण के परंपरागत भेद पर आधारित नहीं प्रतीत होता। प्राचीन वैदिक और उपनिषद् काल की परंपरा में तो निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादन के साथ ही अद्वैतवाद का प्रतिपादन समझा जाता है। शंकराचार्य के वेदांत में अद्वैतदर्शन संबंधी कुछ विशेष वचन, जिन्हें महावाक्य कहा जाता है, स्पष्ट रूप से अद्वैतवाद और निर्गुण ब्रह्म के पर्याय को स्वीकार करते हैं। चार महाकाव्य माने गए हैं—प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐ० उपनिषद्), तत्वमसि (छांदोग्य उप० ६।८।७), अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उप० १।४।१०), अयमात्मा ब्रह्म (मा० उप० २) उपनिषद् और वेदांत में स्पष्ट रूप से ब्रह्म की व्याख्या करते हुए उन

अद्वैतवाद और निर्गुणमत

---

1. 'कबीर के सूक्ष्म दार्शनिक विचारों को पूर्णरूप से समझने के लिये हमें उनकी एक ही दो उक्तियों पर नहीं, बल्कि उनकी सब रचनाओं पर एक साथ विचार करना होगा। ऐसा करने से इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि वे पूर्ण अद्वैत थे।'

   डा० बड़थ्वाल : हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ० १२७।

लक्षणों का वर्णन किया गया है जिसे हम निर्गुण ब्रह्म में मानते हैं। पंचदशी में 'अहं ब्रह्मास्मि' महाकाव्य का वर्णन करते हुए ब्रह्म की व्याख्या की गई है—

'स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मवद् एष वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरभ्यर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥'[1]

जो स्वतः पूर्ण है (अर्थात् देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य है) वही ब्रह्म है। इस ब्रह्म के निर्गुण रूप को लेकर चिंतन और विचारणा वेदांत तथा उपनिषद् ग्रंथों में की गई है, बिलकुल वही रूप हमें संत कवियों में नहीं मिलता। कबीर ने निर्गुण रूप की व्याख्या करते हुए ब्रह्म को 'पुहुप वास ते पातरा[2]' ऐसा सूक्ष्म बतलाया है। उन्होंने निर्गुण की चर्चा करते हुए ब्रह्म के इस रूप पक्ष को बहुत स्पष्टता से व्यक्त किया है, उसका प्रधान कारण यही था कि वे सगुण के स्पष्ट रूप से विरोधी थे। अवतारवाद और सगुण उपासना के प्रति उनके खंडन की वृत्ति अत्यंत उग्र थी। ब्रह्म को देश काल और शरीर की सीमा में बाँधना उन्हें बिलकुल ही नहीं मान्य था। इसी से 'जाके मुँह माथा नहीं, नाही रूपक रूप' के निषेध के साथ ही उन्होंने पुष्पगंध की तरह सूक्ष्म और सर्वव्यापी रूप की कल्पना की है। कबीरदास जी की ब्रह्म विषयक स्थापना केवल 'निर्गुण' तक ही नहीं टिकी रह जाती है; उनके लिये तो अंतिम सत्य रूप ब्रह्म वास्तव में इस निर्गुण और सगुण के भेद से भी अतीत है। वैदिक और उपनिषद् परंपराओं में स्थूलरूप से निर्गुण और सगुण को ही लेकर तत्वचिंतन किया गया है। कबीर ने हिंदू परंपरा की पृष्ठभूमि में तो इस निर्गुण और सगुण, जिसमें अवतारवाद भी संमिलित है, के बीच अपने मत को स्पष्ट किया। सगुण की व्यर्थता उन्होंने निर्विवाद और असंदिग्ध रूप में बताई। किंतु कबीर किसी भी विचारधारा के अन्य अनुयायी तो थे नहीं। अतः सब कुछ सुनने और जानने पर भी उन्होंने स्वानुभूति और आत्मचिंतन को सर्वोपरि माना है। जब उन्हें सच्चा आत्मज्ञान हो गया तो वे सर्वथा निर्वैर हो गए। सभी प्रकार के द्वंद्व और संदेह मिट गए। जीवन में सर्वत्र ही समत्व दृष्टि आ गई और सभी प्रकार के भेदभाव मिट गए—

---

१. पंचदशी महावाक्य विवेक प्रकरणम्, श्लोक ४।

२. जाकै मुँह माथा नही, नाहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतली, ऐसा तत्त अनूप ॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० ६०।

जब मैं आतम तत्त विचारा।
तब निरवैर भया सबहिन तें काम क्रोध गहि डारा।
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी।
राणा राव कवन सूँ कहिये, कवन वेद को रोगी।
इनमैं आप आप सबहिन मैं, आप आप सूँ खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँड़े, रूप धरे धरि मेलै।
सोच बिचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोइ न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै[1]।

इस आत्मतत्व की उपलब्धि के बाद कबीर ने वस्तुतः निर्गुणवाद के प्रति एकांगी समर्थन को सर्वथा उचित नहीं समझा। उन्हें प्रतीत हुआ कि सत्य जैसे निर्गुण सगुण आदि की सीमा और भेद से अतीत है। उसकी परिधि इतनी व्यापक और असीम है कि उसमें ये सभी प्रकार के द्वंद्व, अंतर्विरोध और विषमताएँ अंतर्भूत सी हो जाती हैं। यहाँ सब कुछ मिलकर एकाकार होकर लय हो जाता है। कबीर को ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अभी तक विद्वान्, पंडित और साधुजन धोखे में परमतत्व को पहिचान नहीं सके हैं इसीलिये वे निर्गुण और सगुण के द्वंद्व और बखेड़े में पड़े हैं। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि और विवेक से देखने पर गुण और निर्गुण दोनों ही सर्वथा पृथक् कोई तत्व नहीं है। दोनों एक दूसरे में अंतर्निहित हैं। उसे लोग अजर अमर भी कहते हैं, किंतु फिर भी वह अलख है। ठीक प्रतीतिपूर्वक कुछ भी उसके रूप, रंग, वर्ण आकृति के संबंध में कहना कठिन है। कुछ लोग उसे पिंड और ब्रह्मांड में व्याप्त बतलाते हैं, पर सचाई यह है कि उसका कहीं और अंत नहीं है। सभी प्रकार की सीमा और बंधन से वह बिलकुल मुक्त है, जिसकी कल्पना हमारी बुद्धि कर सकता है। कबीरदास इस प्रकार के सभी तर्क और कुतर्क को सर्वथा अनावश्यक मानते हैं और वे तो केवल सच्ची आसक्ति और आत्मज्ञान द्वारा ही उस परम सत्य की प्राप्ति संभव समझते हैं[2]। कबीरदास इस प्रकार

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १५१।

२. संतो धोखा कासूं कहिये।

गुण में निरगुण निरगुण में गुण है बाट छाड़ि क्यूं बहिये।

अजरा अमरा कथै सब कोई अलख न कथणाँ जाई।

जाति सरूप वरण नहीं जाकै घटि घटि रह्यो समाई।

अपनी उच्चतम भावभूमि पर पहुँचकर जिस सत्य का साक्षात्कार करते हैं उसे वे न तो निर्गुण के नाम से पुकार सकते हैं और न सगुण के नाम से। वास्तव में यह परमतत्व इन दोनों से परे है जिसमें ये दोनों ही अंतर्निहित तो अवश्य हैं, किंतु सत्य से ऊपर हैं।

सगुण की सेवा करो, निर्गुण का करू ज्ञान।
निर्गुण सगुण के परे, तहँ हमारा ध्यान॥

द्वैताद्वैत विलक्षणवाद

आचार्य द्विवेदीजी ने इसे द्वैताद्वैत विलक्षणवाद का नाम दिया है। प्रश्न उठता है कि कबीरदास ने त्रिगुणातीत इस ब्रह्म का प्रतिपादन अपने स्वाभाविक चिंतन और अंतर्दृष्टि द्वारा किया अथवा पहले के चिंतकों की कोई प्रेरणा भी इसके पीछे थी। ऐसा सोचना सर्वथा निर्मूल नहीं कहा जा सकता कि संत संप्रदाय के उद्गम के पूर्व ऐसी कोई विचारधारा संतों और साधकों के बीच प्रचलित थी। कबीर ने उससे प्रेरित हो इसका प्रतिपादन किया। नाथ संप्रदाय में भी द्वैताद्वैत विलक्षणवाद के नाम से परम सत्ता का उल्लेख है। 'नाथ मार्ग' अद्वैतवादी है परंतु शंकर वेदांत से अपना भेद बताने के लिये वे लोग अपने को 'द्वैताद्वैत विलक्षणवादी कहते हैं[२]। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि सदसद् विलक्षणवाद का प्रतिपादन नाथ संप्रदाय से भी पूर्व बौद्ध दर्शन के महायान संप्रदाय में किया गया है। महायान संप्रदाय में एक अत्यंत महत्वपूर्ण दार्शनिक विचारधारा है। नागार्जुन इस संप्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने इसे एक सुसंगत और प्रौढ़

प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई वाके आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जो कथिये, कहै कबीर हरि सोई॥
कबीर ग्रंथावली, पृ० १४६।

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० २६०।

२. 'यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? यदा माया कल्पितमिति वदेयुस्तर्हि तान् वदन्तो वयमवाचो क्रियांश्चकर्म तत् किमिति चेदुच्यते। अद्वैतं तु निष्क्रियादित्याद्यस्ति। यतः कस्यापि वस्तुनो नोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य— इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैत खण्डनम् करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तं यद्द्वैताद्वैत विवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेवसम्यगित्यभ्युपगमिस्यामः। गो० सि० सं०, पृ० १६। दे० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, पृ० ११०।

आधार पर प्रतिष्ठित किया। वैसे नागार्जुन के पहले अश्वघोष की रचनाओं में भी शून्यवाद के बीज मिलते हैं। 'शून्यवादी' स्वयं को माध्यमिक कहते हैं। माध्यमिक शब्द का अर्थ मध्यम मार्ग का अनुयायी है। यह मध्यम मार्ग वेदांत के समन्वय की भाँति सत् और असत्, शून्य और अशून्य, भाव और अभाव, पुण्य और पाप आदि समस्त द्वंद्वों में अर्थात् पक्ष और विपक्ष दोनों में सूत्र रूप से, अंतर्यामी रूप से व्याप्त रहकर उनको जीवन और ज्योति देता हुआ, उनका आधार और अधिष्ठान बनता हुआ भी, उनसे विलक्षण और परे है। यह ध्यान देने की बात है कि मध्यम मार्ग पक्ष और विपक्ष रूपी दो अंतों के बीच में सविकल्प बुद्धिग्राह्य मार्ग नहीं है। इसे मध्यम मार्ग कहना वाणी का आडंबर मात्र है। यह तो बोधगम्य एवं अनुभूति विषय, छुरे की प्रखर धारा पर चलने के समान कठिन उपनिषद् दर्शित 'दुर्गम पथ' है।[1] 'माध्यमिक' दर्शन में शून्यवाद का अर्थ, हम प्रबल आग्रह के साथ कहते हैं, अनिर्वचनीय है। 'शून्य' एक दुधारी तलवार है। इसके दो रूप हैं, दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टि से 'शून्य' का अर्थ है 'स्वभाव शून्य' और दूसरी दृष्टि से इसका अर्थ है 'प्रपंच शून्य'। यह सत्य भी है और 'मिथ्या' भी, यह तत्व भी है और माया भी। तत्व अनिर्वचनीय है क्योंकि वाणी और बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती, संसार भी अनिर्वचनीय है क्योंकि वह न सत् है, न असत्, न अदसत्, न सदसद् भिन्न।[2]' इस प्रकार बौद्धदर्शन के इसी मध्यम मार्ग का उल्लेख सिद्धों ने अपनी रचनाओं में किया है और नाथ संप्रदाय में भी इस 'मज्झिम' मार्ग की उपादेयता मानी गई है। आगे चलकर नाथ संप्रदाय और परवर्ती दूसरी आस्तिक साधनाओं में 'तत्व' के स्थान पर अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म को 'सदसद् विलक्षणवाद' के स्थान पर द्वैताद्वैत-विलक्षणवाद की पद्धति से निरूपित किया जाने लगा। वास्तव में ब्रह्म या तत्व के चिंतन में हमें उपनिषद् काल से लेकर बौद्ध धर्म, महायान, वज्रयान, सिद्धयान, नाथ और संत संप्रदाय तक प्रायः एक ही प्रकार की दृष्टि दिखलाई पड़ती है। परिवेश और शब्दावली में यत्रतत्र थोड़ा भेद भले ही प्रतीत हो किंतु वास्तव में दिशा और दृष्टि में बहुत अंतर नहीं प्रतीत होता। इसी से बुद्धदर्शन को हम नास्तिकवादी दर्शन नहीं कह सकते। वेदांत में 'नेति नेति' के कथन द्वारा ब्रह्म को अनिर्वचनीय बतलाया गया है। उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने 'मौन' के द्वारा उस

---

१. चंद्रदत्त शर्मा : बौद्धदर्शन और वेदांत, पृ० २८।

२. वही, पृ० २६।

सत्य या तत्व को केवल अनिर्वचनीय होने का संकेत दिया है। 'दीघ निकाय' में प्रसिद्ध चौदह प्रश्नों का उल्लेख किया गया है। वे हैं (१–४) क्या जगत् नित्य है ? अथवा नहीं ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों से भिन्न। (५–८) क्या जगत् अंतवाद है ? अथवा नहीं ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों से भिन्न ? (६-१२) क्या तथागत देह त्याग के पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं ? अथवा नहीं ? अथवा दोनों ? अथवा दोनों नहीं ? (१३-१४)। क्या जीव और शरीर एक है ? अथवा भिन्न[1] ? इन प्रश्नों के उत्तर में उनका मौन हो जाना केवल इस बात का द्योतक है, कि सविकल्प बुद्धि के द्वारा इस सत्य का न तो ग्रहण हो सकता है और न उसका समुचित उत्तर ही दिया जा सकता है। ऐसा ही वर्णन उपनिषद् में भी मिलता है, जब कि तीन बार प्रश्न पूछे जाने पर भी ऋषि मौन रहते हैं। तात्पर्य यह कि वाह्य कर्मकांड तथा दूसरे प्रकार की औपचारिकता को निरर्थक समझते हुए आत्मतत्व में ही सत्य, मोक्ष अथवा निर्वाण की उपलब्धि, उपनिषद् तथा बौद्ध दोनों ही दर्शन में स्वीकार की गई है।

आत्मतत्व की उपलब्धि

बौद्ध दर्शन को प्रायः अनात्मवादी दर्शन कहा जाता है, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि 'चित्त' जिसे वहाँ शुद्ध विज्ञान माना गया है, बिलकुल आत्मा के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। भगवान् बुद्ध ने आत्मा को अहंकारी माना है, इसी कारण बौद्ध दर्शन को अनात्मवादी संभवतः कहा गया, किंतु वस्तुतः स्थिति ऐसी है नहीं। बुद्ध भगवान् ने जिसे प्रज्ञा, बोधि या ज्ञान कहा है, वही वास्तव में वेदांत का आत्मतत्व है, किंतु भगवान् बुद्ध ने और अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने आत्मा को जीवात्मा के अर्थ में ग्रहण किया। 'वे सदा आत्मा का अर्थ अविद्याजन्य संसारबद्ध अहंकारी जीव ही समझते रहे।[2]' किंतु यह जान लेना आवश्यक है कि विशुद्ध आत्मा की, जो विशुद्ध विज्ञान स्वरूप है, सत्ता बौद्ध दर्शन को सदा किसी न किसी रूप में मान्य रही है। भगवान् बुद्ध स्वयं तत्व को प्रज्ञा या बोधि कहते हैं, अश्वघोष उसे आलय विज्ञान या तथागत गर्भ कहते हैं। 'यह एक महत्वपूर्ण बात है कि बौद्ध प्रायः विशुद्ध आत्मतत्व को आत्मा कहकर 'चित्त या विज्ञान कहते हैं, तथापि उसके लिये कभी

---

१. दीघ निकाय, १ ६, ७, और ६।

२. बौद्ध दर्शन और वेदांत, पृ० २८८।

कभी 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है।'[1] तात्पर्य यह है कि आत्मा के संबंध में वैदिक और बौद्ध दर्शन में भले ही मतभेद हो किंतु आत्मतत्व के संबंध में कोई भी मतभेद नहीं है। इस आत्मतत्व को ही दोनों दर्शन में परमतत्व स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त किसी भी वाह्य पदार्थ में उस परम सत्य को आरोपित करना उचित नहीं। केनोपनिषद् में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह ब्रह्म अत्यंत सूक्ष्म है। 'जो वाणी से प्रकाशित नहीं है, किंतु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसी को तू ब्रह्म जान, जिस 'इस' (देश कालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है (केन० १।४)। जो मन से मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिस 'इस' (देश कालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है (केन० १–५)। जिसे कोई नेत्र से नहीं देखता बल्कि जिसकी सहायता से नेत्र देखते हैं उसी को तू ब्रह्म जान। जिस 'इस' की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है (केन० १–६)। जिसे कोई कान से नहीं सुनता बल्कि जिससे यह श्रोत्रेंद्रिय सुनी जाती है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस 'इस' (देश कालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है (केन० १–७)। जो नासिकारंध्रथ प्राण के द्वारा विषय नहीं किया जाता, बल्कि जिससे प्राण अपने विषयों की ओर जाता है उसी को तू ब्रह्म जान। जिस 'इस' (देश कालावच्छिन्न वस्तु) की लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है (केन० १–८)। उस ब्रह्म की प्राप्ति के संबंध में मुंडक उपनिषद् बहुत स्पष्ट रूप से बतलाता है कि आत्मतत्व की प्राप्ति किसी भी वाह्य उपचार द्वारा संभव नहीं। वह तो शुद्ध ज्ञान से ही संभव है। यह आत्मा न तो विस्तृत शास्त्रों के अध्ययन से सुलभ है और न बहुत से ग्रंथों और विद्याओं की स्मृति में धारण करने से ही प्राप्त होती है। वह तो विद्वान् या साधक द्वारा ही अन्य कामनाओं के त्यागने पर केवल आत्मलाभ के दृढ़ निजी संकल्प से मिलता है। यह आत्मा बलहीन पुरुष को भी नहीं प्राप्त हो सकता। बलहीन पुरुष से तात्पर्य है 'आत्म-निष्ठा जनित शक्ति से रहित।' न प्रमाद (अर्थात् लौकिक पुत्र पशु आदि विषयों की आसक्ति से उत्पन्न प्रमाद) से और न लिंग रहित (संन्यास रहित) तपस्या (ज्ञान) से ही मिल सकता है। परंतु जो व्यक्ति इन उपायों से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसे वह आत्मा परमधाम में प्रवेश करा देता है। इसका आशय यह हुआ कि जो विद्वान् अर्थात् विवेकी आत्मवेत्ता तत्पर होकर बल, अप्रमाद संन्यास और ज्ञान—इन उपायों से प्रयत्न करता है उस विद्वान् का यह

---

१. बौद्ध दर्शन और वेदांत पृ० २१०।

आत्मा ब्रह्मधाम में सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो जाता है।[1] उपनिषद् में इस ब्रह्म भाव की प्राप्ति हो जाने के बाद अमरत्व की प्राप्ति बतलाई गई है। यह अमरत्व कुछ ऐसा नहीं है जिसका वर्णन पुराणों में अथवा रूढ़िवादी संप्रदायों में किया गया है। यह स्पष्ट बतलाया गया है कि जिसकी संपूर्ण कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और ज्ञान और विद्या के द्वारा उपलब्ध आत्म लाभ और ब्रह्म भाव के होने पर अविद्या और माया की सभी प्रतीतियाँ नष्ट हो जाती हैं, वही अमरत्व है। संपूर्ण वेदांतों का बस इतना ही अनुशासन और आदेश बतलाया गया है।[2] वास्तव में कामनाओं और मोहग्रंथियों का टूटना ही मोक्ष है। इनकी प्रेरणा से मुक्त होकर किया गया कर्म बंधन में डालनेवाला नहीं होता। जिस प्रकार कुम्हार डंडे के सहारे चाक को घुमाता है किंतु जब वह घुमाना बंद कर देता है उसके बहुत बाद तक वह चाक अपने आप घूमा करता है, वही दशा निष्काम कर्म करनेवाले व्यक्ति की होती है। वह मरणधर्मा होते हुए भी अपने को अमर समझता है। साधकों और संतों ने भी अपने को मृत्यु और जरा के बंधन से मुक्त बतलाया है और शरीर के बंधन में रहते हुए भी उससे अपने को अतीत माना है। उस सत्य या आत्म तत्व का साक्षात्कार ही एक ऐसी अवस्था है जिसमें ब्रह्मानंद और अमरत्व की अनुभूति होती है। कबीरदास भी इन्हीं विचारों का समर्थन और प्रतिपादन करते हैं। उनकी वाणी तथा उपनिषद् के वचनों में यहाँ अपूर्व समानता है। कबीरदास मुक्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि मुक्ति की उपलब्धि तो जीवित अवस्था में ही होनी चाहिए। जो लोग जीवन काल में ही

---

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।
मुंडकोपनिषद् ३-२-३
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥
वही, ३-२-४

२. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥
कठोपनिषद् २-३-१४, १५।

अपने कर्म के बंधन को काट नहीं सके, उन्हें मरण उपरांत मोक्ष की आशा करना सर्वथा व्यर्थ है। कबीरदास तो प्रत्यक्ष सत्य और अनुभूत सत्य पर विश्वास करनेवाले थे। अतः उनका कहना है कि मोक्ष का सुख यदि जीवन काल में मिल सकता है तभी मृत्यु बाद भी उसकी आशा की जा सकती है। अन्यथा जीवित अवस्था में उसके अप्राप्य होने पर मृत्यु के बाद उसकी आशा करना बिलकुल झूठ है।[1] मोक्ष शरीर के बाहर अन्यत्र नहीं है। उसका वास शरीर के भीतर है। बाहर ढूँढ़ने का प्रयास उसी प्रकार भ्रमात्मक है, जिस प्रकार मृग अपने ही भीतर स्थित कस्तूरी को नहीं पहचानता और बार बार घूमकर घास में उसे ढूँढ़ता है। वास्तव में मनुष्य के हृदय में जब तक ममता, मोह और आसक्ति बनी हुई है तब तक मोक्ष प्राप्ति की सफलता कभी संभव नहीं। जब मनुष्य ममता और मोह पर विजय प्राप्त कर लेता है तब प्रभु स्वयं उसकी सफलता के साधन प्रस्तुत करते हैं। ममता के नाश होने पर ही सच्चे ज्ञान का उदय होता है। सच्चा ज्ञान होने पर कर्मों का नाश हो जाता है। उससे प्रणीत सब बंधन नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य के सभी कर्म फूल के समान हैं। उनका उद्देश्य फल रूपी मोक्ष की प्राप्ति, कर्म के बंधन से मुक्त होना है। जब मोक्ष की सिद्धि हो जाती है तो फूल रूपी कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं—

चंदा झलकै यहि घट मांही। अंधी आँखन सूझै नाहीं।
यहि घट चंदा यहि घट सूर। यहि घट राजै अनहद तूर।
यहि घट बाजै तबल निसान। बहिरा शब्द सुने नहिं कान।
जब लग मेरी मेरी करै। तब लग काज एकौ नहिं सरे।
जब मेरी ममता मर जाय। तब लगि प्रभु काज संवारे आय।
ज्ञान के कारन करम कमाय। होय ज्ञान तब करम नसाय।

---

१. साधो भाई, जीवत ही करो आसा।
जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत मुक्तिनिवासा।
जीवत करम की फांसन काटी, मुए मुक्ति की आसा।
तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा।
अबहु मिला सो तबहु मिलेगा, नहि तो जमपुरवासा।
सत गहे सतगुरु को चीन्हें, सत्त नाम विस्वासा।
कहैं कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा॥
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० २२६।

फल कारन फूले बनराय। फल लागे पर फूल सुहाय।
मृगा पास कस्तूरी बास। आप न खोजै खोजै घास[1]।

उपनिषद् ने जिस उच्च सत्य की व्यंजना गंभीर तत्व चिंतन के द्वारा किया था, संत कवियों ने उसे अनुभूत ज्ञान के आधार पर किया। इससे संत कवियों के विचार सामान्य अशिक्षित जनता में भी प्रिय और प्रचारित हो सके। संत कवियों पर उपनिषदों, बौद्धों और परवर्ती साधकों का प्रभाव एक बंधी हुई कड़ी के रूप में मिलता है। द्वैताद्वैत विलक्षणवाद, आत्मतत्व की प्राप्ति आदि सभी मौलिक सिद्धांत अत्यंत सरल भाषा और सरलतर परिवेश में संतों में गृहीत हुए। वास्तव में इन मौलिक तत्वों में सभी प्रकार की रूढ़ियों, अंधविश्वासों और वाह्याचारों का परिहार संभव था। उपनिषद् बौद्ध और संत संप्रदाय के मूल में इन्हीं मौलिक आदर्शों की प्रेरणा थी। इन आदर्शों और सिद्धांतों में लोकधर्म और जीवन के साथ गहरा तादात्म्य रखने की इच्छा और प्रयास परिलक्षित होता है क्योंकि आत्मतत्व के जिस रूप का दर्शन इन सभी विचारकों और संतों ने किया है वह वैयक्तिक धर्म पर आधारित नहीं है वरन् आत्मा में ही ब्रह्म, पिंड में ब्रह्मांड की परिकल्पना की गई है। आत्मतत्व को पहिचानने का अंतिम निष्कर्ष यही है कि आत्मतत्व की विश्वात्म के साथ सच्ची एकात्मता की पहचान की जा सके। उसमें अपने शरीर धर्म और स्वार्थ को भूल कर महान् विश्वात्म की कल्पना संनिहित थी। इससे उस सम्यक् दृष्टि की उपलब्धि संभव होती है जिसके कारण 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का भाव उत्पन्न होता है।

शांकर अद्वैत और संत मत

कबीरदास तथा संत कवियों को शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद की बुद्धिभावित तर्कपरंपरा में नहीं गिना जा सकता। शंकराचार्य ने अद्वैतमार्ग को रूढ़ रूप प्रदान किया और आग्रहपूर्वक ब्रह्म के निर्गुण रूप के साथ जीव का अद्वैत संबंध स्थापित किया। शंकर का अद्वैत उनके पांडित्य तथा प्रखर ज्ञान का परिणाम था किंतु कबीर का विचार संपूर्ण जीवन के सभी पक्षों से समाविष्ट एक स्वस्थ जीवन दर्शन है। कबीर पंडित नहीं थे, ज्ञानी थे।

कबीरदास ने जीव और ब्रह्म की एकता और अभिन्नता स्वीकार की है। इसमें जीव और ब्रह्म, पिंड और ब्रह्मांड की एकात्मतावाली भावना ही थी। वास्तव

---

१. वही, पृ० २२७।

में उपनिषद्‌कालीन जीवन दर्शन का आधार ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वित रूप था। ज्ञान में कर्म भी अनिवार्य रूप से संमिलित था इसलिये उपनिषद् काल का दर्शन अधिक यथार्थवादी और मानवीय था। शंकराचार्य तथा परवर्ती आचार्यों ने गंभीर दार्शनिक ऊहापोह और तत्व चिंतन किया किंतु उनमें ज्ञानवाद के साथ कर्म का स्वस्थ समन्वय नहीं था। पांडित्य तथा बुद्धिवाद ही की प्रचुरता थी। अतः यह दार्शनिक सिद्धांत चिंतन और तर्क की दृष्टि से अप्रतिम होते हुए भी सामान्य जनता द्वारा गृहीत नहीं हो सका। संत कवियों ने शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित मायावाद, विवर्तवाद अथवा शुद्ध ज्ञानवाद को नहीं ग्रहण किया, वरन् उपनिषदों के स्वस्थ, यथार्थवादी और लोकपरक चिंतन को ग्रहण किया और प्रचारित किया जिसमें हृदय और बुद्धि, ज्ञान और कर्म का समन्वय किया गया था[1]।

संत कवियों के दर्शन संबंधी विचारों का विश्लेषण करते समय हमने यह देखा कि वे ब्रह्म और जीव को लेकर आवश्यक विवाद से बचते थे। एक तो उनकी गति इस तात्विक विवेचन में नहीं थी, दूसरे इस प्रकार विचारमंथन उनकी रुचि के भी प्रतिकूल था। शंकराचार्य ने अपने अद्भुत साहित्य और सूक्ष्म तर्क और विश्लेषण की शक्ति का उपयोग समस्त भारतवर्ष में वैदिक मान्यता और धर्म को प्रतिष्ठित करने में किया। बौद्धधर्म जो समस्त भारतवर्ष में व्याप्त था उसकी अवस्था अत्यंत हीन थी, फिर भी जनता बौद्धधर्म के प्रभाव में ग्रस्त थी। उस प्रभाव को नष्ट करने के लिये और वैदिक संप्रदाय को पुनर्प्रतिष्ठित करने के लिये शंकराचार्य को बौद्धिक अभियान सा करना पड़ा था। सभी बौद्ध पंडितों को पराजित करने के लिये उन्होंने अपूर्व तर्कना शक्ति का उपयोग किया। यही कारण था कि उनका ज्ञानवाद बहुधा तर्क और विचार पर आधारित था। उसमें आत्मज्ञान की प्रधानता थी। संतों ने 'आत्मज्ञान' की अपेक्षा 'आत्मबोध' का मार्ग ग्रहण किया। यह आत्मबोध साधक को अपनी प्रवृत्तियों को अंतर्मुखी कर एकनिष्ठ होकर हृदय तरल और उच्छल आत्मसमर्पण के द्वारा होता था। ज्ञानवाद में शुद्धज्ञान और तर्कना के भरोसे 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्वमसि' का ज्ञान होता था, किंतु संतों को इस तत्व की आत्मानुभूति होती थी। इस आत्मानुभूति और आत्मबोध के लिये संतों ने 'एक विशेष उपकरण का अपनी साधना में आकलन किया। यह उपकरण था उपासना का। प्रायः सगुण उपासकों

आत्मज्ञान और आत्मबोध

---

१. एस० राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० २२४–२५।

का यह विश्वास रहा कि उपासना केवल सगुण रूप की की जा सकती है निर्गुण की नहीं। प्रसिद्ध सगुण उपासक कवि सूरदास और तुलसीदास दोनों ने ही सगुण उपासना का औचित्य इसी आधार पर प्रतिपादित किया है[1]। यह तर्क पुराण-कालीन और परवर्ती भक्तों ने उपस्थित किया। ऐसा कहा जा सकता है कि उपनिषद् काल से ही उपसना का समन्वय निर्गुण ब्रह्म के साथ किया गया था। उपासक का यह तत्व अनेक वाह्याचारों के साथ संबद्ध होकर सगुण भक्ति के रूप में पल्लवित हुआ किंतु इसका मूल रूप साधकों और संतों के बीच पुराण और शास्त्रों की विषयों और स्थापनाओं से अप्रभावित परंपरा के रूप में बना रहा। नए ग्रंथ इस आदि मत को पुष्ट और प्रतिपादित करने के लिये नहीं बने। इसी कारण बहुधा यह उपासनाप्रवण निर्गुण सगुण अतीत साधना का रूप गुरु की उँगली का सहारा लेकर चला। बाद में चलकर केवल गुरु का एकमात्र भरोसा रह गया। पुस्तकों में वाह्याचार का प्रतिपादन और तर्क वितर्क के बढ़ते हुए जाल को देखकर इन संतों ने प्रायः ऐसे पुस्तक धर्म और साधना का विरोध उग्र रूप से किया और इन सभी साधनाओं में पुस्तक ज्ञान की व्यर्थता प्रतिपादित की। निर्गुण ब्रह्म के साथ भक्ति का समन्वय उत्तर दक्षिण की सभी साधनाओं में समान रूप से मिलता है। केवल कबीर या दूसरे हिंदी के निर्गुणी संतों के साहित्य और साधना में ही यह रूप दृष्टिगोचर नहीं होता है वरन् महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा सभी प्रदेश के संतों में हमें साधना का यह रूप मिलता है। भक्ति, ज्ञान और योग तीन प्रकार की साधनाएँ मध्यकाल में प्रचलित थीं। प्रत्येक पक्ष के समर्थन और परस्पर खंडन मंडन की अनेक कथाएँ आज भी जनश्रुतियों आदि के रूप में मिलती हैं। धीरे धीरे निश्चित रूप से भक्तिवाद का समर्थन और उसकी लोकप्रियता की वृद्धि हो रही थी। यह भक्ति भी विविध मुखी थी। इसके अंतर्गत सगुण भक्ति और कर्म तथा आचार-बहुल उपासना भी प्रचलित थी। जैसा ऊपर कहा गया है कबीर और दूसरे संत कवियों ने निर्गुण ब्रह्म के साथ उपासना और भक्ति को ग्रहण किया। 'श्री ज्ञानेश्वरचरित्र' के रचयिता पं० लक्ष्मण रामचंद्र पंगारकर ने भक्ति, ज्ञान और योग की महिमा के संबंध में ज्ञानेश्वर जी के जीवन के कुछ आख्यान लिखे हैं। उनकी ऐतिहासिकता के संबंध में हमें कुछ नहीं कहना है किंतु उनसे भक्तों और

---

1. रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निरालंब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥
सूरसागर।

सज्ञान जनता का धर्म और साधना के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। इसमें यद्यपि बहुत से भक्तों और महात्माओं का वर्णन है, किंतु ज्ञान-भक्ति और योग को लेकर ज्ञानदेव, नामदेव और चांगदेव के प्रसंग उल्लेखनीय हैं। ज्ञानदेव योगी, ज्ञानी और भक्त थे। उन्हें सच्चा आत्मबोध हो गया था। आरंभ में संभवतः भक्ति की सच्ची उद्भावना उनमें नहीं थी। ज्ञान और योग में वे पूर्ण रूप से निष्णात थे। एक बार यात्रा में वे कई संतों के साथ, जिनमें नामदेव भी थे, मारवाड़ देश पहुँचे। वहाँ जल का अभाव रहता ही है। मध्याह्न के समय संतों को बहुत प्यास लगी। रस्सी लोटा कुछ भी संतों के पास नहीं था। सबकी जलाभाव के कारण म्रियमाण की सी स्थिति थी। ज्ञानेश्वर योगी थे। लघिमा सिद्धि के द्वारा सूक्ष्म देह धारण कर वे कुएँ में उतरे। वहाँ उतर कर अपनी प्यास बुझाई और ज्ञानदेव को भी जल लाने लगे। नामदेव ने दूसरे के हाथ से पानी पीना उचित नहीं समझा। नामदेव ने पांडुरंग का ध्यान किया और उन्हें आर्त स्वर में पुकारा। उनकी गद्‌गद् वाणी का ही प्रभाव था कि कुएँ के तल से पानी का वेग प्रबलता से बढ़ा और ऊपर बहने लगा। सब भक्तों ने अपनी प्यास बुझाई। इस प्रकार सबने यह अनुभव किया कि योग द्वारा प्राप्त बड़ी बड़ी सिद्धियाँ भक्त को सहज ही प्राप्त होती हैं। ज्ञानदेव ने भी भक्ति के इस माहात्म्य को पहचाना[1]।

नामदेव भक्त तो बहुत उच्च कोटि के थे, किंतु केवल भगवान् के सगुण रूप के ही उपासक थे। प्रायः पांडुरंग से साक्षात्कार और वार्तालाप उनसे होता था। अतः उन्हें कुछ अभिमान हो गया था और ज्ञान तथा आत्मबोध के रूप में किसी और से उनको कुछ जानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी। ज्ञानदेव उनके इस दोष को दूर करना चाहते थे। वे उन्हें सच्चा बोध कराना चाहते थे कि 'सगुण, निर्गुण, दृश्यादृश्य, व्यक्ताव्यक्त सब श्रीहरि का सहज स्वरूप है।' संयोग से यात्रा में सब लोग गोरोबा कुम्हार के अतिथि बने। उसने बड़ी भावभक्ति के साथ संतों का आतिथ्य किया। उसके यहाँ मिट्टी के बर्तनों को पीटने की थापी थी। मुक्ताबाई (ज्ञानदेवजी की बहन) ने पूछा 'गोरोबा चाचा यह क्या चीज है?' गोरोबा ने बतलाया कि इससे कच्चे और पक्के घड़ों की पहचान होती है। फिर मुक्ताबाई ने पूछा कि हम सब लोग ईश्वर निर्मित घड़े हैं। क्या हमको भी ठोंक कर कच्चे और पक्के की पहिचान कर सकोगे? गोरोबा ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया और सब भक्तों को पीटना शुरू किया। सब भक्त तो चुपचाप तमाशा देखते रहे। किंतु

---

१. श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (पंडित लक्ष्मण रामचंद्र पंगारकर), पृ० १४२-४३।

गोरोबा ज्योंही नामदेव के समीप आए उन्होंने तमक कर उन्हें रोका। उनके इस क्रोध को देख कर गोरोबा ने कहा कि सब संतों में यही कच्चा घड़ा है। इस तरह सगुण भक्त नामदेव कच्चे भक्त सिद्ध हुए[1]।

श्री चांगदेव के शिष्यों ने उन्हें ज्ञानेश्वरजी के बारे में बतलाया। चांगदेव को अपनी योगसिद्धि का अभिमान था। वे अपनी पूरी तैयारी के साथ ज्ञानेश्वर महाराज से मिलने चले। भयंकर सिंह पर बैठकर और हाथ में साँप का चाबुक लेकर अपने १४०० शिष्यों के साथ ज्ञानेश्वरजी के स्थान की ओर चल पड़े। जब उनकी सवारी ज्ञानेश्वरजी के स्थान के समीप पहुँची तो चांगदेव के शिष्यों ने उनके आने का समाचार ज्ञानेश्वर महाराज को दिया। उस समय ज्ञानेश्वरजी निवृत्तिनाथ के साथ घर के अंदर बैठकर वार्तालाप कर रहे थे। निवृत्तिनाथ ने परामर्श दिया कि चांगदेव जैसे महंत की अगवानी एक मील पहले से करनी चाहिए। तब ज्ञानेश्वर महाराज ने उस जड़ भीत को ही चलने को आज्ञा दी। वह भीत सचेत प्राणी की भाँति तीव्रता से चलने लगी। वह दृश्य भी अपूर्व रहा होगा। कहा जाता है, चांगदेव की अवस्था १४०० वर्ष की थी। एक ओर सिंह पर आरूढ़ अपने समस्त वैभव और सिद्धि को समेटे दौड़े आ रहे थे और दूसरी ओर १४ वर्ष की वयस के ज्ञानेश्वर भीत पर बैठे स्वागत के लिये आ रहे थे। उन दोनों में निर्णय होना था कि श्रेष्ठ कौन है—ज्ञानी भक्त या योगी। चांगदेव केवल योगी थे तथा योग सिद्धि के चमत्कार उन्होंने भी दिखलाए। दोनों के बीच जो अंतर था वह अहंकार का था। चांगदेव अहंकार से फूले हुए थे और ज्ञानदेव देहादि क्षुद्र अहंकार की कौन कहे 'अहं ब्रह्मास्मि' के परम अहंकार को भी पी गए थे। चांगदेव विद्वान्, तपस्वी और योगी थे, पर जिस स्वरूपानुभव के साथ अहंकारादि सब विकार नष्ट हो जाते हैं, उसी स्वरूपानुभव या आत्मानुभव न होने से वे अहंकारी हो गए थे। ज्ञानेश्वर महाराज को देखकर चांगदेव का गर्व एकदम गल गया। उनके अन्तःकरण का एकदम रूपांतर हुआ। ज्ञानी भक्त के संमुख योगी की सिद्धि निरर्थक प्रतीत हुई।[2]

इन तीनों आख्यानों से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में ज्ञान, भक्ति और योग के तीन मार्ग प्रचलित थे। केवल योग की सिद्धि धीरे धीरे निरर्थक समझी जाने लगी थी। केवल ज्ञान भी जीवन का परम काम्य नहीं दे सकता था। योग और ज्ञान की सहायता से भक्ति की सच्ची उपलब्धि ही सबसे मुख्य रूप से

---

१. श्री ज्ञानेश्वर चरित्र, पृ० १३२-३३।

२. श्री ज्ञानेश्वर चरित्र, पृ० १६१-६३।

आत्मबोध में सहायक हो सकती थी। श्री ज्ञानेश्वर जी की साधना की पूर्णता उनकी निर्गुण की मान्यता और भक्ति की तन्मयता थी।

निर्गुणी संतों ने ब्रह्म और जीव की एकता का प्रतिपादन निश्चित रूप से असंदिग्ध शैली में किया है। निर्गुनी संतों के इस अद्वैतवाद को हम ज्ञानमूलक अद्वैतवाद नहीं कह सकते, जिसका प्रतिपादन शंकराचार्य और उनके परवर्ती दूसरे दार्शनिकों ने किया है। उनके अद्वैतवाद को हम भावमूलक अद्वैतवाद कह सकते हैं क्योंकि संत कवि साधक शुष्क तर्क अथवा ज्ञान के भरोसे उस ब्रह्म और जीव की अभिन्नता का अनुभव नहीं करते थे वरन् भक्तिभावना के सहज आवेग में उस परम सत्ता का अनुभव अणु परिमाणु में करते थे। ब्रह्म के साथ एकात्म होने की व्याकुलता में वे इस सत्य की उपलब्धि करते थे। कबीरदास ने जिस निर्गुण राम के साथ अपने अद्वैत संबंध को स्वीकार किया था, उसको उन्होंने दार्शनिक वाद और ऊहापोह के मार्ग से नहीं पाया था क्योंकि 'वह समस्त ज्ञान तत्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है—केवल अनुभव से जाना जा सकता है। इसी भाव को बताने के लिये कबीरदास ने बार बार 'गूंगे का गुड़' कहकर उसे याद किया है। वह किसी भी दार्शनिक वाद के मानदंड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है। यही कबीरदास का निर्गुण राम है।'[1]

भावनामूलक अद्वैतवाद

धरमदास अपने साहब से शिकायत करते हैं कि मुझे आपने किस देश में डाल दिया। पहले तो मैं जिस देश में था, वह अमर जीवों का था, पर अब जिस देश में हूँ वहाँ सर्वत्र काल का प्रसार है। यहाँ पर तो निरगुन और सगुन का जाल फैला हुआ है। तुम्हारे सच्चे रूप का अनुभव लोगों को है ही नहीं। इसीलिये सब लोग काल के प्रवाह में बह रहे हैं। साहब का यह देश नहीं है। साहब के देश में अमृतोपम आनंद का सब आस्वादन करते हैं :—

साहेबा कौन देस मोहिं डारा।
वह तो देस अमर हंसन को येहि जग काल पसारा।
देवहु सब्द अमर हंसन को बहुरिन ह्वै अवतारा।

1. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० १२६-२७।

नि० सा० पृ० १२ (११००–६१)

निरगुन सरगुन दुंद पसारा, परि गए काल की धारा।
जहाँ देस है सत पुरुष का, अजर अमी का अहारा।
धरमदास बिनवै कर जोरी, अब की अरज हमारा ॥[१]

इसी तरह दादू भी अमृत रस की चर्चा करते हैं। उस आनंदमय अमृत रस से समस्त सृष्टि भरपूर है। उसका कुछ भी वारपार नहीं है। उसी में दादू का दास है। वे भी पूर्ण संतोष के साथ उस अमृत तत्व का आनंद ले रहे हैं :—

नूर रह्या भर पूर, अमी रस पीजिये।
रस माहैं रस होइ, लाहा लीजिये।
परगट तेज अनंत पार नहिं पाइये।
झिलिमिलि झिलिमिलि होइ, तहाँ मन लाइये।
सहजैं सदा प्रकास जोति जल पूरिया।
तहाँ रहै निजदास, सेवक्ष सूरिया।
सुखसागर वार न पार, हमारा बास है।
हंस रहै ता माहिं, दादू दास है ॥[२]

इस अमृतत्व के माध्यम से आनंद की उपलब्धि में निर्गुण ब्रह्म की जो अनुभूति संत कवियों ने किया है, उससे स्पष्ट है कि वे वादविवाद, तर्ककुतर्क का मार्ग न ग्रहण कर, भाव की भूमि पर उस परम सत्य और तत्व को पाते हैं। दादूदयाल ऐसा संकेत भी करते हैं, जिससे प्रकट होता है कि उनके पंथ में किसी प्रकार का संदेह अथवा द्विधा नहीं है। किसी भी व्यक्ति से हमारा कोई वादविवाद नहीं। तर्क और शास्त्रार्थ नहीं। सब लोगों से पृथक् रह कर आत्मानुभूति और अंतःप्रेरणा के सहारे अपने सहज मार्ग पर चलना है। समदृष्टि के द्वारा सारे संसार को आत्मवत् समझते हुए, सबसे निरवैर और निर्विकार होकर रहना ही हमारा मत है। इस संसार में किसी भी वस्तु या व्यक्ति से किसी प्रकार की मोह ममता नहीं है। अपने मन में ही जीवन और जगत् के रहस्य को समझ कर पूर्ण ब्रह्म में अपनी निष्ठा को स्थिर किया है। मन की इस स्थिति में हमें अपार आनंद प्रतीत होता है।[3]

---

१. धरमदास की शब्दावली वेलवेडियर प्रेस शब्द २३।

२. दादूदयाल भाग २, वे० प्रेस, पृ० ११२।

३. भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पष रहित पंथ गहि पूरा, अवरण एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाहीं, माहिं जगत् थै न्यारा।

संत कवियों में आनंद के माध्यम से परमतत्व या ब्रह्म की प्राप्ति नवीन नहीं है। वास्तव में वैदिक काल से ही ब्रह्म की अनुभूति आनंद तत्व के साथ मानी जाती है। शुष्क ज्ञानवाद तो बाद के दार्शनिकों का बुद्धिवादी प्रयास है और उसे उसके अंतिम निष्कर्ष तक पहुँचानेवाले सांख्य आदि मत के प्रवर्तक तो ईश्वर के अस्तित्व में भी संदेह करते हैं। भावना के आनंदवादी मार्ग से ब्रह्म की उपलब्धि वैदिककालीन ऋषियों ने भी सर्वत्र स्वीकार किया है[1]। डा० मंगलदेव शास्त्री ने 'भारतीय संस्कृति का विकास' में तो यहाँ तक कहा है कि वैदिक साहित्य में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुख' शब्द का एक बार भी प्रयोग नहीं किया गया है। कुछ विद्वानों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुःख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला। हमारी समझ में उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि की पुष्टि में यह एक अद्वितीय प्रमाण है[2]।' इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक काल में मोक्ष या मुक्ति जीवन का चरम लक्ष्य नहीं माना जाता था। उसके स्थान पर वैदिक ऋषियों ने 'अमृतत्व' को ही जीवन का अंतिम और परम लक्ष्य माना है। 'इस अमृतत्व आदि शब्दों का अभिप्राय यही है कि मनुष्य (या आत्मा) अपनी अज्ञानबहुल अपूर्णता की अवस्था से अपने को विकसित करता हुआ पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है। वह पूर्णता स्वयं अनंत है, उसी तरह जैसे आकाश या अनंतानंत सूर्यरूपी ताराओं से युक्त यह दृष्ट तथा अदृष्ट ब्रह्मांड अनंत है।'

जीवन के इसी चरम लक्ष्य को वैदिक परिभाषा में 'अंधकार से प्रकाश की ओर जाना' (तमसो मा ज्योतिर्गमय) या आनंदमय ज्योतिर्मय अमृत लोक की

समदृष्टि सुभाइ सहज मैं, आपुहिं आप विचारा।
मैं त मेरी यहु मतिनाहीं, निरबैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आपा पर, निरालंब निराधारा।
काहू के संग मोह न ममता, संगी सिरजनहारा।
मनहीं मन सूँ समझि सयाना, आनंद एक अपारा।
काम कलपना कदै न कीजै, पूरण ब्रह्म पियारा।
इहिं पंथ पहुँचि पार गहि दादू, बसो तत सहजि सँभारा।
दादूदयाल की बानी, पृ० २९।

१. प्रज्ञानमानन्दम् ब्रह्म (ब्रह्मसूत्र)।
२. डा० मंगलदेव शास्त्री : भारतीय संस्कृति का विकास, पृ० ८३।

प्राप्ति (यत्र ज्योति रजसं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मा धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते' ऋग्० ६।१३।७) जैसे भावात्मक आदर्शों के रूप में भी प्रायः वर्णन किया गया है[1]।

इस तरह स्पष्ट है कि संत काव्य में जिसे भावात्मक अद्वैतवाद कहा गया है और जिसकी विशेषता हृदय के भावमूलक आनंद तत्व के माध्यम से ब्रह्म के साथ अद्वैत संबंध की अनुभूति करने में है, वैदिक और औपनिषदिक परंपरा का ही परवर्ती रूप है। इसी कारण संत कवियों ने निर्गुण ब्रह्म की भावना का सामंजस्य भक्ति साधना के साथ किया।

जीव और ब्रह्म की अद्वैतता प्रतिपादित करते हुए संत कवियों ने प्रायः उन्हीं शब्दावलियों और उदाहरणों का प्रयोग किया है जो उपनिषदों में प्रयुक्त हुए हैं और जिनका प्रयोग अद्वैतवादी दार्शनिकों ने किया है।

दार्शनिक प्रतीक

शब्दावली तथा उपमा में समानता रहते हुए शैली और प्रकार में अंतर है। संत कवियों की शैली में सहज बोध का आभास होता है, जिसमें किसी प्रकार का पांडित्य या प्रदर्शन नहीं प्रतीत होता है। उन्होंने ब्रह्म और आत्मा का वर्णन करते हुए प्रायः जल और लहर, मिट्टी और बर्तन तथा सुवर्ण और गहना की उपमाएँ दी हैं। जल और लहर में, मिट्टी तथा उसके बने पात्र में तथा सुवर्ण और गहने में मूलभूत तत्व एक ही होते हैं, केवल बाहरी नाम, रूप और गुण में अंतर होता है। यह वैभिन्य केवल बाहरी और भ्रामक है। जिसके कारण यह भ्रांति होती है उसी को माया कहते हैं। रज्जु में जैसे सर्प का आभास होता है किंतु वह क्षणिक तथा असत्य होता है उसी प्रकार जीव को जगत् में सत्य का, जो नश्वर और क्षणिक होता है। इस भ्रम का पर्दा दूर होने पर जीव और ब्रह्म की सच्ची एकता का आभास मिलता है।

भीखा साहब ब्रह्म और जीव की अभिन्नता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सच्चे ज्ञानी को ही इसका भेद ज्ञात होता है :—

जहाँ तक समुंद दरियाव जल कूप है, लहरि अरु बुंद को एक पानी।
एक सुवर्न को भयो गहना बहुत देखु वीचार हेम खानी।
पिरथवी आदि घट रच्यो रचना बहुत, मिर्तिका एक खुद भूमि जानी।
भीखा इक आतमा रूप बहुत भयो, बोलता ब्रह्म चीन्है सो ज्ञानी।[2]

१. वही, पृ० ८२, ८३।
२. भीखा, पृ० ५५।

भीखा साहब ने पुनः इसी विचार को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है। पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्टता से उन्होंने अपने ब्रह्म और जीव संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया है—

> खुद एक भुम्मि आहि बासन अनेक ताहि,
> रचना विचित्र रंग गढ्यो कुम्हार है।
> नाम एक सोन अस गहना है द्वैत भास,
> कहूँ खरा खोंट रूप हेमहि अधार है।
> फेन बुदबुद अरु लहरि तरंग बहु,
> एक जल जानि लीजै मीठा कहूँ खार है।
> आत्मा त्यों एक जाते भीखा कहै, याहि मते
> ठग सरकार के बटोही सरकार के॥

रैदास जी का मत है कि ब्रह्म और जीव में द्वित्व की भावना भ्रम का ही परिणाम है। जब तक जीव में भ्रम बना रहता है तब तक उसे ब्रह्म के साथ अभिन्नता की अनुभूति नहीं होती है। यह भ्रम उसी प्रकार मिथ्या है, जिस प्रकार सोने और सूत में अलगाव का भ्रम होता है अथवा रज्जु को सर्प समझने का भ्रम होता है। जल और तरंग में तथा पत्थर और प्रतिमा के बीच किसी प्रकार के भेद को देखने-वाला ही ब्रह्म और जीव में भेद समझेगा। ब्रह्म वास्तव में आदि, अंत, विगत, अविगत आदि से अतीत है। इस प्रकार का जो निर्गुण, निर्विकार है उसे ही उपलब्ध करना रैदास का लक्ष्य है[1]।

निर्गुण ब्रह्म

इस निर्गुण ब्रह्म के संबंध में उसकी विशेषता आदि का कुछ वर्णन इन कवियों ने अवश्य किया है। ऐसा तो सभी ने स्वीकार किया है कि ब्रह्म का वर्णन असंभव ही है। उसकी अनुभूति 'गूँगे की शर्करा' के समान है जो शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। इसीलिये उपनिषदों में भी ऐसा आख्यान आया है। याज्ञ-वल्क्य-गार्गी संवाद में आया है कि गार्गी जब याज्ञवल्क्य से बराबर जिज्ञासा करती

---

१. माधव भरम कैसेहु न बिलाई। ताते द्वैत दरसै आई।
कनक कुंडल सूत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यों, ब्रह्म जीव द्रुति ऐसा।
विमल एकरस उपजै न विनसै, उदय अस्त दोउ नाहीं।

है तो वे कहते हैं 'गार्गी अधिक मत पूछ, अधिक मत पूछ, अन्यथा तेरे शिर का पतन हो जायगा। सब कुछ है गार्गी, इस अद्वय अक्षर तत्व के भीतर और बाहर ओतप्रोत है'[1]। पलटूदास इसी अनुभव को कुछ अधिक विस्तार से कहते हैं। ब्रह्म की अनुभूति होने पर न केवल मौन का अवलंबन लेना पड़ता है बल्कि सभी प्रकार के वाह्य उपचार और सांसारिक ममत्व के बंधन उच्छिन्न हो जाते हैं। काजी अपनी माला और कुरान को अलग रख देता है, पंडित वेद का पढ़ना छोड़ देता है और संन्यासी वैरागी लोग तीर्थ की यात्रा बंद कर देते हैं। लिखनेवाला कायस्थ अपना कलम भी रख देता है। राजा भी राज्य छोड़ कर चला जाता है। वेश्या अपना शृंगार छोड़ देती है और सिद्ध अपनी सिद्धि को भूल जाता है। यहाँ तक माता अपने पुत्र तक को छोड़ देती है। इस निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति का ऐसा चमत्कार होता है कि उसके बाद सगुण उपासना की ओर उन्मुख होना अथवा गृहस्थी के बंधन में बँधना सर्वथा असंभव है[2]।

विगता विगत घटै नहिं कबहूँ, बसत बसै सब माहीं।
निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंत अनंदा।
सदा अतीत ज्ञान घन वर्जित, निरविकार अविनासी।
कह रैदास सहज सुन्न सत, जीवन मुक्त निधि कासी।
रैदास जी की बाणी, पृ० १५।

१. बौद्ध दर्शन और वेदांत, पृ० २३५।

२. जाको निर्गुन मिला है भूला सर्गुन चाल।
भूला सर्गुन चाल बचन ना मुख से आवै।
तसबी और किताब नहीं, काजी को भावै।
पंडित पढ़ै न बेद, तीरथ बैरागी त्यागा।
कायथ कलम न लेय, राज तजि राजा भागा।
बेस्या तजा सिंगार, सिद्ध की गई सिद्धाई।
रागी भूला राग जननि सुत देह बहाई।
पलटू भूली गीथिनी, कहूँ भात कहुँ दाल।
जाको निरगुन मिला है, भूला सरगुन चाल॥
पलटू साहब की बानी, पहला भाग पद २३२।

कबीर को आश्चर्य होता है जब लोग इस ब्रह्म का वर्णन 'गोवर्धनधारी' के नाम से करते हैं। केवल गोवर्धन पर्वत को उँगली पर धारण करने के कारण उसकी महिमा का गान करना हास्यास्पद है। वह तो ऐसा अपूर्व है कि सभी प्रकार के पर्वत उसके पैर की धूलि हैं, सातों समुद्र उसके नेत्रों के अंजन हैं। उसकी क्या उपमा दी जाय। उसमें अनेक सुमेर पर्वत को अपनी उँगली के नख पर धारण करने की शक्ति है। वही है जिसने अपने परम प्रभाव से पृथ्वी और आकाश को बिना किसी अवलंब के अपने स्थान पर स्थिर रखा है। शिव, ब्रह्मा और नारद भी जिसका यश गाकर समाप्त नहीं कर सकते, तो फिर कबीर कैसे उनका पार पा सकते हैं[1]।

ब्रह्म की कुछ विशेषताओं का कबीरदास ने उपर्युक्त पद में वर्णन किया है। आगे उन्होंने ब्रह्म की बहुत कुछ नकारात्मक विशेषताओं का वर्णन किया है, (कबीर ग्रंथ संख्या ४, पृ० २४२, ४३)। निराकार ब्रह्म का वर्णन करने में प्रायः कवियों और दार्शनिकों का 'वह ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है' इसी रूप में वर्णन करना पड़ा है। पहले कुछ स्वीकारात्मक या प्रतिपादन के ढंग का भी उदाहरण दिया जा चुका है, जिसमें बूंद और समुद्र अथवा मिट्टी तथा वर्तन या सोना और आभूषण आदि की उपमा देकर उसके रूप या विशेषता को जीव या आत्मा के संबंध में स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। वर्णन नकारात्मक विशेषताओं का ही है, क्योंकि 'गूँगे को सर्करा' की तरह वह अनुभूति कैसी है इसे व्यक्त करने की शब्दावली का सर्वथा अभाव है। इसीलिये केवल दृश्य और व्यक्त जीवन के उदाहरण देते हुए, उससे उसकी भिन्नता बताते हुए, यह कहने की चेष्टा की गई है कि इसके अतिरिक्त जो कुछ बचा है उससे ब्रह्म की रूपरेखा का कुछ चित्र खींचा जा सकता है। पृ० २४१ की बारहपदी रमैणी का आरंभ करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं, मैं पहले पद में उसका स्मरण करता हूँ जिसके समान और कोई नहीं है। उसके समान कोई आराध्य नहीं है। उसका आदि और अंत आज तक किसी ने नहीं जाना। सुंदर या असुंदर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वह हल्का या बोझीला

---

१. लोग कहैं गोवरधन धारी, ताको मोहिं अचम्भो भारी।
अष्ट कुली परवत जाके जाके पग की रैना, सातौं सायर अंजन नैना।
ऐ उपमा हरि किती एक ओपै, अनेक मेर नख ऊपरि रोपै।
धरति अकास अधर जिनि राखी, ताकी मुगधा कहैं न साखी।
सिव विरंचि नारद जस गावैं, कहै कबीर बाको पार न पावै।
कबीर ग्रंथावली, पृ० २०१।

है इसे भी नहीं कहा जा सकता न उसे भूख और न प्यास ही सताती है। वह सुख दुःख से वंचित होकर सब में व्याप्त रहता है। वह कुछ ऐसा अविगत और अपरंपार है कि बहुत खोजने और विचारने पर भी उसके जैसा कुछ नहीं मालूम हुआ। वह ब्रह्म ऐसा है कि उसका ठीक रहस्य किसी को भी ज्ञात नहीं। वह न बाएँ हैं, न दाहिने हैं, न वह ऊपर है, और न नीचे है। उसके न कोई माँ है और न बाप है। उसे न आना है और न जाना है। न उसने किसी को पैदा किया और न किसी ने उसे पैदा किया। जैसा वह है वही जानता है। केवल वही शाश्वत है और अन्य कोई भी नहीं। वह नयन और वाणी से अगोचर है। केवल बताने की सुविधा के कारण उसे 'सिरजनहार' कहा जाता है। इस संसार में दुःख के नाश और सुख की प्राप्ति के लिये 'राम' का बेड़ा है। जिन्होंने इस बेड़े का आश्रय लिया वह इसके पार गए। जिनका मन द्विधा में पड़ा उनके हाथ से सत्य छिटक जाता है और फिर संसार की थाह उन्हें नहीं मिलती। वह ब्रह्म लोक और वेद से न्यारे है। सारे संसार से भी वह ऊपर है। उसका न कोई गाँव है और न कोई घर है। वह न जवान है, न वृद्ध है और न बालक है। वह न दूर है और न समीप है। न वह ठंडा है और न शीत है। वह न पुरुष है और न स्त्री है। न उसे घाम और न घाम की पीड़ा सताती है। न वह नदी है न नाव है। न वह काँच है और न हीरा है। कबीर का विश्वास है कि ऐसे ही ब्रह्म से दृढ़ भक्ति करनी चाहिए जिसका श्वेत या श्याम कोई भी रंग नहीं है। वह तीर्थ व्रत में भ्रमण नहीं करता। वह मन में मौन नहीं और वाणी से वाचाल नहीं। नाद विंदु से मुक्त है। किसी ग्रंथि से भी नहीं ग्रथित है। पवन और पानी से भी मुक्त है। वह ऐसा है जिसने दशरथ के घर जन्म नहीं धारण किया और न उसने लंका के राजा को ही मारा। वह किसी प्रकार भी यशोदा की गोद में नहीं खेला था। न उसने ग्वालों के संग क्रीड़ा की और न उसने गोबरधन को ही हाथ पर धारण किया। वामन अवतार धारण कर उसने बलि के साथ छल भी नहीं किया था और न धरती और वेद का उद्धार ही उसने किया था। न वह गंडक का शालिग्राम है और न मत्स्य या कच्छप रूप होकर उसने जल में ही प्रवेश किया था। बद्रीनाथ के रूप में न तो वह है और न परशुराम रूप से उसने क्षत्रियों का वध ही किया था। कबीरदास अंत में कहते हैं कि केवल उसे समझ कर मन में धारण कीजिए।

दादूदयाल इस तत्व की विशेषता का आख्यान करते हुए उसकी अनश्वरता का उल्लेख करते हैं कि वह तत्व कुछ ऐसा विचित्र है कि न तो वह

मरता है और न उसे काल ही खा सकता है। न तो वह अग्नि में जलता है और न मारने से मरता है। उसे काल भी नहीं मार सकता। उसको किसी अस्त्रशस्त्र से काटा भी नहीं जा सकता। वह निरंतर विद्यमान रहता है। शीत घाम से वह अप्रभावित रहता है। जल में भी उसे डुबाया नहीं जा सकता। वह न मिट्टी में मिलता है और न आकाश में विलीन होता है। वह सदैव अघट और एक रस बना हुआ सर्वत्र व्याप्त रहता है। ऐसे अपूर्व को क्यों न ग्रहण कर आवागमन से निश्चिंत हुआ जाय।[१]

यारी भी कुछ वैचित्र्यपूर्ण वर्णन करते हैं। प्रत्यक्ष रूप से उस ब्रह्म का रूप, रंग, आकार प्रकार कुछ भी उन्हें नहीं दिखाई पड़ता है, फिर भी वह आकारहीन ढंग से अनेक विशेषताओं के साथ फूला हुआ प्रतीत होता है। फूल का भौतिक अस्तित्व नहीं है, फिर भी उसकी सुरभी चतुर्दिक व्याप्त है। वह स्वयं किसी भी प्रकार की गंध से हीन है, किंतु उस निर्गंध की सुगंधि कुछ ऐसी है कि भौंरे टूट पड़ते हैं। वह ब्रह्म बिना पानी के ही उगनेवाले कमल के सदृश है। जिसकी ज्योति अलख में फैली है। वह ब्रह्म बिना मूल और डाल के फूल सदृश है।[२]

ब्रह्म की स्थिति संसारमें है भी और नहीं भी है। वह सर्वव्यापी है, अतः संसार के अणु परिमाणु में भी उसे हम खोज सकते हैं, किंतु सबमें व्याप्त रहते हुए भी सर्वथा सबसे निर्लिप्त है। सुंदरदास इस स्थिति का वर्णन जल जंतुओं के आधार पर करते हैं। जैसे जल के जंतु जल में ही उत्पन्न होते हैं, उसी में वे विचरण करते हैं और उन्हीं के नियमों का प्रचार करते हैं। जल का उनके जीवन पर बिलकुल

१. ऐसा तत्त अनूपम भाई, मरै न जीवै काल न खाई।
पावक जरै न मार्‌यो मरई, काट्यौ कटै न टार्‌यो टरई।
आखिर खिरै नहिं लागै कोई, सीत घाम जल डूबिन जाई।
माटी मिलै न गगन बिलाई, अघट एक रस रह्या सथाई।
ऐसा तत्त अनूपम कहिये, सो गहि दादू काहेन रहिवै।
दादूदयाल की वाणी, पृष्ठ ६७।

२. जहँ रूपन रेखन रंग है रे बिन रूप सिफात में आप फूला
फूल बिना जहाँ वास है रे, निवास के बास भँवर भूला।
उहाँ दह बिना कँवल है रे, कँवल की जोति अलख तोला।
यारी अलम मलोल नहीं, जहँ फूल देखा बिना डार मूला।
यारी की वाणी, शब्द ८ पृष्ठ १६।

ही प्रभाव नहीं पड़ता है। उसके जंतु सभी प्रकार के प्रभाव से निर्लिप्त रहते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि में विद्यमान तो रहता है किंतु उसके किसी भी विकार से प्रभावित नहीं होता है।

जैसे जल जंतु जल ही में उत्पन्न होंहिं,
जल ही में विचरत जल के आधार है।
जल ही में क्रीड़ा करि बिबिध बिवहार, होत
काम क्रोध लोभ मोह जल में संहार है।
जल कौ न लागै कछु जीवन के राग द्वेष,
उनहीं के क्रिया कर्म उनही के लार है।
तैसे ही सुंदर यह ब्रह्म में जगत सब,
ब्रह्म को न लागै कुछ जगत बिकार है[१] ॥

सुंदरदासजी अन्यत्र सिद्ध करते हैं कि यह जगत् ब्रह्ममय है और उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत्मय है। तत्व एक ही है किंतु थोड़े समय के लिये उसमें कुछ रूप परिवर्तन अवश्य हो जाता है। बुद्धिमान यह जानते हैं कि यह रूप परिवर्तन शाश्वत नहीं है। अंततः सब कुछ मूलतत्व में ही परिवर्तित हो जाता है। जैसे ईख के रस की अनेक प्रकार की मिठाइयाँ बनती हैं, पर अंत में सब कुछ पुनः उसी रस के रूप में आ जाता है। घी जम जाने पर बिलकुल ठोस हो जाता है किंतु पिघलने के बाद पुनः तरल रूप में आता है। पानी जब जम कर बर्फ हो जाता है तो वह पत्थर की तरह कठोर हो जाता है। इन सब की तरह ब्रह्म और जगत् का रूप-भेद है। यह वाह्य भेद मौलिक नहीं है, सामयिक मात्र है[२]।

---

१. सुंदर विलास, पृ० १३१।

२. जैसे इखु रस की मिठाई भाँति भाँति भई,
फेरि फेरि गारै इखु रस ही लहतु है।
जैसे घृत थीजि कै डरा सौं बाँधि जात पुनि,
फेरि घिघरे ते वह घृत ई रहतु है।
जैसे पानी जमिकै पषान ई सौ देखियत,
सो पाखान फेरि करि पानी ह्वै बहतु है।
तैसे ही सुंदर यह जगत है ब्रह्ममय,
ब्रह्म सौ जगतमय वेद में कहत हौं।
सुंदर विलास, अद्वैत ज्ञान को अंग, पृ० १२७।

ब्रह्म शुद्ध चेतन स्वरूप है। आत्मा उसी का अभिन्न रूप है। माया से लिप्त आत्मा का ही नाम जीव होता है। उसी प्रकार ब्रह्म का माया-सापेक्ष्य रूप ईश्वर है। माया ब्रह्म की विधायिका शक्ति है। माया का एक शुद्ध रूप है, जो ब्रह्म की शक्ति है और दूसरा इसका अविद्यामय रूप है, जो जीव और सृष्टि का निमित्त कारण है और जिसके कारण जीव ब्रह्म के और अपने रूप से अनभिज्ञ रहकर सृष्टि को शाश्वत समझने लगता है। निर्गुण ब्रह्म से रचित यह सगुण और सविशेष सृष्टि हमारी आँखों के सामने विद्यमान है। इसका क्या कारण है? इस जिज्ञासा के समाधान स्वरूप माया की कल्पना हुई। 'परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम माया है[1]।' परमेश्वर में किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं होती। माया ही के कारण सृष्टि रचना की ओर वह प्रवृत्त होता है। माया का जो अविद्यात्मक रूप है वह ब्रह्म की सुषुप्ति अवस्था का द्योतक है। सुषुप्ति में जिस प्रकार बाह्य संसार का ज्ञान नहीं रहता उसी प्रकार अविद्यात्मक माया के कारण जीव को सत्य का ज्ञान नहीं होता है। माया की दो शक्तियों का नाम आवरण और विक्षेप कहा जाता है। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को ढँक देती है। विक्षेप के द्वारा अज्ञानी जीव में अनेक प्रकार के प्रपंच और भ्रम उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध अध्याय ३ में नारदजी ने वसुदेव को धर्म और मोक्ष की चर्चा करते हुए नौ ऋषियों के प्रसंग का वर्णन किया है। उसमें माया के रूप और कार्य का वर्णन करते हुए तीसरे योगीश्वर अंतरिक्षजी कहते हैं, आदि पुरुष परमात्मा जिस शक्ति के संपूर्ण भूतों के कारण बनते हैं और उनके विषय भोग तथा मोक्ष की सिद्धि के लिये अथवा अपने उपासकों की उत्कृष्ट सिद्धि के लिये स्वनिर्मित पंचभूतों के द्वारा नाना प्रकार के देव, मनुष्य आदि शरीरों की सृष्टि करते हैं, उसी को 'माया' कहते हैं। उसी तरह वे प्राणियों के शरीर में अंतर्यामी रूप से प्रविष्ट होकर मन तथा दस इंद्रियों के रूप में विभक्त कर उन्हीं के द्वारा विषयों का भोग कराने लगे। इस प्रकार देहाभिमानी जीव का अपने पंचभूतों से निर्मित शरीर को आत्मा मान कर आसक्त होना ही माया है। फिर इन कर्मेंद्रियों द्वारा धन की इच्छा के साथ वह अनेक कर्म करता है। शुभ और अशुभ कर्म का उसी के अनुरूप फल की आशा से कर्म करना ही माया है। इस तरह मनुष्य कर्म के बंधन में, आवागमन में फँस जाता है, जो माया का परिणाम है। फिर इस प्रकार सृष्टि उसी की माया से प्रलय

निर्गुण मत में माया का स्वरूप

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ४२३।

के अखंड ताप, अवर्षण और घोर वर्षण से नष्ट हो जाती है। विराट पुरुष ब्रह्मा अपने ब्रह्मांड शरीर को छोड़कर सूक्ष्म रूप अव्यक्त में लीन हो जाते हैं यह भी भगवान् की माया ही है। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाली त्रिगुणमयी माया है[1]।'

ऐसा प्रतीत होता है, उपनिषद् काल में माया का जो रूप और धारणा थी वह भक्ति काल में बहुत कुछ परिवर्तित हो गई थी। उपनिषद् काल में शुद्ध ज्ञानात्मक धारणा के रूप में माया की स्थापना की गई है। सृष्टि के मिथ्यात्व में जो सत्यता का आभास मिलता है वही माया है। माया एक प्रकार का भ्रम है जिसके द्वारा प्राणी आत्म-स्वरूप को पहचान नहीं पाता है, वरन् नश्वर और मिथ्या सृष्टि और शरीर को ही शाश्वत और सत्य समझने लगता है। उपनिषदों में केवल ब्रह्म को ही सत्य माना गया है। उसके अतिरिक्त सभी कुछ असत्य और मिथ्या है। इस मतवाद का स्वाभाविक निष्कर्ष यह भी हुआ कि जगत् और सृष्टि असत्य और नश्वर है। 'एकोऽहम् द्वितीयोनास्ति' के सिद्धांत का स्वीकार करने के बाद सृष्टि, जीव सभी कुछ उसी में अंतर्भूत हो जाते हैं। डा० राधाकृष्णन् ने माया के रूप का स्पष्टीकरण अत्यंत सुंदर ढंग से किया है, 'संसार के पदार्थ जिसमें व्यक्ति प्राणी भी संमिलित हैं, ऐसा अनुमान करते हैं कि वे सभी पृथक् और निजी अस्तित्ववाले हैं और आत्म-पोषण और रक्षा के कार्य में संलग्न प्रतीत होते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि वे सभी एक ही स्रोत से प्रादुर्भूत हैं जिससे वे जीवन तत्व ग्रहण करते हैं। यह विश्वास माया का परिणाम है[2]। वृक्ष की प्रत्येक पत्ती में यह चेतना भले ही हो कि यह बिलकुल पृथक् सत्ता रखनेवाला पदार्थ है, जो अपने को स्वयं ही सूर्य के प्रकाश और वायु में स्थित रखती है, बसंत आने पर मुर्झाकर गिर जाना यही उसकी पूर्ण समाप्ति है। वह संभवतः यह नहीं जानती है कि वह प्रतिक्षण एक ऐसे रस तत्व से सिंचित होती रहती है जो वृक्ष के तने से प्रवाहित होता रहता है और वह पत्ती भी अपनी ओर से वृक्ष को खाद्य प्रदान करती है—उसकी सत्ता उस संपूर्ण वृक्ष की ही सत्ता है। यदि पत्ती अपने को ठीक समझ सके तो उसे ज्ञात होगा कि उसका अस्तित्व अभिन्न और गहरे रूप से वृक्ष से संलग्न है—एक तरह से वह वृक्ष से पूर्ण रूप से एकात्म है। 'चेतना की पृथक् ऊर्मियों के नीचे एक अथाह समग्र जीवन की गहराई वर्तमान है, जिससे सभी प्राणी अपने अस्तित्व की प्रेरणा लेते हैं।

---

१. श्रीमद्भागवत, एकादस स्कंध; अध्याय ३, १ से १६ श्लोक तक।

२. डा० राधाकृष्णन् : इंडियन फिलासफी, भाग २, पृ० १६२।

यदि हम पदार्थों को स्वतंत्र और पृथक् समझेंगे तो इससे एक ऐसा अवरोध बन जायगा, जो सत्य से हमें अलग कर देगा। व्यक्ति जीवों की यह पार्थक्य की अनुभूति उनमें वर्तमान दैवी ज्योति को मलिन कर देती है[1]। माया शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अतिमाननीय शक्ति (सुपर नेचुरल पावर) धूर्तता, गुह्य इच्छा शक्ति के रूप में हुआ है[2]। साथ ही इस शब्द का प्रयोग अच्छे देवताओं के लिये भी हुआ है। माया ही के द्वारा मित्र और वरुण पानी बरसाते हैं और अपने नियमों की रक्षा करते हैं। माया के ही कारण इंद्र अनेक वेश और रूप आदि ग्रहण करता है। माया के द्वारा इंद्र मायावी राक्षस को पराजित करता है। भगवान् 'शंकर के भी कई नामों में एक नाम मायिन है। इस शब्द का प्रयोग देवताओं के ही लिये नहीं हुआ है वरन् राक्षसों और दैत्यों के लिये भी धड़ल्ले से हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, माया शब्द के दो अर्थ पहले से ही प्रचलित थे। एक अर्थ से शक्ति—सात्विक शक्ति का बोध होता था और दूसरे अर्थ से छल, कपट और वंचकता का बोध होता था। उपनिषद् काल में माया के आधार पर विशेष दार्शनिक मान्यता का जन्म हुआ जिसमें आत्मा और ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य स्वीकार किया गया और सृष्टि तथा प्रकृति को असत्य, भ्रम और माया माना गया। यह अद्वैत दर्शन सांख्य मतवाद के विपरीत था, जिसमें प्रकृति को ब्रह्म से भिन्न एक स्वतंत्र तत्व स्वीकार किया गया था। प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को सत्य और शाश्वत माना गया है और दोनों के ही मिलन द्वारा सृष्टि रचना का कार्य माना गया। शंकराचार्य ने माया के इन दोनों प्रचलित अर्थों को लेकर उन्हें विद्या और अविद्या इन दो भागों में बाँटा। विद्या माया ब्रह्म की शक्ति है और अविद्या माया से आलस्य, बुद्धिहीनता और सुषुप्ति का बोध होता है। सगुण उपासना में भी माया के ये दोनों प्रचलित अर्थ ग्रहण किए गए हैं। उपनिषदों की अपेक्षा पौराणिक काल में आख्यान और उपाख्यान आदि में वृद्धि अवश्य हुई है।

भक्त और संत कवियों ने भी माया का कई रूपों में चित्रण किया है। अधिकांश संत कवि बहुत कम और प्रायः बिलकुल नहीं के बराबर शिक्षित थे। यद्यपि वे ब्रह्म और जीव की एकता और अभिन्नता स्वीकार करते थे किंतु माया

---

१. एडवर्ड कार्पेंटर : पागेन ऐंड क्रिश्चियन क्रीड्स, पृ० ३०।

२. द वर्ड 'माया' इज नाट अनकामन इवेन इन ऋग्वेद ह्वेयर इट हैज द मीनिंग्स 'सूपर नेचुरल पावर' कनिंग, मिस्टीरियस विल पावर।''
इन्साइक्लोपीडिया आव रेलिजन ऐंड एथिक्स।

संबंधी जो उपनिषदों का अथवा शंकराचार्य का दर्शन है, उससे उन लोगों को कोई भी मतलब नहीं था। उन्होंने माया का मायाविन के अर्थ में काफी विस्तार के साथ वर्णन किया है। प्राणी इस संसार में आकर अनेक प्रकार के प्रलोभनों में फँस जाता है और इसी कारण आवागमन के बंधन से नहीं छूटता।

निर्गुनी भक्त और माया

ये सभी प्रकार के प्रलोभन माया हैं। नारी, स्वर्ण, धन और दूसरे प्रकार के अनेक मानसिक विकार माया हैं। कबीर आदि ने तो माया का वर्णन प्रायः एक ऐसी नारी के रूप में किया है जो बराबर जाल लेकर संसार के प्राणियों को फँसाने के लिये तत्पर रहती है। बहुत ही रोचक और मनोग्राही रूप में माया का रूप और उसकी वंचकता का वर्णन किया गया है। सगुण अथवा निर्गुण भक्त कवियों ने माया को कुलटा, वंचक आदि अनेक प्रकार के विशेषण दिए हैं। यह भी स्वीकार किया गया है कि माया भगवद्भक्तों के लिये कष्टदायी नहीं है; उनकी तो वह चेरी और अनुगामिनी है। इसीलिये भक्त लोग माया की निंदा करते हुए भी अपनी भक्ति के सहारे आश्वस्त रहते हैं।

महात्मा पलटूदास माया के प्रभाव की व्यापकता बतलाते हैं। देवता लोगों को माया ने अप्सरा के रूप में फँसा रखा है। वे भी माया के प्रभाव और बंधन से मुक्त नहीं हैं। जोगीलोग जिनका महत्व उनके इंद्रियनिग्रह में है, भी माया के जाल में ग्रस्त हैं। उनके यहाँ वह चेली के रूप में उन्हें पथभ्रष्ट करती है। इस तरह से देवता, मनुष्य और ऋषि सभी को माया ने सर्वथा निर्बाध होकर अपने अधीनस्थ कर रखा है। कृष्ण की गोपियाँ और कुछ नहीं थीं, वे भी माया की ही प्रतिमूर्ति थीं। राम को सीता के लिये क्या क्या कष्ट नहीं उठाना पड़ा? माया ही ने तो सीता का रूप धारण कर अनेक नाच नचवाया था। शिवजी ने पार्वती के लिये न जाने कौन कौन से कृत्य किए। वह सब माया ही का नाच तो था। भगवान् विष्णु भी माया के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके। लक्ष्मी रूप धारण करके उन्हें भी माया ने अपने नियंत्रण में रखा। धन और ऐश्वर्य के पीछे सारा संसार पागल है। इसमें भी माया ही की चाल है। ऐसी माया जिसका प्रभुत्व देवमंडल, पृथ्वीमंडल और पाताल लोक में है, पलटूदास की दासी होकर उनकी आज्ञानुवर्तिनी बनी हुई है[1]।

---

१. **माया हमें अब जनि बगदाओ, तुम तो ठगिनि जग बौराओ।**
देवन के घर भयउ अपसरा, जोगी के घर चेली।
सुर नर मुनि तो सबही खायो, होइ अलमस्त अकेली।

कबीरदास ने भी पलटूदास के पहले माया की सर्वव्यापकता और अखिल सत्ता का वर्णन किया है, किंतु कबीरदासजी को एक बहुत बड़ा बल था और वह था राम की शरण का। माया चाहे जितनी भी बलवान् हो पर जिसे भगवान् का अवलंब प्राप्त है उसे माया से कोई भी भय नहीं। उन्होंने माया का चित्रण एक आखेटक के रूप में किया है। जैसे कुशल शिकारी अपने लक्ष्य को अचूक निशाने के साथ वेधता है उसी प्रकार माया भी चुन चुन कर सबको विद्ध करती है। राम की माया है। कबीर राम के भक्त हैं। अतः वह संसार में सभी को धराशायी तो कर देती है, किंतु रामभक्त के समीप नहीं जाती है। दिगंबर, पीर, मुनि, जोगी सभी को माया ने वेधा है। वेदपाठी ब्राह्मण भी माया के लक्ष्यभेद से नहीं बचा। अर्थ के पंडित भी माया की मार से नहीं बच पाए। वामाचारी लोगों के लिये तो माया सर्वस्व ही है, किंतु भगवद्भक्तों की वह चेरी है। कबीरदास तो राम की शरण में होने के कारण निश्चित हैं। माया से ज्योंही संबंध जुड़ा त्योंही उसे तोड़ डाला[1]।

संतों ने माया को फटकारा भी खूब है। राम की भक्ति का जब तक भरोसा और स्मरण रहता है तब तक तो वे निश्चित से रहते हैं, किंतु माया का सर्वशक्तिशाली रूप देखकर वे भी आतंकित हुए लगते हैं। इसलिये माया को सदैव ही

कृस्न कहै गोपी होइ खायो, राम कहैं होइ सीता।
महादेव काँ पारवती होइ, तो से कोइ न जीता।
× × ×
विसुन कहैं लक्ष्मी होइ खायो, गिरही को ह्वै नारी।
पलटूदास के द्वार खड़ी है, लौंड़ी होय हमारी।
पलटूदास की बानी, भाग ३, पृ० ४८।

1. तू माया रघुनाथ की खेलन चढ़ी अहेड़ैं।
चतुर चिकारों चुणि चुणि मारे कोइ न छोड्या नेड़े।
मुनिवर पीर दिगंबर मारे, जतन करंता जोगी।
जंगल महि के जंगम मारे, तूर फिरै बलवंती।
वेद पढ़ंता ब्राह्मण मारा, सेवाँ करंता स्वामी।
अरथ करंता मिसर पछारयो, तूर फिरै मैमंती।
साषित के तू हरता करता, हरि भगतन के चेरी।
दास कबीर राम कै सरनैं, ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी।
कबीर ग्रंथावली, पृ० १५१।

दूर रहने का आदेश देते हैं क्योंकि माया उनकी दृष्टि में मृत्यु के समान कष्टदायी है। भक्त जानता है कि माया अन्य संसारियों के लिये अमृत तुल्य प्रतीत होती है, किंतु भक्त के लिये तो पानी से अधिक उसका महत्व नहीं है। भक्त के समीप उसका संमान दासी से भी कम है, किंतु दूसरों के यहाँ रानी के सदृश वह समादृत होती है। दूसरों के लिये माया का महत्व पर्वत के तुल्य है, पर भक्त के समीप वह राई के बराबर है। सारे संसार से वह लिपटी हुई हो, किंतु उससे अलग है। माया ने सारे संसार को निगल रखा है तिस पर भी उसे संतोष तृप्ति नहीं। इसलिये भक्त माया से अनुरोध करता है कि कम से कम उसे मुक्त रखे क्योंकि माया ही नरक का चिह्न है :—

हमसे फटक रहु दूर, माया मौत तुलानी।
आन के लेखे तुम अमृत लागहु हमरे लेखे जस पानी।
हमरे तुहँ लौड़ी अस नाहीं, औरन के लेखे घर रानी।
औरन के लेखे तू परवत, हम राई सम जानी।
सगरो अमल करेहु तुँह माया, हमसे रहौ अलगानी।
तीन लोक तुँह निगल गई है तेहि पर नाहिं अघानी।
पलटूदास कह बकसहु माया, नरक कि तुँही निसानी[1]।

संतों और भक्तों में माया का रूप अनेक प्रकार का माना है। मन की जितनी वासनाएँ हैं वे भी एक प्रकार से माया के ही साधन हैं। उसी प्रकार स्थूल और वाह्य उपकरण भी ऐसे कई हैं जिनमें माया की स्थिति मानी गई है। मन की अतृप्ति और तृष्णा में भी माया को माना गया है। मन की अनेक भावनाओं में तृष्णा के साथ माया का विशेष लगाव माना गया है। इसीलिये कबीरदास ने चिरंतन तृष्णा को ही माया माना है, जो तृष्णा ही की तरह सदैव जीवित रहती है।

माया मुई न मन मुआ, मरि मरि गया सरीर।
आसा तृष्णा नां मुई, यों कहि गया कबीर[2] ॥

× × × ×

त्रिष्णां सीची नां बुझै, दिन दिन बधती जाइ।
जवासा के रूप ज्यूँ, घण मेहाँ कुमिलाइ[3] ॥

---

१. पलटू साहब की वाणी, भाग ३, पृ० ४६।

२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ३३।

३. वही, पृ० ३३।

कबीरदास ने अभिमान या प्रतिष्ठा को माया का सबसे सूक्ष्म और अमिट रूप माना है। उन्होंने कहा है कि माया तो छोड़ना संभव है, किंतु मान नहीं छोड़ा जा सकता—

> माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं जाइ।
> मानि बड़े मुनिवर गिले, मानि सबन कौं खाइ[1] ॥

संसार में संतों ने माया का सबसे बड़ा आकर्षण कनक और कामिनी में माना है। इन दोनों के ही द्वारा माया मुख्य रूप से सबको बंधन में बाँधती है। इसलिये भक्तों और साधकों ने बार बार इन दोनों से सावधान किया है—

> माया की झल जग जल्या, कनक कामिणी लागि।
> कहुँ धौं किहि बिधि राखिये, रूई पलेटी आगि[2] ॥

यह बात निर्विवाद रूप से प्रायः स्वीकार की गई है कि माया के प्रधान वाहन और सहायक काम, क्रोध और लोभ है। संतों ने नारी और द्रव्य की जो इतनी निंदा की है इसी कारण कि वे काम और लोभ प्रवृत्तियों के उद्भावक हैं। क्रोध अहंभाव से उत्पन्न होता है। उसी अहंभाव का प्रतीक यश, ख्याति या मान प्राप्त करने की आकांक्षा है, जिसके समर्थन में पहले कबीर की वाणी का उल्लेख हुआ है। गीता ने तो काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार माना है और उनको त्यागने का उपदेश दिया है—

> त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
> कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्[3] ॥

बिहार के संत कवि दरिया ने भी माया का वर्णन बहुत कुछ इसी ढंग का, किंतु अधिक विस्तार के साथ किया है। 'माया एक भयंकर काली नागिन है, एक विषैली लता है जो हमारे काया द्रूम में लिपटी है, एक वेश्या है जो साधुओं से भागती फिरती है और व्यसनी जीवों को भरमाए रखती है, एक 'चूहड़ी' है जो आत्मा और परमात्मा के बीच झगड़ा लगाकर, स्वयं एक किनारे खड़ी होकर तमाशा

---

१. वही, पृ० ३४।
२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ३५।
३. गीता, १६–२१।

देखती है, एक कलवारिन है जिसने वासना की मदिरा पिला पिला कर सारे जगत् को लोलुपता के आवरण से ढँक रखा है, एक ऐसी चंचल और विश्वासघातिनी दासी है जो 'काहु की भई न होनी', एक ऐसी कामिनी है जिसकी 'पाँच पचीस' सखियाँ हैं, जिसके नयनों में काजल है, जो 'नख सिख अभरन' से लदी 'झमकि झमकि पगु ठाढ़ी' है जो 'नित उठि झगरा करै खसम से रगड़ा साँझि सकारि।'... यह वह दीप शिखा है जो जीवरूपी पतंगों को आमंत्रण दे दे बुलाती है और पास आ जाने पर उन्हें जला कर राख कर डालती है। यह एक मीनाबाजार है जिसकी रंग बिरंगी मोहकता पर मानव की आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। यह वह कठिन कष्टमय कंटक है, जो सत्य और धर्म के मार्ग में बाधा बनकर पड़ा है[1]।

पंथ के पुराण ग्रंथों में माया को कुंडलिनी शक्ति का रूप बतलाया गया है। कुंडलिनी शक्ति ही संसार का कारण है। इसी से सत्, रज और तम तीनों गुणों का प्रादुर्भाव हुआ है। यह कुंडलिनी सर्पिणी के रूप और आकार की है। इसके मुँह से सदैव फूत्कार निकला करती है। यही फूत्कार सोऽहम् का शब्द है[2]। इसी में प्रणव भी विराजमान रहता है। इस सर्पिणी कुंडलिनी की यह विशेषता है कि उसकी फुफकार से मन चैतन्य होता है। इस मन की चैतन्यता के ही फलस्वरूप सृष्टि की उत्पत्ति होती है। यह माया कुंडलिनी अनेक प्रकार की वासनाओं से परिपूर्ण है। ये ही वासनाएँ उसका विष है। इस कुंडलिनी के ही विष का यह प्रभाव है कि समस्त संसार मोह निद्रा में अचेत पड़ा है। संसार में सभी प्रकार के रोग, मोह, शोक इसी के कारण हैं। इस प्रकार यह कुंडलिनीसर्पिणी ही संसार में अनेक प्रकार के रोग, मोह, दैन्य, दुख और यहाँ तक मृत्यु के लिये उत्तरदायी है[3]।

---

१. डा० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी, संत कवि दरिया : एक अनुशीलन, पृ० ११७–१८।

२. शेष की फनी पर मनी सुमेर है।
जहां होत आबाज आकासबानी।
कहैं साह मोहन इहै खेल सत्य है।
और सब खेल हम झूठ जानी॥
मोहन साईं (अप्रकाशित प्रति से)

३. कबीर मंसूर, अध्याय १७, पृ० ७१०।

निर्गुण मत के दार्शनिक पक्ष का संक्षेप में जो अभी विवेचन हुआ है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि निर्गुण कवि वेदांत के अर्थ में अद्वैतवादी नहीं थे। ब्रह्म और जीव की अभिन्नता का प्रतिपादन करते हुए भी अपने मत और विचार को निर्गुन, सगुन, द्वैत और अद्वैत से परे मानते थे। इसी को कहीं कहीं द्वैताद्वैतविलक्षणवाद की संज्ञा से अभिहित किया गया है। यह निर्गुण और सगुण तथा द्वैताद्वैत या सदसत् के अतीत परमतत्व की कल्पना संत कवियों की अपनी ही मौलिक देन नहीं थी। वास्तव में उपनिषद् के नेतिवाद और अनिर्वचनीयतावाद की परंपरा और स्पष्ट होकर बौद्ध संप्रदाय के महायान और शून्य संप्रदाय में आई, जिसमें ब्रह्म या परमतत्व के गुण और उपाधि को शब्दों में व्यक्त करना असंभव समझ कर यह कहा जाने लगा कि वह सभी प्रकार के द्वैत, अद्वैत, निर्गुण, सगुण, सत् और असत् के भेद से ऊपर है। वह परम विलक्षण है। इसी परंपरा को प्रायः शरीर साधना-वाले सभी संप्रदायों ने अपनाया। अनुभूति और आत्मज्ञान को ही सत्य मानकर उसकी ही उपलब्धि को सर्वस्व समझनेवाले इन कवि साधकों ने पुस्तक ज्ञान के बखेड़े से अपने को मुक्त रखने का औचित्य भी ढूँढ़ लिया और अनेक प्रकार की अनावश्यक बौद्धिक उलझनों से बचे रहे। इस आत्मतत्व की प्राप्ति को ही अमरत्व और मोक्ष भी कहा जाता है। उपनिषदों में भी यह स्वीकार किया गया है और संत कवियों ने भी अपने इस विश्वास का उद्घोष बहुत स्पष्ट शब्दों में किया है।

उपसंहार

उपनिषदों में निर्गुणवाद और अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते समय ज्ञान और कर्म का सामंजस्य उसमें अंतर्भुक्त था, किंतु शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिकों ने जो सांप्रदायिक रूप दिया उसमें कर्म को ज्ञान से बहिर्गत कर दिया था। उनकी तर्कना और विवेचना केवल बुद्धितत्व पर अवलंबित थी। संत कवि शांकरअद्वैत के समीप न होकर उपनिषदों के अद्वैतवाद के विशेष समीप हैं, क्योंकि उन्होंने भी ज्ञान और कर्म, बुद्धि और हृदय दोनों के सामंजस्य का मार्ग अपनाया। कर्म प्रधान होने का कारण संतों का मार्ग लोक जीवन के अधिक समीप था और इसीलिये सहज ग्राह्य था। वेदांतियों की आध्यात्मिक स्थिति को हम आत्मज्ञान कह सकते हैं, किंतु निर्गुनियों की आध्यात्मिक स्थिति आत्मबोध की थी। इस आत्मबोध और आत्मानुभूति का ही परिणाम था कि संतों ने निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान का समन्वय उपासना से किया। उपासनाप्रधान निर्गुणसंप्रदाय प्रारंभ में बहुत लोकप्रिय नहीं हो

सका। संभवतः निर्गुण ब्रह्म और अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए शंकराचार्य जी ने जिस शुष्क ज्ञानवाद का प्रवर्तन किया, उसको कालांतर में न तो शास्त्रीय समर्थन मिला और न सामान्य जनमत का ही समर्थन मिला। शास्त्रीय क्षेत्र में वेदांतवाद के विरोधी अनेक आचार्य अनेक प्रकार की सगुण उपासना का मार्ग लेकर उपस्थित हुए और जनता में भी इनको समर्थन मिला। निर्गुण उपासना मुख्यतः साधना पक्ष के साधकों और चिंतकों में सीमित हो गई। साधकों के साथ दीर्घ संपर्क का परिणाम योग का इसके साथ जुट जाना हुआ। पूर्वमध्यकाल में निर्गुण उपासकों में योग मार्ग और तत्संबंधी अनुभूति की ही प्रधानता थी। शून्य, वज्र और सहजयान तथा नाथ संप्रदाय में साधना के ही विविध पक्षों को पूर्ण महत्व देते हुए, परमतत्व को उसका आनुषंगिक माना गया है। ज्ञानदेव के समय से ही ज्ञान और योग के साथ भक्ति तत्व का स्पष्ट प्रवेश इस उपासना में हुआ। कबीर भी अपने जीवन काल के पूर्व भाग में योग साधना से विशेष प्रभावित थे, किंतु बाद में उन्होंने आत्मबोध और ब्रह्मतत्व की प्राप्ति के लिये भक्ति को अनिवार्य और सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। हम संतों के अद्वैतवाद को भावमूलक अद्वैतवाद कह सकते हैं। वेदांत और शंकराचार्य का अद्वैतवाद ज्ञानमूलक है। यद्यपि ब्रह्म सूत्र में 'प्रज्ञानमानन्दम् ब्रह्म' कहा गया है। इस आनंदस्वरूप ब्रह्म की कल्पना शुष्क तर्क के अंबार में ढक सी गई थी। निर्गुण उपासक संत कवियों ने भक्ति तत्व की प्रतिष्ठा करके उसकी पुनः अनुभूति की।

ब्रह्म, जीव और माया के संबंध में निर्गुण कवियों और संतों ने उदाहरण और व्याख्या के लिये पुरानी शब्दावली का व्यवहार अवश्य किया है क्योंकि प्रचलित उदाहरणों से अपनी बात स्पष्टता और सरलता से समझायी जा सकती है। उन्होंने अपने दृष्टिकोण में पर्याप्त अंतर दिखलाया है। ब्रह्म और जीव की अभिन्नता का प्रतिपादन ज्ञानी भक्तों में एक नवीन आस्था, आशावाद और विराटता का अनुभव कराता है। मनुष्य एक लघु, तुच्छ और विवश प्राणी न होकर स्वयं ही अनश्वर और विभु होने का विश्वास कर सकता है। संत कवियों की वाणी में इसी प्रकार का उत्कट आत्मविश्वास और सीमातीत दृढ़ता का भाव है। नश्वर शरीर के न रहने पर अपनी अक्षत आत्मा के कारण शरीर की क्षणभंगुरता का भाव उनमें क्षण भर के लिये भी निराशा या उत्साहहीनता का संचार नहीं कर सकता। उसी प्रकार माया भी संसार की नश्वरता पर पर्दा डालने और जीव को अज्ञान मार्ग और अंधकार में भटकानेवाली एक मन की कल्पना मात्र नहीं वरन् संत वाणी में वह कनक, कामिनी

तथा मन की अनेक दुर्वासनाओं का स्थूल प्रतीक है, जो हमारे नित्य जीवन में प्रति क्षण हमारे विचार और आचरण को प्रभावित करती रहती है और जिसके कारण हम अपने महान् और पारमार्थिक रूप को भूल, क्षुद्र और क्षणिक शरीर के स्वार्थों की पूर्ति के लिये दृढ़ करता है कि इस जीवन और जगत् को नश्वर समझ कर न निराश होना है और न माया प्रेरित वासनाओं से हार मानना है, वरन् माया के सभी मोहक बंधनों को उच्छिन्न कर उस आत्मस्वरूप की उपलब्धि करना है जो विश्वात्म का पर्याय है।

षष्ठ अध्याय

निर्गुण साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि

६

निर्गुण साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि

हमारे देश में धर्म और समाज दोनों इस प्रकार अविच्छिन्न रूप में एक दूसरे से संबद्ध चले आ रहे हैं कि एक दूसरे को पृथक् करना यदि असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य है। हमारे यहाँ प्राचीन काल से

धर्म और समाज

आज तक जितने भी नीति और शास्त्र के ग्रंथ लिखे गए हैं, सबमें समान रूप से धर्मगत और समाजगत आचार की मान्यता और प्रामाणिकता बताई गई है। इसी कारण हमारे देश के सामाजिक गठन में वर्णव्यवस्था तथा आश्रमों का विधान चाहे जिन सामाजिक आवश्यकताओं के कारण किया गया, किंतु कालांतर में वह समस्त वैदिक और शास्त्रीय मर्यादा का अंग बन गया। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ पर धर्म ने समाज को और समाज ने धर्म को बहुत गहराई और व्यापक रूप में प्रभावित किया है। वैसे सामाजिक शक्तियाँ और परिस्थितियाँ प्रत्येक देश में वहाँ के सभी प्रकार के विचारों को न्यूनाधिक अंश में प्रभावित करती है, पर हमारे यहाँ धर्म और समाज के बीच यह परस्परावलंबन अन्य देशों की अपेक्षा अधिक मिलेगा। यह अवश्य है कि यह परस्परावलंबन और क्रियाप्रतिक्रिया बहुत स्पष्ट न रही हो, क्योंकि दोनों का इतना निकट संबंध था कि शक्तियों का घात प्रतिघात ऊपर से प्रायः लक्षित नहीं होता।

वास्तव में सामाजिक शक्तियों के अनुबंध में सिद्धांतों, आदर्शों और आचारगत नीतियों के व्यापक परिवर्तन को समझने की भी कम चेष्टा हुई है। प्राचीन काल से ही इतिहास को लिखने और समझने में व्यक्तियों को प्राधान्य दिया गया है। किसी भी देश अथवा समाज के इतिहास का तात्पर्य है कुछ विशिष्ट चुने हुए व्यक्तियों के कार्यकलाप, उसकी सफलता अथवा असफलता के वर्णन। इससे समग्र

जातीय जीवन को अंतरिक्ष रूप से आंदोलित करनेवाली वे बलवती शक्तियाँ हमारी आँख से ओझल हो जाती हैं, जिनके कारण व्यक्तित्व का निर्माण होता है, नए मूल्य बनते हैं, पुराने रूढ़ और जर्जर मूल्य ध्वस्त होते हैं।

समाज संगठन और अंतर्भूत द्वंद्व

समाज में आरंभ में, जब वैयक्तिक स्वार्थ और संपत्ति का उदय नहीं हुआ था, तब जातीय जीवन की ही प्रमुखता थी। मनुष्य एक यूथाचारी प्राणी (ग्रेगैरियस एनिमल) है। अतः समूह में रहकर पूर्ण रूप से वह जातीय जीवन से अभ्यस्त था। कालांतर में भोजन तथा अन्य आवश्यकता की सामग्री के अभाव में पारस्परिक संघर्ष और स्वार्थ का जन्म हुआ। भोजन और आवश्यकता की वस्तुओं की जब तक प्रचुरता थी, सभी प्रकार के वैयक्तिक स्वार्थ का प्रत्यक्ष रूप से प्रायः अभाव ही रहा। जब खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का अभाव हुआ, तभी उनकी प्राप्ति और संचय के लिये उपयुक्त सुरक्षा और संघर्ष की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार जातीय जीवन का यह रूप नष्ट होकर इसके स्थान पर व्यक्तिगत और वर्गगत स्वार्थ का जन्म हुआ। हमारे देश में जहाँ प्रकृति की अनन्य कृपा से भोजन की चिंता यहाँ के निवासियों को कम थी वहाँ लोगों के प्रारंभिक जीवन में यह वर्गगत और व्यक्तिगत जीवन का संघर्ष प्रत्यक्षरूप से कम दिखलाई पड़ता है। जातीय जीवन के प्रारंभिक रूप में जब मनुष्य बिलकुल असभ्य रहा, स्त्री का स्थान ऐसे प्रत्येक जन में सबसे महत्वपूर्ण था। उस समय विवाह की प्रथा वर्तमान समय की भाँति नहीं थी। स्त्री, किसी भी पुरुष के साथ यौन संबंध करने के लिये स्वतंत्र थी। ऐसी अवस्था में संतान के माँ बाप के संबंध को जानने के लिये केवल स्त्री ही मात्र सहायक थी। पिता तो कई हो सकते थे और कोई भी हो सकता था। संतान की उत्पत्ति में यदि कोई बात स्थिर और अकाट्य थी, तो वह थी माता। माता ही से संतान की पहचान होती थी। इस कारण धीरे धीरे जब बहुपतिवाद के स्थान पर एक पुरुष और स्त्री के यौन संबंध की प्रथा विकसित हुई तब माता या स्त्री ही परिवार की इकाई बनीं। अर्थात् जिस स्त्री के साथ किसी पुरुष का यौन संबंध स्थायी रहता था, वह पुरुष अपने माँ बाप को छोड़ कर उस स्त्री के ही परिवार में आ जाता था। इस प्रकार उस समय के समाज में संपत्ति या परिवार की उत्तराधिकारी स्त्री ही थी। ऐसा कहा जा सकता है कि इस समय तक परिवार का वह रूप ठीक प्रकार से प्रकट नहीं हुआ था, जिससे हम आज परिचित हैं। वह स्थिति तो तब हुई जब मनुष्य को धीरे धीरे पशुपालन की कला और लाभ का ज्ञान हुआ। अभी तक तो मनुष्य आखेट के सहारे अपनी उदर पूर्ति के लिये पशुओं को नित्य मारता

था। धीरे धीरे उसे उन पशुओं को पालने तथा उनकी वंशवृद्धि करने का लाभ समझ में आया। अतः अब आखेट उसके लिये अनिवार्य नहीं रह गया, वरन् वह धीरे धीरे आमोद का रूप या व्यसन मात्र रह गया। पशुओं के पालन की अवस्था मनुष्य समाज के उस वर्ग में सर्वप्रथम आई, जहाँ पर पशुओं को चराने के लिये पर्याप्त गोचर भूमि थी। हमारे देश में सिंधु और पंचनद प्रदेश में जहाँ आर्य सभ्यता का विकास हुआ, वैदिक काल में संभवतः सभ्यता के विकासक्रम की यही सीढ़ी थी। उस समय इतना अवश्य था कि परिवार का संगठन दृढ़ सा हो गया था और वहाँ पर स्त्री का जो स्थान प्रमुख था, उसे पुरुष ने प्राप्त कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्री ने बहुपतिवाद से त्राण पाने के लिये एक पुरुष को ही जो वरण करने का निश्चय किया, उससे संतान के मातृत्व या पितृत्व के संबंध में चिंता कम हो गई। पहले केवल माता ही के द्वारा संतान का मूल संबंध जाना जाता था, किंतु अब पिता के द्वारा भी जाना जा सकता था। पुरुष ने इस स्थिति को और दृढ़ और स्पष्ट करने के लिये स्त्री के लिये पातिव्रत धर्म का विधान किया। उसे पूर्ण रूप से पुरुष के अधीन कर दिया। उस पर अपना पूरा स्वामित्व स्थापित कर लिया। वैदिक काल के आरंभ में बहुपतिवाद का पता सत्यकाम जाबाला के आख्यान से मिलता है। जाबाला ने सत्यकाम को बतलाया कि वह नहीं जानती कि सत्यकाम का पिता कौन है। बहुत से पुरुषों की सेवा करते हुए उसने सत्यकाम को प्राप्त किया।[1] इस आख्यान से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि समाज और परिवार में नारी का प्रमुख स्थान तो नहीं रह गया था, किंतु प्राचीन काल से आती हुई बहुपतिवाद की परंपरा उस समय भी प्रचलित थी और इसी कारण जाबाला ने बिना हिचक के पुत्र को सच्ची स्थिति स्पष्ट बतला दी। आर्थिक विकासक्रम की उस स्थिति में जब समाज गोचारण की सभ्यता से गुजर रहा था, परिवार का संगठन बना। नारी की वह प्राचीन महत्ता नहीं रही। पुरुष थोड़े से परिश्रम, केवल देख रेख, के ही द्वारा अधिक से अधिक पशुओं का स्वामी हो सकता था। इस तरह वैयक्तिक संपत्ति की नींव पड़ी और बाद में पुष्ट होती गई। ~~गो और~~ पशुओं की अपनी इस संपत्ति को सुरक्षित रखने के लिये और साथ ही इसकी अभिवृद्धि के लिये पुरुष ने दासों का भी सहारा लेना आरंभ किया। युद्ध में विजित शत्रु पहले सर्वथा अनुपयोगी समझे जाते थे और इसीलिये मार दिये जाते थे। अब उन्हें दास बना लिया जाता था और वे पशुओं की रखवाली और चरवाही करते

1. छांदोग्य उपनिषद्, ४।४।२

थे। इस प्रकार पुरुष, स्त्री और दासों का स्वामी बना। इन दासों और स्त्रियों का समूह जो एक पुरुष के अधीन रहता था, पहले परिवार के नाम से पुकारा जाता था। अंग्रेजी का 'फेमिली' शब्द जो परिवार का बोधक है, वास्तव में प्राचीन रोमन-युग में गुलाम या दास के लिये प्रयुक्त होता था। एक व्यक्ति के अंतर्गत सभी दासों को इस नाम से जाना जाता था। इस प्रकार इस नाम से केवल दासों की समष्टि का ही नहीं बोध होता है, वरन् इसमें सामाजिक संगठन का वह अंतर्विरोध भी सन्निहित है, जो कृषक सभ्यता के आरंभ के साथ समाज में प्रविष्ट हुआ।[1]

सामाजिक संगठन के इस शैशवकाल में जब स्त्रीप्रधान समाज था, तो घर में और उपासना आदि में सारा कार्य स्त्री ही करती थी। उपासना में स्त्री की प्रमुखता रहने के कारण संभवतः धर्म और उपासना के क्षेत्र में आत्मसमर्पण, प्रपत्ति और भक्ति की भावना का मार्ग अपनाया गया। चूँकि उस समय समाज में अंतर्विरोध का जन्म नहीं हुआ था और न न्यस्त स्वार्थ और वर्गवाद की सृष्टि हुई थी, अतः स्त्रियों ने प्रकृति की विभिन्न शक्तियों और प्रतीकों के प्रति हृदय के उच्छल भाव को आत्मप्रपन्न हो समर्पित किया, किंतु बाद में जब पुरुषों ने स्त्रियों पर बहुत कुछ प्रभुत्व स्थापित कर लिया, पशुओं की संपत्ति का वह स्वामी बना और उनकी रखवाली करने के लिये और अपने स्वार्थ में वृद्धि के लिये मनुष्यों को दास बनाना आरंभ किया, तो निश्छल आत्मसमर्पण के स्थान पर बुद्धिभावित ज्ञान की आवश्यकता हुई। इस प्रकार समाज के आरंभ से ही दो विचारों का विभिन्न वर्ग बना। स्थिर स्वार्थवाले ज्ञानवाद, कर्मकांड और पुस्तकवाद के समर्थक बने और समता, न्याय और प्रेम के समर्थक भक्तिवाद के अनुयायी हुए। ये ही विचारधाराएँ अनेक वेश और अनेक आकार में विभिन्न परिस्थितियों से प्रभावित होती हुई और उनको प्रभावित करती हुई आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही हैं। समाज में जिस वर्ग के हाथ में प्रभुता और संपत्ति रही, वह प्रायः सूक्ष्म ज्ञानवाद, कर्मकांड और पुस्तकवाद का समर्थक हुआ और वे लोग जो हीन, दलित और वंचित थे वे भक्तिवाद के अनुयायी हुए।

हमारे देश में जब आर्य आए तो वे गोचारण सभ्यता के अंतिम छोर पर और कृषि सभ्यता के प्रवेशद्वार पर थे। वे जब इस देश में प्रविष्ट हुए, तो यहाँ पर संभवतः जिस जाति से उनका विरोध हुआ, वे आर्येतर जातियाँ आर्यों की अपेक्षा

---

1. फ्रेडरिक एंजिल : 'द ओरिजिन आफ द फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एंड द स्टेट' नामक लेख के आधार पर।

सभ्यता की दृष्टि से अधिक विकसित थीं। उनकी नागर सभ्यता थी। अच्छे प्रकार के शिल्प और स्थापत्य के वे ज्ञाता थे। सुंदर भवन, जिसमें सभी सुविधाएँ सुलभ थीं, वे बनाते थे। इन्हें आर्यों ने अनार्य दस्यु और असुर आदि निंदासूचक संबोधनों से पुकारा है। यद्यपि ये आर्येतर जातियाँ आर्यों के सम्मुख पराजित हुईं, और आर्यों ने इनको दास बना कर अपने यहाँ रखा, फिर भी उनकी उच्च सभ्यता और संस्कृति से वे अपने और अपने समाज को वंचित नहीं रख सके। उन आर्येतर जातियों में अनेक प्रसिद्ध पंडित, ज्ञानी और ऋषि मुनि हुए, जिन्होंने आर्यों की समस्त विचारधारा और जीवनदर्शन को प्रभावित किया। इसी प्रकार आर्येतर जाति की स्त्रियों का प्रभाव अपेक्षातर कुछ अधिक ही तत्कालीन समाज और उसकी चिंतना पर पड़ा। आर्यों ने बहुत सी आर्येतर जाति की स्त्रियों को अपने परिवार में विवाहिता के रूप में रखा। आर्यों के परिवार में आने पर भी ये स्त्रियाँ अपने मूल विचार और आचार के प्रति आस्थावान थीं। अतः उन्होंने आर्येतर जातियों के बहुत से विचार आर्य परिवार में प्रचारित करने की चेष्टा की। भारतीय पारिवारिक और सामाजिक विकास की दिशा इस संमिलन के पश्चात् आर्थिक अन्तर्विरोधों से उतनी प्रभावित और संचालित होकर विकसित नहीं हुई, जितनी सांस्कृतिक और वैचारिक अंतर्विरोध और संघर्ष के कारण। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस देश में खाद्य सामाग्री की प्रचुरता और उसकी सुलभ साध्यता के कारण आर्थिक संघर्ष को पनपने का अवसर कम मिला। आर्य खाद्य पदार्थों की कमी से चिंतित न थे। अतः वे लोग अध्यात्म, विचार और चिंतन की ओर विशेषरूप से प्रवृत्त हुए। इस क्षेत्र में उन्हें उत्तेजना मिली आर्येतर जातियों के सुसंबद्ध और स्पष्ट विचारों और चिंतन से।

आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का संगम

आर्यों और आर्येतर जातियों के इस मिलन और संघर्ष के काल से लेकर निर्गुण साहित्य तक कालव्यवधान पर यदि हम एक विहंगम दृष्टि डालें, तो हमें अनेक सामाजिक शक्तियों का ऐसा अविरल प्रवाह मिलेगा, जो वाह्यतः तो शांत और निर्विकार प्रतीत होगा, किंतु आभ्यंतर में वह उद्वेग और क्षोभ से पूर्ण मिलेगा, जिसके कारण वाह्य समाज का रूप, उसकी विचारधारा और जीवनदर्शन अत्यंत गंभीरता से प्रभावित होते रहे हैं। निर्गुन भक्ति की धारा में हमें मुख्य तत्व मिलते हैं, एक तो भक्ति की भावना का और दूसरा निर्गुण ब्रह्म की कल्पना। हमारे देश के जीवन में भक्ति की

भावना का मूल स्रोत कहाँ से उत्पन्न हुआ, इसे जानने के लिये हमें आर्यपूर्व काल के समाज और उनके आचारविचार तथा उनके नैतिक और सामाजिक आदर्श को भी समझना होगा। इतना तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि आर्य जब इस देश में आए तो उन्हें यहां के मूल निवासियों से संघर्ष करना पड़ा था, जिन्हें उन्होंने असुर कहा है। आर्यों की प्रारंभिक रचनाओं में इन आर्येतर जातियों के संबंध में जो कुछ लिखा गया है वह द्वेष और युद्ध के कारण बहुत कुछ विकृत रूप में है। अतः उन रचनाओं से इन आर्येतर जातियों के सच्चे जीवनादर्श और उनके दर्शन का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। पुरातत्व के अवशेषों तथा आर्य ग्रंथों के संदर्भ से इस संबंध में अपने निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

आर्यों के विचारों का जो परिचय वैदिक साहित्य से मिलता है, उससे यही प्रतीत होता है कि आर्यों की विचार परंपरा ज्ञानवादी थी। उनका कर्मठ जीवन था। अतः यथार्थबोध, तर्क और बुद्धि से जीवन और जीवनेतर समस्याओं की व्याख्या उनकी रचनाओं में की गई है। उनका समाज पुरुषप्रधान था। ऐसे समाज में ज्ञान और बुद्धि की प्रेरणा नितांत स्वाभाविक है, किंतु आर्येतर जातियों का समाज-संगठन संभवतः स्त्रीप्रधान था। उस समय के जीवन के संबंध में आनुषंगिक रूप से जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसके प्रकाश में यही निष्कर्ष निकलता है। वैदिक काल के परवर्ती साहित्य में यक्ष, किन्नर आदि जातियों का उल्लेख मिलता है, जो सभी प्रकार की ललित कलाओं में अत्यंत पारंगत थीं। संगीत, नृत्य और शिल्प आदि में इनका एक मात्र अधिकार था। असुर नाम के वैदिक समष्टिमूलक प्रयोग में ये जातियाँ भी संमिलित रही होंगी। ऐसा ही असुर जातियों में एक प्रख्यात शिल्पकार मय नामक असुर भी था, जिसने पांडवों की हस्तिनापुर नगरी का निर्माण किया था, जिसकी शिल्पचातुरी उस समय के बड़े सम्राट दुर्योधन के लिये अभूतपूर्व थी। इस जातियों का निवासस्थान उत्तर-पश्चिम बतलाया गया है। आर्योंके आगमन के पूर्व की सभ्यता का विवरण हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के अवशेषों से मिला है। उससे प्रतीत होता है कि यहाँ बसनेवाली जाति सुंदर भवनों का निर्माण करती थी, जिसमें स्नानागार आदि सुविधाजनक व्यवस्थाएँ भी थीं। संभव है, यक्ष किन्नर कही जानेवाली जातियाँ इसी सभ्यता से संबद्ध रही हों। अनेक प्रकार की कल्पनात्मक मूर्तियाँ भी यहाँ के ध्वंसावशेष से प्राप्त हुई हैं। इन अवशेषों से यह भी प्रतीत होता है कि इस समाज में शिश्न पूजा और देवी की पूजा प्रचलित रही होगी। इस प्रकार की मूर्तियाँ और शिल्प वहाँ पर प्राप्त हुए हैं। उपासना की पद्धति और धार्मिक प्रथाओं से

प्रतीत होता है कि यह समाज ज्ञानमूलक न होकर भावनामूलक रहा। ऐसे समाज में स्त्री की प्रधानता रही होगी। महाभारत में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि उस समय तक सिंधु और मद्रदेश में स्त्री प्रधान समाज था। कर्णपर्व के ४४ वें अध्याय में एक चर्चा आती है। कर्ण ने धृतराष्ट्र की सभा में किसी परिव्राजक ब्राह्मण के मुख से सुना था कि सिंधु और पंचनद प्रदेश के मध्य में धर्मवाह्य वाहीक हैं, जो त्याज्य और हेय हैं। शाकल नामक नगर में और आपगा नदी के देश में जो वाहीक हैं, वे अत्यंत हीन चरित के हैं। नगरागार में, व्रज में और प्रकाश्य स्थानों में मत्तभाव से माल्य चंदन धारण करके विवस्त्र होकर स्त्रियाँ हास्य और नृत्य करती हैं। (४४।१२) वे कामचारी, स्वैरिणी हैं और प्रकाश्य भाव से कामाचरण करती हैं और अश्लील विनोद वचन उच्चारण करती हैं (४४।२२)। इस धर्महीन देश में नहीं जाना चाहिए।[1] इस प्रकार की स्त्रियों के उन्मुक्त जीवन और समाज में उनकी प्रधानता का परिचय महाभारत काल तक प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों के द्वारा ही आर्यों के समाज में लिंग पूजा और भक्तिवाद का व्यापक सिद्धांत गृहीत हुआ होगा। आर्य लोग जब इस देश में बस गए, तो उन्होंने आर्येतर जाति की स्त्रियों के साथ विवाह संबंध किया। इसके अनेक उदाहरण तत्कालीन ग्रंथों में मिलते हैं। 'आर्यों के आगमन के पहले इस देश में नाग और सुपर्ण आदि आर्येतर जातियाँ ही प्रबल थीं। इन नागों और सुपर्णों के साथ आर्यों का विवाहादि संबंध खूब प्रचलित था। हम जानते हैं कि अर्जुन ने नाग कन्या उलूपी से विवाह किया था। नाग जाति में से अनेक ने वैदिक काल में ब्राह्मण और ऋषि का पद प्राप्त किया था। ऋग्वेद के दशम मंडल के ६४ वें सूक्त के रचयिता कद्रू के पुत्र नागवंशीय अर्बुद थे।'[2] वामन तथा लिंग पुराण में थोड़े हेरफेर के साथ शिव के संबंध में यह कथा आई है कि वे ब्रह्मचारी कुमार का रूप धारण कर ऋषियों के आश्रम में गए। वहाँ पर उनके रूप को देखकर मुनि पत्नियाँ मुग्ध हो गईं और उनको घेर कर विविध प्रकार की कामातुर चेष्टाएँ करने लगीं। मुनि अत्यंत क्रुद्ध होकर उन पर प्रहार के लिये टूटे। वहीं भृगु ऋषि ने शाप दिया और उनका लिंग भूपतित हुआ।[3] विभिन्न पुराणों में शिव संबंधी यह कथा कही गई है और प्रत्यक्षतः मुनि पत्नियों का यह कार्य उनकी

---

१. आचार्य क्षितिमोहन सेन : जातिभेद पृ० १७३।

२. वही, पृ० ११७

३. वही, पृ० ६६।

कामुक वृत्ति के परिणाम के रूप में चित्रित किया गया है, किंतु संभवतः वास्तविक तथ्य इससे कुछ भिन्न है। ऐसा सोचना सर्वथा तर्कसंगत है कि इन ऋषि मुनियों ने आर्येतर जातियों की कन्याओं के साथ विवाह किया। आर्य परिवार में आकर भी वे अपने पितृकुल की परंपरा और धर्म को भूल नहीं सकीं। अतः उन्होंने परिवारों में भी शिव पूजा प्रवर्तन किया। आरंभ में आर्यों ने इसका घोर विरोध किया, किंतु अंततः उन्होंने इसे स्वीकार कर ही लिया। दक्ष के यज्ञ में शिव को न बुलाया जाना उनके आर्येतर जाति का देवता होने का ही प्रमाण है। शिव किरात वेशी और उमा शबरी रूप कही जाती हैं। 'कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक मत है कि समाज में स्त्रियों का स्थान जो शूद्रों के बराबर बाद में कर दिया गया, उसका प्रधान कारण यही है कि आर्य परिवारों में आर्येतर जाति की स्त्रियों की अत्यधिक संख्या के कारण और उनके आर्येतर जातियों की पूजा पद्धति और आचार विचार की ओर समान होने के कारण उन्हें अत्यंत हीन स्थान दिया गया। उनके सभी स्वत्व ले लिये गए और वे शूद्रों के समकक्ष मान ली गई'[1]। इस तरह ऐसा अनुमान करना अत्युक्ति नहीं कि आर्यों और देश के जीवन में इन आर्येतर तत्वों द्वारा शिव की उपासना और शिव भक्ति की भावना का संचार हुआ।

भक्ति का मूल उत्स

विष्णु के संबंध में भी पुराणों का प्रसिद्ध आख्यान इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि उनकी भी भक्ति और उपासना आर्येतर स्रोतों से आर्य जीवन में प्रविष्ट हुई। कहा जाता है कि भृगु ऋषि ने जाकर विष्णु की छाती पर पाद प्रहार किया था। यह घटना भी संभवतः वेदवादी ब्राह्मण का आर्येतर जातियों की उपासना पद्धति के प्रति विरोधभाव को व्यक्त करती है।

उत्तर भारत में इस प्रकार उत्तर पश्चिम सिंधुदेश आदि में रहनेवाली आर्येतर जातियों ने आरंभ में आर्यों के अधीन रह उनको अपने संपर्क द्वारा प्रभावित किया और अपनी भावनाप्रवण जीवन पद्धति को आर्य जीवन में भी शनैः शनैः प्रतिष्ठित किया। भक्ति का आविर्भाव एक सांप्रदायिक रूप में संभवतः दक्षिण में हुआ और वहीं से समूचे देश में व्याप्त हुआ। पद्मपुराण में एक आख्यान है, जिसमें भक्ति नारद मुनि से कहती है, 'मेरा जन्म द्रविण देश में हुआ, कर्णाट देश में मैं बड़ी हुई, महाराष्ट्र देश में किंचित काल वास किया और

---

1. आचार्य क्षितिमोहन सेन : जाति भेद, पृ० १२२।

गुजरात में जीर्ण हुई[1]।' उसी प्रकार जनसामान्य में भी इसकी पुष्टि में यह कथन प्रचलित है, 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानंद।' इसमें संदेह नहीं कि उत्तर भारत में भले ही शिव, विष्णु आदि देवता पूजित रहे, किंतु भक्तिभावना का विकास और प्रसार तो दक्षिण से ही हुआ। दक्षिण में भी प्राचीन काल में जो जाति मुख्य रूप से रही थी, वह आर्येतर जाति थी। उसे हम द्रविण जाति कहते हैं। यह द्रविण जाति वहाँ कब और कैसे पहुँची, इसका निर्णय करना नितांत कठिन है। अनेक विद्वानों ने अनेक अनुमान लगाए हैं। दक्षिण का सामाजिक संगठन आदि देखने पर ऐसा कुछ अनुमान लगाना असंभव नहीं प्रतीत होता कि वे प्रारंभ में उत्तर भारत में ही आबाद रही होंगी। आर्यों के आक्रमण के बाद वे निरंतर सुदूर अलंघ्य दक्षिण की ओर बढ़ती गईं और बाद में वहीं पूर्ण रूप से बस गईं। द्रविण जाति का संपर्क उत्तर पश्चिम की अन्य आर्येतर जातियों से अवश्य रहा। ऐसा अनुमान लगाने के दो आधार हैं। एक तो दोनों के ही समाज में स्त्री की प्रधानता रही। स्त्री ही परिवार और जन की नेता और इकाई थी। दूसरे उनके धर्माचार में भावना और हृदयतत्व की मुख्यता दी गई। दक्षिण की इन जातियों में से कुछ तो अभी मातृकुल विशिष्ट जातियाँ हैं। प्राचीन काल में भी समाज व्यवस्था मातृप्रधान थी। इसका प्रमाण महाभारत के भी एक प्रसंग में मिलता है। सहदेव जब दिग्विजय करने के लिये महिष्मतीपुरी में गए थे, तो वहाँ की स्त्रियों के संबंध में उन्होंने अपना उद्गार निम्नांकित रूप में व्यक्त किया था, 'वहाँ अग्नि देवता सुंदरी कुमारिकाओं के ओष्ठ-पुट विनिर्गत वायु के सिवा अन्य व्यजन से प्रज्वलित नहीं होते थे। अग्नि ने भी सुंदरी कन्याओं का संग-लाभ करके उन्हें वर दिया था कि तुम्हारे लिये अप्रतिवारण स्वेच्छाचार विवाह विहित होगा। इसलिये यहाँ की स्त्रियाँ स्वैरिणी और यथाकाम विहारिणी होती हैं[2]।' इससे यही प्रतीत होता है कि वहाँ देवाराधन का कार्य, यज्ञ और होम आदि के

---

१. उत्पन्ना द्राविडे चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्ज्जरे जीर्णतांगता॥ (पद्म० उत्तरखंड ५०।५१)

२. व्यजनैःधूयमानोऽपि तावत् प्रज्वलतेन सः।
या वाच्चारु पुटौष्ठेन वायुनो न विधूयते॥ —सभापर्व।३०।२६
एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे।
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरंत्युत॥ —सभापर्व ३०।२८

लिये सभी स्त्रियाँ अग्नि प्रज्ज्वलित करती थीं। उनका देवाराधन का यह अधिकार बाद में ब्राह्मणों ने हस्तगत कर लिया। आज नारियों के उन गौरवपूर्ण दिनों की स्मृति देवदासी की कुत्सित प्रथा में कहीं कहीं कुछ दिन पूर्व वर्तमान थी। भक्ति की भावधारा का संबंध प्रायः वेद के परवर्ती देवताओं से हैं। उन्हीं के प्रति भक्ति-भावना का उद्रेक भक्तसमुदाय में होता है। ऐसे देवताओं में विष्णु प्रमुख हैं। ये वेद परवर्ती हैं, यह अनेक प्रकार से सिद्ध है। विष्णु का एक नाम 'उपेंद्र' भी है। उपेंद्र का अर्थ अमरकोश में किया गया है 'इंद्र का परवर्ती[1]।' दक्षिण में वेद के परवर्ती सब देवताओं के पुरोहित या तो स्त्री हैं या अनार्य जातियाँ। आज भी शूद्र का पौरोहित्य संपूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुआ है। यद्यपि ब्राह्मणों ने प्रायः सभी धार्मिक कर्मकांडों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है, किंतु कहीं कहीं पुरानी प्रथा के अवशेष मिल ही जाते हैं। दक्षिण की जाति दासरी है जो शूद्र है, किंतु आज भी अनेक जातियाँ उन्हें गुरु रूप में पूजती हैं[2]। दक्षिण के विष्णु मंदिरों में सातानी या 'सात्तादवन' लोग जो हीन शूद्र हैं, सेवा का कार्य करते थे कहा जाता है कि रामानुज ने मंदिर के सेवाकार्य में इन्हीं को नियुक्त किया था[3]। द्रविण में भक्ति भावना का गायन आरंभ में शूद्र कहे जाने वाले संतों ने आरंभ किया। आलवार जाति के ही संतों ने, जो शूद्र कहे जाते हैं, अपनी भक्ति गद्गद् वाणी में सर्वप्रथम देवाराधन की प्रथा आरंभ की थी। उन्हीं में एक अत्यंत प्रसिद्ध सेविका अंदाल के नाम से विख्यात हुई। इनकी भक्ति भावना इतनी प्रखर और निष्काम थी कि उससे वहाँ का समस्त समाज प्रभावित हुआ। आलवारों की शिष्य परंपरा में सभी वर्ग और जाति के लोग थे, जिनमें ब्राह्मण भी संमिलित थे। इनके गीतों का सर्वप्रथम संग्रह नाथ मुनि ने किया, जिसे उन्होंने 'नालियार प्रबंधम्' के रूप में प्रचारित किया। ये श्री संप्रदाय के प्रथम आचार्य माने जाते हैं और इन्होंने ही भक्ति को जो अभी तक तथाकथित शूद्रों तथा सामान्य जन मानस को पावन कर रही थी, शास्त्रीय रूप प्रदान कर उच्चजन्मा और संस्कारी लोगों के लिये भी ग्राह्य बनाया। दक्षिण में इस प्रकार स्त्रियों और शूद्रों के द्वारा भक्ति के प्रवर्तन का जो इतिहास उपलब्ध है, उससे यही पुष्ट होता है कि भक्तिवाद का मूल उत्स आर्येतर जातियाँ थीं और उन्हीं से ब्राह्मण आचार्यों ने ग्रहण कर इसे अभिजात रूप

---

१. 'उपेंद्र इंद्रावरजः'—अमरकोश।

२. मैसूर ट्राइब्स एंड कास्ट्स, भाग ३, पृ० १११७, जातिभेद पृ० ७१ पर उद्धृत।

३. वही, भाग ६, पृ० ५४१।

प्रदान किया। इसके मूल आर्येतर रूप पर शास्त्रीयता का आच्छादन इतना पृथुल था कि वहाँ तक लोगों की दृष्टि ही नहीं जा सकती थी। भक्ति भावना में समानता का भाव वैदिक और पौराणिक परंपराओं के वर्णाश्रम धर्म के सर्वथा विपरीत था, किंतु वैदिक ब्राह्मणों ने इसे अपना कर शुद्ध शास्त्रीय सिंहासन पर समासीन कर दिया। यद्यपि बाद के भक्त आचार्यों ने इसे वेद शास्त्र और पुराण संमत बनाया तो, किंतु उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का भेद भाव वे लोग न ला सके। खान पान आदि में भले ही स्पर्शास्पर्श्य का भेद भाव बना रहा, किंतु वह केवल सामाजिक क्षेत्र में बना रहा। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार यह साहित्य बहुत संभव है कि उत्तर भारत के संतों की तरह 'अनभौ सांचा पंथ' या अनुभूत सत्यों का अस्तव्यस्त रूप रहा हो जिसे बाद के शास्त्र ज्ञानशाली पंडितों ब्योरेवार सजाया हो और उसे दार्शनिक रूप दिया हो। उत्तर भारत में इन वैष्णवशास्त्री आचार्यों की कृपा से उसके दार्शनिक रूप का ही अधिक प्रचार हुआ[१]।' आर्येतर जातियों में वर्ण व्यवस्था नहीं थी। संभव है, बहुत दार्शनिक ऊहापोह भी उनके यहाँ न रही हो उन्होंने जीवन और प्रकृति के बीच जो कुछ भी सुंदर और आकर्षक देखा, उसमें देवत्व का आरोपण किया। थर्स्टन ने करीब सौ वृक्षों की नामावली दी है जिनकी पूजा किसी न किसी जाति में प्रचलित है। इन वृक्षों में आम, गूलर, केला, पान, सुपारी, हल्दी, अदरख, पीपल, वेल, नारिकेल, बरगद या तुलसी आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनसे संबद्ध देवताओं का आदिम परिचय वेद-विरुद्ध देवता के रूप में मिलता है। धीरे धीरे वृक्षों की पूजा भी निश्चय ही आर्यों ने आर्यपूर्व भारतीयों से ग्रहण की होगी।[२] इसी प्रकार यज्ञ का प्रचार आर्यों के धर्म में था और तीर्थों की मान्यता आर्येतर जातियों में थी। तीर्थ शब्द का अर्थ है 'तरण करने योग्य स्थान।' नदी के किनारे उस स्थान पर जो पार किया जा सके, बहुत से आर्येतर जाति के लोग एकत्र होते थे। धीरे धीरे ऐसे स्थानों का कालांतर में धार्मिक महत्व भी हो गया। यह तीर्थ की कल्पना वेद बाह्य प्रतीत होती है, क्योंकि वेद विरोधी मत को तैर्थिक मत कहते हैं[३]।

---

१. पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ४६।

२. क्षितिमोहन सेन : भारतवर्ष में जाति भेद, पृ० ७६।

३. कारंड-व्यूह, १०।६२, जाति भेद, पृ० ७५।

भक्तिवाद और विष्णु का अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। विष्णु आर्यों के देवता थे अथवा आर्येतर जातियों के, यह भी विवाद का विषय है। ऊपर भृगु ऋषि के द्वारा विष्णु के लात मारने के प्रसंग का वर्णन हो चुका है और उससे यह निष्कर्ष निकला गया है कि विष्णु संभवतः आर्येतर जाति के देवता थे। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने विष्णु शब्द के भाषा वैज्ञानिक पक्ष से विचार करते हुए तमिल भाषा के 'विन' शब्द से संबंधित माना है जिसका अर्थ आकाश होता है। ऐसा अनुमान उन्होंने किया है कि विष्णु वह देवता है जिसका रंग आकाश की तरह नीला होता है।[1] यदि दक्षिण की द्राविड़ जाति का संबंध उत्तर की आर्येतर जाति से मान लिया जाय, ऐसा अनुमान लगाना असंगत नहीं है कि आर्येतर स्रोतों से जिस विष्णु का समावेश उत्तर भारत के आर्यों और वेदों में हुआ, वही विष्णु दक्षिण की द्रविड़ जाति में भी पूजित था। बाद में जब उन्हीं आर्येतर जातियों की उपासना-पद्धति और भक्तिभावना को ब्राह्मण और वैदिक आचार्यों ने अपनाया तो विष्णु की भक्तिभावना दक्षिण और उत्तर दोनों ही ओर समान रूप से प्रचारित हुई।[2]

सगुण भक्ति का विकास

इस प्रकार इन विविध शक्तियों और परिस्थितियों से आर्येतर जाति की प्रचलित उपासना और भक्तिभावना तथा उनके मुख्य देवता आर्यों में गृहीत हुए। उत्तर भारत में भक्ति आंदोलन को प्रश्रय और प्रगति देनेवाली जाति क्षत्रियों की थी, जिसने पुरोहित और कर्मकांड की परंपरा का प्रबल विरोध अनेक रूपों में किया। औपनिषदिक विचारधारा, जैन और बौद्ध धर्म तथा भागवत संप्रदाय, इन सबका प्रवर्तन क्षत्रियों ने ही किया था। भागवत संप्रदाय का पूर्व नाम वासुदेव धर्म है जो सत्वत् क्षत्रियों में प्रचलित था। इन्हीं सत्वतों का दूसरा नाम वृष्णि भी था। इन्हीं वृष्णि वंशी क्षत्रियों में बाद में चलकर कृष्ण भी हुए। कृष्ण ने वसुदेव धर्म को विशेष बल और गति दी। वासुदेव धर्म के साथ उनके पुत्र और पौत्र अनिरुद्ध का ~~भी नाम~~ संबद्ध है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वृष्णि वंशीय क्षत्रियों और उनके नेता कृष्ण और उनकी कई पीढ़ियाँ वासुदेव धर्म के प्रचार में संनद्ध रहीं। इन्हीं कृष्ण

---

१. सुनीतिकुमार चटर्जी : 'प्री हिस्टारिक कलचर', (विद्याभवन वैदिक एज पुस्तक में संगृहीत निबंध)

२. रामायण (निर्णय सागर सं०) ५६, २३, श्री घुरे द्वारा कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, पृ० ६७ पर उद्धृत।

ने गीता की रचना कर उसके द्वारा भक्ति मार्ग का दार्शनिक प्रतिपादन किया और उस ग्रंथ के द्वारा वैदिक धर्म और ज्ञानवादी परंपरा का उच्छेद कर भक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। गीता के प्रवर्तक कृष्ण के व्यक्तित्व के इतने पक्ष हैं और उनमें कहीं कहीं पर परस्पर अन्तर्विरोध ऐसा मिलता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उनके व्यक्तित्व में और कोई भी परंपरा ऐसी अंतर्भुक्त हो गई है, जो इतने समय बाद अलग नहीं की जा सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण के व्यक्तित्व के साथ आभीर जाति में पूजित 'गोपाल' भी कृष्ण के ही साथ संनिविष्ट हो गए। यह आभीर जाति एक पर्यटक जति थी और संभवतः सौराष्ट्र और गुर्जर प्रदेश से होता हुआ इसका प्रसार पूर्व में मथुरा भूमि तक हुआ था। इस जाति में 'गोपाल' की प्रचलित उपासना का समावेश वासुदेव धर्म के समर्थक और प्रचारक कृष्ण के साथ हुआ। कुछ समय के उपरांत गोपाल कृष्ण और वृष्णि वंशी कृष्ण मिल कर बिलकुल एक व्यक्ति बन गए। एक गोपाल कृष्ण ने इंद्र की पूजा का विरोध किया और दूसरे दार्शनिक योगी कृष्ण ने गीता का दर्शन दिया और महाभारत की राजनीति का संचालन किया। क्षत्रियों और आर्येतर जातियों के विचार, दर्शन और परंपरा का संमिलन और एकीकरण कुछ असंभव नहीं। क्षात्र धर्म और पुरोहितवाद में प्रभुता के लिये संघर्ष है। महाभारत काल के समीप क्षात्र धर्म में व्यस्त रहने के कारण समाज में परोहितों का प्रभुत्व और महत्व अधिक हो गया था। राजन्य वर्ग ने अपनी प्रभुता प्राप्त करने की चेष्टा की, किंतु पुरोहित वर्ग के संमुख उसे पराजित होना पड़ा। उन हीन स्थिति का अनुमान विश्वामित्र और वशिष्ट के संघर्ष से चलता है, जिनमें अंत में विश्वामित्र विजित हुए, जिन्हें अत्यंत निराशा और पीड़ा के साथ क्षात्र धर्म की हीनता को स्वीकार करना पड़ा कि 'हमारे क्षत्रिय धर्म को धिक्कार है। ब्राह्मण के केवल एक शस्त्र से मेरे सभी आयुध व्यर्थ हो गए।' इस कारण क्षत्रिय लोग किसी ऐसे सिद्धांत और धर्म परंपरा के विकास और आविर्भाव के प्रयत्न में लगे जिनमें कर्मकांडवाद और पुरोहितवाद के शोषण और पाश से मुक्ति मिले और हृदय की भक्तिभावना के सहारे जीवन के परमाराध्य को प्राप्त किया जाय। जातिवाद के उच्च और नीच के भेद भाव को मिटाना और पुरोहित वर्ग से प्रभुत्व को हटाना भी उनका इष्ट था। इसके लिये उनके इस कार्य में अन्य निम्न जातियाँ निश्चित रूप से सहायक हो सकती थीं, जिनमें बहुत सी आर्येतर जातियाँ थीं, जिनको आर्यों के आगमन और वर्ण व्यवस्था की स्थापना के बाद शूद्र कोटि में ढकेल दिया गया था।[1] ब्राह्मणवाद और पुरोहितवाद

१. जी० एस० घुरे : कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, पृ० ७२।

के विरुद्ध जो व्यापक विरोध और असंतोष समस्त उत्तरी भारत में फैला जिसके पीछे राजन्य वर्ग की प्रतिभा और चिंतना थी, उसमें सर्वत्र समानता अथवा उसके प्रतिपादन या सिद्धांत निरूपण में सर्वत्र एकरूपता प्रतीत नहीं होती। यदि हम मगध और पूर्व के क्षत्रियों द्वारा प्रवर्तित बौद्ध और जैन धर्म को तथा पश्चिम के सत्वत क्षत्रियों द्वारा प्रवर्तित वासुदेव धर्म को एक ही महती जन-भावना के दो विभिन्न पक्ष समझें, तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि पश्चिम के वासुदेव धर्म में उतनी क्रांति और उग्र विरोध की प्रवृत्ति नहीं थी, जितनी मगध के भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी के विचारों और धार्मिक मतों में थी। वासुदेव धर्म पुरोहितवाद और कर्मकांडवाद का विरोधी होते हुए भी ईश्वर में आस्थावान संप्रदाय था, किंतु मगध का बौद्ध और जैन धर्म अपने विरोध और विद्रोह में इतने उग्र थे कि उन्होंने न केवल जातिवाद, कर्मकांड अथवा हिंसा और बलि आदि का ही विरोध किया, वरन् वेद की मान्यता को भी चुनौती दी और ईश्वर के भी अस्तित्व के प्रति उन्होंने उदासीनता दिखलाई।[1]

देश के सुदूर दक्षिण और उत्तरी छोर से जिस भक्तिवादी भावधारा का आविर्भाव लोक जीवन में सामंजस्य, संतुलन और समता का धरातल ढूँढ़ने के लिये हुआ, जिसमें देश के असंख्य श्रद्धालु भक्त निमज्जित होकर शाश्वत शांति और चरम आनंद की प्राप्ति कर सके, वह प्रायः एक ही प्रकार की सामाजिक शक्तियों और परिस्थितियों की उपज थी, किंतु स्थान-भेद के कारण कुछ बाह्य अंतर अवश्य था। दक्षिण की यह भक्तिभावना सगुण परक थी। भक्तिभावना के साथ सगुण ब्रह्म की कल्पना सर्वथा स्वाभाविक और कुछ दृष्टि से अनिवार्य सी है। दक्षिण से जिस भक्ति भावना का विकास हुआ वह सगुणपरक अवश्य थी, किंतु उसमें अवतारवाद के सिद्धांत का संनिवेश नहीं हो पाया था। अवतारवाद उत्तरी भक्ति परंपरा की देन है। ऐसा संभव है कि उत्तर की भक्ति परंपरा का प्रवर्तन क्षत्रिय वर्ग से होने के कारण ऐसे ईश्वरीय अवतारों की कल्पना की गई जो स्वयं भी क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे और ऐसा करके उन्होंने पुरोहितों के संमुख अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित की। दक्षिण के भक्त तथाकथित शूद्र या आर्येतर जातियों के थे, अतः इनके लिये अभिजातवंशीय ईश्वरीय अवतार की कल्पना स्वाभाविक नहीं थी।

---

१. आर० जी० भंडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, १९१३, पृ० ६।

भक्तिवाद का जब संपर्क बौद्ध धर्म से हुआ, तो उसी के परिणामस्वरूप उसमें महायान का जन्म हुआ। महायान संप्रदाय के अंतर्गत बोधिसत्व की कल्पना हो गई थी। उन्हीं को आधार बना कर पूजन और उपासना का प्रवर्तन हुआ, किंतु महायान संप्रदाय पुनः सहजयान में परिणित हो गया, जो सभी प्रकार के कर्मकांड और वाह्याचार का विरोधी था। इसके बौद्ध धर्मावलंबी होने के कारण ईश्वर की कल्पना तो नहीं की गई, किंतु उसमें शरीर साधना को सबसे सफल और महान मार्ग माना गया था। इस साधना-मार्ग की सबसे बड़ी उपलब्धि महासुख की अनुभूति थी। यह महासुख बहुत कुछ उपनिषदों के अनिर्वचनीयता के समीप था। जब सहजयान की परंपरा नाथ संप्रदाय में गृहीत हुई, जो शरीर साधना और योग मार्ग में विश्वास करने वाला संप्रदाय था तो महासुख के स्थान पर शिवत्व की कल्पना की गई। इस शिव में ही ईश्वरत्व का आरोप किया गया है। किंतु नाथ संप्रदाय का ईश्वर या शिव सगुण न होकर निर्गुण ही है, क्योंकि काय साधना के मार्ग से उपलब्ध आनंदमूलक अनुभूति ही शिवत्व की उपलब्धि मानी गई। शरीर साधना में विश्वास रखनेवाले दूसरी पीढ़ी के साधकों में जब नाथ संप्रदाय की परंपरा पहुँची, तो उस समय तक समस्त उत्तरी और दक्षिणी भारत में भक्तिवाद का व्यापक प्रसार हो चुका था। शुष्क साधना से प्राप्त ज्ञान और अनुभव को भक्ति की स्रोतस्विनी में पखार कर उसे अधिक पावन और ग्राह्य बनाने की उपयोगिता इन संत साधकों ने भी स्वीकार की, किंतु इन साधकों ने भक्तिवाद को तो स्वीकार किया, पर उसके अवतारवाद, सगुणवाद आदि को इन्होंने नहीं अपनाया।

निर्गुण ब्रह्म और भक्ति

भक्तियुगीन ये साधक सगुणवाद की भावना को नहीं स्वीकार कर सके। अधिकांश साधक जिन्हें हम उनके रूढ़ नाम संत साधक के नाम से पुकार सकते हैं, ऐसी परंपरा के वाहक थे, जिसमें पुस्तक ज्ञान, सभी प्रकार के वाह्याचार, मूर्ति और मंदिर निरर्थक माने गए थे। पुस्तक ज्ञान का बराबर निषेध होने के कारण इसके अधिकांश साधक प्रायः अशिक्षित और निरक्षर थे। सगुण भक्ति भावना, जिसका प्रवर्तन उत्तर भारत में हुआ बहुत कुछ शास्त्रीय हो गई थी और उसके लिये न्यूनाधिक रूप में पुस्तक ज्ञान अपेक्षित था। संत साधक इस शास्त्रविहित भक्ति को स्वीकार नहीं कर सकते थे, क्योंकि यह उनकी परंपरा, प्रकृति और बौद्धिक स्थिति के अनुकूल नहीं थी।

शरीर साधना में विश्वास करनेवाले साधकों ने जातिवाद का तो आरंभ से ही उग्र खंडन किया था, फिर उन्होंने पांडित्य को भी अनादृत किया। इस कारण

उस मार्ग को ग्रहण करनेवाले अधिकांश निम्न वर्ग के ही लोग थे। ऐसे लोगों को पुनः सगुण उपासना के मार्ग को अपनाना कठिन था, क्योंकि वहाँ मंदिर, मूर्ति, पूजा पाठ आदि विधान चल पड़े थे। उसको स्वीकार करने का अर्थ था जातिवाद के अन्याय और विषमता को स्वीकार करना। अपने ईश्वर के आभिजात्य को स्वीकार करना भी इन संत साधकों के लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुकूल नहीं था। अतः उन्होंने भक्तिवाद के सिद्धांत को तो अपनाया, जिसमें समता, हृदय की पवित्रता, निविड़ भक्ति और प्रपत्ति की भावना थी, किंतु सगुण ईश्वर के सिद्धांत को नहीं माना। यद्यपि भक्ति का सिद्धांत मान लेने पर उसके कुछ अनिवार्य धर्म और निष्कर्ष उन्हें स्वीकार करना पड़ा। उनका ब्रह्म निर्गुण होने पर भी अत्ययंत दयालु, पर-दुख-कातर, भक्तवत्सल और परम ऐश्वर्यमय है। इस प्रकार भक्तिवाद की चिंतना और साधना जो एकबार पुनः शास्त्रीय और वेद-शास्त्र समर्थित होकर अनेक उपचारों में ग्रस्त हो रही थी, संत साधकों ने उसके मूल रूप को पहचाना और उसको ग्रहण किया। कबीर, दादू, सुंदरदास, नानक आदि ऐसे ही निर्गुणी साधक हैं।

निर्गुण साहित्य का आविर्भाव और तत्कालीन सामाजिक स्थिति

हमने ऊपर देखा कि किस प्रकार भारतीय चिंतना प्राक् ऐतिहासिक युग से १३वीं शताब्दी तक अनेक मार्गों से होती हुई अपने में विभिन्न स्रोतों से आते हुए विचारों को ग्रहण करती हुई अविरल और अविच्छिन्न रूप से चली आती है। काल के अनंत प्रवाह के समानांतर मानव की चिंतना भी अनेक आवेष्ठन और विभिन्न प्रभावों को यथासाध्य आत्मसात् करती, युगानुरूप अपने को बनाती, जीवन के अंतराल में अपना धरातल और संतुलन अपने आप ढूँढ़ती चली आई है। इतने लंबे प्रसार में फैली चिंतना का अति दूरवाही प्रवाह कभी कभी हमारी आँखों से ओझल भी हो सकता है। प्रत्येक युग ने इसके प्रवाह को सलिलवान् और अक्षुण्ण बनाने के लिये कितना और किस किस रूप में योगदान किया है, इसका ठीक परिचय और ज्ञान भी आज करना बिलकुल संभव नहीं, क्योंकि भारतीय संस्कृति और चिंतना की यह विशेषता रही है कि उसने जो कुछ भी ग्राह्य या उपादेय समझा, वह चाहे देश या विदेश किसी भी स्रोत से आया, उसे लेकर सर्वथा आत्मवत् बना लिया और उसके पृथक् अस्तित्व और अलगाव को नहीं रहने दिया। इस विनिमय में ऐसा भी हुआ कि जो कुछ उच्छिष्ट था, वह त्याज्य रूप में ऐसा अनादृत रहा कि समय के विशाल प्रसार में वह कहाँ लुप्त हो गया, इसका अनुमान ही नहीं। पर ऐसा होते हुए भी

यदि हम किसी काल-विशेष का एकाग्र दृष्टि से पर्यवेक्षण करें, तो प्रत्येक समय में किन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने देश की चिंताधारा को किस अंश में प्रभावित किया और उस प्रभाव के किन उपकरणों को देश की चिंता ने ग्रहण किया, इसे बहुलांश में हम जान भी सकते हैं।

निर्गुण या संत साहित्य का हिंदी में आविर्भाव कबीर के साथ माना जाता है। रामानंद के शिष्य रूप में कबीर ने भक्ति की दीक्षा ली, किंतु अपनी प्रतिभा और व्यक्तित्व के द्वारा गुरु-ज्ञान के प्रकाश में उन्होंने बहुत कुछ नवीन और मौलिक विचारधारा का प्रवर्तन किया, जिसे हम संत संप्रदाय या निर्गुण संप्रदाय कहते हैं। कबीर का जन्म सन् १३६० के समीप माना जाता है। उस समय तक एक ओर देश में प्राचीन पौराणिक धर्म और समाज व्यवस्था प्रचलित थी और उसके साथ विदेश से आनेवाली एक अन्य आक्रमणकारी और उग्र शक्ति से संघर्ष था, जो इस्लाम धर्म के रूप में नये मुसलिम विजेताओं के साथ इस देश में आई। हमारे देश की समाज व्यवस्था और उसका आचार शास्त्र इस समय जिस रूप में देश में विद्यमान था, वह पुरातनकाल से चला आ रहा था, जिसकी स्फूर्ति, गति और प्राणशक्ति बहुत कुछ नष्टप्राय और सर्वथा दुर्बल हो गई थी। इस्लाम धर्म में युवावस्था का नया उत्साह और कर्मठशालता थी। अतः उसका संघर्ष जब देश की प्रचलित मान्यताओं से हुआ, तो सारा समाज आंदोलित हो गया। प्राचीन रूढ़िवादी व्यवस्था इस आघात को सहन करने में अक्षम सिद्ध हुई। वह इस नये धक्के से ध्वस्त सी होने लगी। भारतीय चिंता ने इस परिस्थिति में पुनः संतुलन का मार्ग ढूँढ़ा और देश की चेतना के अंतराल में प्रवाहित होनेवाले भक्तिवाद को पुनः नया प्राण और नयी शक्ति लेकर मानस धरातल पर प्रवाहित होना पड़ा।

जिस समय मुसलमानों का देश पर आक्रमण हुआ, उस समय देश में किस प्रकार की मान्यताएँ और आदर्श व्यवहृत हो रहे थे, उन पर थोड़ा विस्तार से विचार करना आवश्यक है। तभी हम बारहवीं शताब्दी के इस नव्य स्फूर्तिदायक भक्तिवाद के रूप और उसके उद्भव को ठीक तरह से हृदयंगम कर सकेंगे।

दसवीं शताब्दी में जब एक ओर बाहर से मुसलिम आक्रमण हुआ और देश के भीतर भक्तिवाद का उन्मेष हो रहा था, वह जाति और वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से अत्यंत ही प्रतिक्रियावादी युग था। समाज व्यवस्था में उच्च और निम्न जातियों का वर्गीकरण तो पहले से हो चुका था, पर जैसे जैसे वैदिक युग से व्यवधान बढ़ता गया, वर्ण-व्यवस्था का बंधन अत्यधिक दृढ़ और कठोर होता गया

और उच्च वर्ण अर्थात् ब्राह्मण और पुरोहित वर्ग का प्रभुत्व और उनका निष्ठुर शोषण निम्नजन्मा शूद्रों और कुछ अंश में वैश्यों पर भी अधिक क्रूर होता गया। सामाजिक आचार और मान्यताओं का निर्देश हमें सूत्र ग्रंथ, धर्मशास्त्र और स्मृति ग्रंथों में मिलता है। स्मृति ग्रंथों की रचना सातवीं शताब्दी के अंतर्गत मानी जाती है। इन स्मृति ग्रंथों में भी मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति और विष्णु स्मृति संभवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं और दृष्टिकोण में सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी भी हैं। इन ग्रंथों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से हमें प्रतीत होता है कि पुरोहितों और ब्राह्मणों का स्थान समाज में असंदिग्ध रूप से सर्वोपरि हो गया था। समाज में कोई भी शक्ति ऐसी अवशेष नहीं रही थी, जो उनके हित और स्वार्थ को किसी प्रकार आघात पहुँचा सके अथवा उनके अधिकार को चुनौती दे सके। वास्तव में महाभारत काल के पश्चात् और दसवीं शताब्दी तक एक ऐसा काल आता है जिसमें ब्राह्मणों के एकमात्र प्रतिद्वंद्वी क्षत्रियों का राजनैतिक प्रभुत्व और फलतः सामाजिक प्रतिष्ठा एकदम नष्टप्राय सी हो गयी थी। बौद्ध और जैन धर्म के जन्म के थोड़े ही दिन बाद मगध में शूद्र नंदों का विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसका मंत्रित्व ब्राह्मण राक्षस ने किया। पुनः चाणक्य की सहायता से यह शूद्र साम्राज्य ध्वस्त हुआ और देश में सबसे बड़ा साम्राज्य सर्वप्रथम स्थापित हुआ, जिस पर सिंहासनारूढ़ तो क्षत्रिय चंद्रगुप्त मौर्य था, किंतु शास्ता और सूत्रधार ब्राह्मण कौटिल्य था। शूद्रशासन में हीन और पराभूत दिनों की स्मृति अब भी क्षत्रिय नरेश के हृदय में विद्यमान थी और ब्राह्मण की सहायता से राज्य हस्तगत होने के कारण उसके प्रति उसकी कृतज्ञता अगाध थी। अतः राज्य के बदले उसने ब्राह्मण को समाज में अग्र स्थान देने में लेश मात्र भी संकोच नहीं किया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र उसकी इस कृतज्ञता का परिणाम है। कौटिल्य जैसे यथार्थवादी ने भी कहा कि अग्नि, जलप्लावन और महामारी जैसी दैवी आपत्तियों से बचने के लिये लोगों को देवता और ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिये[1]। इसी तरह कौटिल्य ने ब्राह्मणों को सभी प्रकार की यंत्रणा से मुक्त रखने की व्यवस्था दी है, जो अपराधियों से सच्चाई जानने के लिये उन्हें दी जाती है[2]। यही मौर्य साम्राज्य जब अशोक समय में बौद्ध धर्म का

मध्यकालीन वर्ण और जाति व्यवस्था

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र पृ० ४१६, जी० एस० घुरे, : कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, पृ० ६१

२. वही, पृ० २७० और २७७। घुरे, पृ० ६१।

रक्षक और पोषक हुआ, तो पुनः सत्ता क्षत्रियों के हाथ से छिनी। अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का बध कर उसका ब्राह्मण मंत्री पुष्यमित्र अधिपति हुआ। उसने पुनः वैदिक कर्मकांड और यज्ञादि की प्रतिष्ठा की। कहा जाता है कि इसी के समय में मनुस्मृति की रचना की गई, जिसमें ब्राह्मण को स्पष्ट रूप से पृथ्वी का देवता कहा गया है। शुंग वंश के बाद पुनः आंध्र सातवाहन का राज्य स्थापित हुआ। ये भी ब्राह्मण ही थे। परशुराम ने पृथ्वी को क्षत्रियहीन किया हो या नहीं, किंतु इसी बीच शक, हूण, सिदियन आदि बाहरी आक्रमणों से ऐसा ही प्रतीत होने लगा था कि सचमुच यह पृथ्वी क्षत्रियहीन हो गई है। सामाजिक व्यवस्था पर लिखनेवाले अंतिम पंडित कमलाकर ने अपने ग्रंथ 'शूद्र कमलाकर' में क्षत्रियों के अस्तित्व की अत्यंत अनिच्छा के साथ ऐसी चर्चा की है जैसे वह एक दुर्लभ वस्तु हो[1]। ऐसी स्थिति में यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि जितने भी धर्मशास्त्र के ग्रंथ लिखे गए, उन सबों में उत्तरोत्तर ब्राह्मणवाद और ब्राह्मणों के प्रति मानवेतर अलौकिक श्रद्धा आरोपित की गई और उनकी श्रेष्ठता और प्रभुता को निर्विवाद रूप से समस्त समाज को अंगीकार करना अनिवार्य बतलाया गया।

ब्राह्मण श्रेष्ठता का प्रतिपादन

मनुस्मृति में बिलकुल आधिकारिक रूप से यह बतलाया गया है कि ब्राह्मण ही समस्त सृष्टि का प्रभु है, क्योंकि वह भगवान के मुख से उत्पन्न है। वही मनुष्य और देवता के बीच का माध्यम है। ब्राह्मण केवल जन्म मात्र से ही ईश्वरीय नियम का प्रतीक है। ब्राह्मण को भोजन कराना पुण्य प्राप्ति का बहुत महत्वपूर्ण साधन है। इस काल के शिलालेखों से पता चलता है कि यह सब ब्राह्मणों की केवल सुखद कल्पना मात्र नहीं थी, वरन् एक जीवित सत्य के रूप में तत्कालीन समाज का व्यवहार में प्रयुक्त सिद्धांत था। ब्राह्मण को संसार में सभी उपलब्ध पदार्थ लेने का अधिकार है। वास्तविकता तो यह है कि समस्त संसार ही उसका है और सभी मनुष्य उसके दान पर निर्वाह करते हैं। वे इतने पवित्र हैं कि क्षत्रियों ने उनकी उपेक्षा करके अपना विनाश कर दिया। पवित्रता में उनकी तुलना में अग्नि और जल हैं। ब्राह्मण यदि कष्ट अथवा अभाव काल में यदि कोई अकरणीय कार्य भी कर देता है, तो वह कलंकित नहीं माना जाता।[2] विष्णु स्मृति में तो ब्राह्मणों की महत्ता इससे भी अधिक श्रद्धा और उल्लास के साथ कही

१. कमलाकर : शूद्र कमलाकर, पृ० २६६, घुरे : वही पृ० १०२।

२. मनुस्मृति के आधार पर, ४३, १०३

गई है। उनको केवल इतना कहने से संतोष नहीं है कि ब्राह्मण देवता और मनुष्य के बीच का माध्यम है, किंतु वह तो ब्राह्मण को देवता के पूर्ण समकक्ष रखने के समर्थक हैं। यही नहीं, वरन् देवताओं के भी स्वामी के रूप में ब्राह्मण को वे कहते हैं, 'देवता तो अदृश्य देवता हैं, किंतु ब्राह्मण तो दृश्य और प्रत्यक्ष देवता हैं। ब्राह्मण ही से सृष्टि की स्थिति है। यह ब्राह्मणों के प्रसाद का फल है कि देवता स्वर्ग में रहते हैं। ब्राह्मण के मुख का कोई भी वचन, चाहे वह वरदान हो या शाप हो, व्यर्थ नहीं जाता। प्रसन्न होकर ब्राह्मण जो भी कथन करे, वह चाहे पुत्र, पशु या धन किसी का भी वरदान दे, देवता उसको पूर्ण करते हैं। जब ये प्रत्यक्ष देवता प्रसन्न और तुष्ट हैं, तो परोक्ष देवता भी निश्चित रूप से प्रसन्न रहते हैं।'[1]

इन परिस्थितियों में यह बिलकुल ही स्वाभाविक था कि ब्राह्मण को अनेक प्रकार की सुविधाएँ और विशेषाधिकार मिलें। पहले जहाँ शूद्रों के ही लिये यह विहित था कि वे ब्राह्मणों की सेवा करें, वहाँ अब तीनों ही जातियों के लिये यह सेवा विहित बतायी गई।[2] नारद स्मृति में कहा गया है कि राजा नित्य प्रातः काल ब्राह्मण का दर्शन करे और उसका स्तवन करे। ब्राह्मणों को ही अधिकार है कि वे फूलों का संग्रह करें, दूसरे की पत्नी से बिना बाधा के संभाषण करें और बिना घाट और नौका का कर दिये नदी पार करें। यदि वे कोई व्यापार करते हैं तो भी उन्हें यह अधिकार है कि वे बिना भाड़ा अपना माल पार उतारें।[3]

एक ओर तो समाज में ब्राह्मणों को यह स्थान धर्मशास्त्रों ने दे रखा था और दूसरी ओर शूद्रों की क्या स्थिति थी, यह भी जानना आवश्यक है और तभी समाज में व्याप्त विषमता का सच्चा ज्ञान हो सकता है।

शूद्रों की स्थिति

शूद्रों के लिये दासता की स्थायी स्थिति बतलाई गई है, चाहे वह क्रय किया गया हो अथवा नहीं। शूद्र किसी भी स्थिति में धन और संपत्ति नहीं अर्जित कर सकता था, क्योंकि ऐसा करके वह ब्राह्मण को कष्ट पहुँचाता है। मनु ने कहा है कि शूद्र ऐसा कोई अपराध नहीं कर सकता, जिससे उसकी जाति लुप्त हो जाय। संभवतः इसमें संकेत यह है

---

१. घुरे : कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, पृ० ६१।

२. कलेक्शन आफ स्मृतीज, पृ० १२२

३. नारद स्मृति, पृ० २१८-१९।

कि उसे अपनी शूद्रता किसी भी प्रकार छोड़ने का अधिकार नहीं था। सबके लिये मद्यपान वर्जित था, किंतु शूद्र के लिये ऐसा कोई निषेध नहीं। संभवतः उसे मनुष्य की कोटि में समझा ही नहीं गया। द्विजातियों को शूद्र के साथ यात्रा करना वर्जित था। कौटिल्य के अनुसार यदि कोई शूद्र अपने को ब्राह्मण घोषित करे, तो उसके लिये विष द्वारा उसकी आँख निकाले जाने का दंड मिलना चाहिए या आठ सहस्र (शतक) पण अर्थ दंड के रूप में उसे देना चाहिए। यदि वह किसी ब्राह्मणी के साथ संभोग करे तो उसे अग्नि में जला दिया जाय। यदि वह जानबूझ कर किसी ब्राह्मण का उपहास करे अथवा उसे किसी प्रकार की शारीरिक क्षति पहुँचावे, तो वह शूद्र अंगभंग के दंड का भागी समझा जाय। धार्मिक क्षेत्र में भी शूद्रों को किसी भी प्रकार का कर्मकांड करना वर्जित किया गया था। हाँ, ब्राह्मणों द्वारा वे अपना धार्मिक अनुष्ठान करा सकते थे। स्पष्ट है कि इस निषेध के पीछे पुरोहितों का स्वार्थ था। समाज में सबसे अधिक संख्या शूद्रों की थी। उनके कर्मकांड से वंचित होने का तात्पर्य था बहुत बड़ी आय से वंचित होना। वैदिक मंत्रों के पढ़ने का अधिकार शूद्रों को नहीं था। शूद्र नामस्मरण का अधिकार भी शूद्रों को जो मिला था, वह संभवतः परिस्थितियों का परिणाम था, ब्राह्मणों की उदारता का नहीं। भक्ति के आंदोलन के व्यापक होने पर उसमें शूद्रों को भी मुक्ति का द्वार खुल गया था। भक्तिवाद को ब्राह्मणों ने भी अपना लिया था। इसीलिये उन्होंने शूद्रों में दो विभाजन किये सत् और असत् के नाम से। सत् शूद्रों को कुछ थोड़ी सी नाम मात्र सुविधा दी गई थी[1]।

सामाजिक विषमता के पोषक विधान

समाज में स्पष्टतः यह अन्यायमूलक व्यवस्था केवल धर्मशास्त्रों में लिखित रूप में उपलब्ध नहीं थी, वरन् वह लोगों के आचार और विश्वास का अंग बन गई थी। ब्राह्मणों को यह उच्च पद स्वेच्छा से देकर स्वयं उनका सेवक और कृपाकांक्षी होने की स्थिति स्वीकार करना सबके लिये संभव भले रहा हो, किंतु साधारणतया क्षत्रियों के स्वाभिमान के लिये यह सह्य नहीं होना चाहिए था। किंतु पुरोहितों ने जिस धर्मशास्त्र का प्रणयन किया और जिसमें अपने परम उच्च मर्यादा का घोष उच्च स्वर में किया, उसको जीवन में मान्य और गृहीत होने के लिये यह आवश्यक समझा कि लोगों की बुद्धि और तर्क को वे कुंठित कर दें। सोचने और तर्क करने की शक्ति को कुंठित किये बिना इस प्रकार के

---

१. घुरे : कास्ट ऐंड क्लास इन इंडिया, पृ० ९४ के आधार पर।

अपमानजनक विधान स्वीकृति कराना असंभव सा ही था। इसके लिये एक ही सुगम मार्ग हो सकता था। वह था भय की भावना का संचार कर लोगों को ऐसा आतंकित करना कि वे अपनी सहज बुद्धि का प्रयोग बंद कर दें। ऐसा करने के लिये ब्राह्मणों ने इन्हीं दिनों पुराण आदि ग्रंथों की रचना करके स्वर्ग और नरक की अत्यंत रोमांचकारी कल्पना की। अनेक प्रकार के कष्ट, यंत्रणा और प्रतारणापूर्ण नरक का वर्णन इस समय जनता के संमुख नये ग्रंथों के माध्यम से इन पुरोहितों ने रखा। धर्मशास्त्रों में वर्णित नियमों के न मानने वालों के लिये नरक और उनकी यातना का वर्णन किया गया था। जो लोग शास्त्रोक्त बातों को मानते और व्यवहार करते थे, उनके लिये उसी के अनुरूप स्वर्गसुख का मोहक चित्र भी उपस्थित किया गया। इस प्रकार स्वर्ग और नरक की इस नवीन कल्पना ने लोगों के मस्तिस्क को भय से इतना आक्रांत कर लिया कि वे मौन और मूक रूप से उस अंध परंपरा और रूढ़िवाद के भक्त बन गए।

एक और सिद्धांत का सहारा इस उद्देश्य की पूर्ति में लिया गया। वह था पुनर्जन्मवाद का सिद्धांत। हमारे देश में अत्यंत प्राचीन है, किंतु इस काल में इसका भी उपयोग लोगों को भयाक्रांत करने में किया गया। बड़े विस्तार से बताया गया कि यदि मनुष्य का शरीर पाकर पूर्ण रूप से धर्म का आचरण नहीं किया गया, तो दूसरे जन्म में मानव शरीर और जीवन से वंचित होकर जीव को अनेक कष्टकारी योनियों से गुजरना पड़ेगा। कुत्ता, बिल्ली, साँप आदि अनेक प्रकार के भयानक और घृणित जीवों के रूप में जन्म लेने की आशंका ने भी लोगों को धर्मशास्त्र के विचारों और सिद्धांतों को बिना किसी हिचक और विरोध के ग्रहण करने को वाध्य किया। इसलिये पुराण और स्मृति के आदेशों को लोगों ने अंध-श्रद्धा के साथ स्वीकार किया। कहीं कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों ने संभवतः स्वर्ग की उपलब्धि के लिये और नरक की यातना से बचने के लिये समस्त मानवता को भी तिलांजलि दे दी थी। शूद्रों के प्रति ऐसी असह्य स्थिति की कल्पना संभव नहीं प्रतीत होती कि वह मार्ग पर चलते हुए किसी शब्द या ध्वनि द्वारा बराबर अपनी उपस्थिति का आभास सवर्णों को दें। हेमचंद्र के शब्दानुशासन में 'खिक्खिरी' या 'झंझरी' नाम के शब्द आते हैं, जिसका अर्थ उसने दिया है, ऐसी छड़ी जो चांडाल या डोम अपने साथ रखते थे, जिसकी आवाज से वे अन्य लोगों को अपने आगमन के प्रति सचेत करते थे[1]। यदि जान

1. घुरे : का० क्ला० इन इंडिया, पृ० ११।

या अनजान में किसी शूद्र का स्पर्श हो जाय तो उसके लिये पूरे वस्त्रसहित स्नान करने का विधान था और कहीं पर तो उसके लिये लंबे उपवास की भी व्यवस्था दी गई थी।[1]

ब्राह्मण और शूद्र का यह भेदभाव केवल सामाजिक स्तर पर ही नहीं माना जाता था, वरन् जीविकोपार्जन के क्षेत्र में भी इस प्रकार भेदभाव बर्ते जाते थे। स्मृतिकारों ने सभी प्रकार के शिल्पकारों को शूद्र की संज्ञा दी और उनके यहाँ ब्राह्मणों को खानपान की मनाही की। 'ब्राह्मण किसी व्यापारी के हाथ का भोजन तो स्वीकार कर सकता था, किंतु यदि वह शिल्पकार है, तो उसके यहाँ भोजन का निषेध आपस्तंब ने किया था। गौतम ने उसी श्रेणी के काष्ठकार के यहाँ भी भोजन का निषेध किया है[2]। इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि शूद्रों के पेशा और कर्म को भी इन स्मृतिकारों ने अत्यंत निंद्य कहा है। कैवर्त व्याध अथवा मद्य विक्रेता का पेशा तो निंद्य हो सकता है, किंतु कोई कारण नहीं कि उसके साथ कृषि और दूसरे व्यवसाय भी हीन समझे जायँ। कृषि कार्य वैश्यों का कार्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि जब बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ तो बहुत से वैश्य उस संप्रदाय में दीक्षित हुए। उन्होंने केवल अपना संप्रदाय ही बदला, वरन् उसके साथ उन्होंने संभवतः कृषि कार्य भी छोड़ दिया, जिसे शूद्रों ने अपना लिया। इस प्रकार जब कृषि कार्य शूद्रों ने अपनाया तो उसका संमान भी समाप्त हो गया और धर्म-शास्त्रकारों ने उसे अत्यंत पापमय और घृणित घोषित किया। यह कहा गया है कि 'कैवर्त मछली मारने में एक वर्ष में जितना पाप कमाता है, उतना खेत जोतनेवाला केवल एक दिन में लोहे के फलवाले हल से कमाता है[3]। किंतु इसी पेशे को बाद में ब्राह्मण और क्षत्रियों को भी अपनाना पड़ा। संभवतः वैदिक धर्म के पुनरावर्त के पश्चात् बहुत से ब्राह्मण और क्षत्रियों को जीविकोपार्जन के लिये कृषि छोड़ कोई और सहारा नहीं रहा। इस कारण उन्हें खेती का ही पेशा अपनाना पड़ा, किंतु उनके सामने स्मृतियों का निषेध और भर्त्सना थी। उनको इस धर्म-संकट से मुक्त करने के लिये पाराशर स्मृति ने एक मार्ग निकाल दिया, जिससे ब्राह्मण क्षत्रिय भी बिना विशेष प्रकार का पाप अर्जित किये खेती कर सकते थे। पराशर स्मृति के रचयिता ने इस संबंध में कहा है, 'इसके पश्चात् मैं कलि में

---

१. स्मृत्यर्थसार, पृ० १४१।

२. जी० एस० घुरे : कास्ट ऐंड क्लास इन इंडिया, पृ० ७१-८०।

३. सी० वी० वैद्य : हिस्ट्री आफ मेडिवल हिंदू इंडिया, पृ० १८३।

मनुष्यों के कर्म और धर्म का वर्णन करूँगा जो सभी चारों वर्णों के लिये समान हैं और सबके द्वारा संभव हैं। ब्राह्मण को जो छः कर्म बतलाए गए हैं उनके अतिरिक्त वह कृषि कर्म भी कर सकता है, किंतु उसे उस बैल को जोतना नहीं चाहिये जो प्यासा, भूखा या थका हो। उसे केवल दोपहर तक खेत जोतना चाहिये, फिर उसे स्नान कर अपने खेत में उत्पन्न अन्न के साथ यज्ञ करना चाहिये[1]। धर्मशास्त्रों ने खेत की उपज को राज्य कर के अतिरिक्त ब्राह्मणों को भी देने का विधान किया है। उपज का छठवाँ अंश राजा को, बीसवाँ अंश देवताओं को और तीसवाँ अंश ब्राह्मण को देने के बाद कृषक अपने सभी पापों से मुक्त हो जाता है[2]। सिंध में ब्राह्मणों को पूरी उपज का तीन प्रतिशत दान के रूप में दिया जाता था। मुहम्मद बिन कासिम ने मुसलिम शासन में भी इस प्रथा की स्वीकृति दे दी[3]।

दशवीं ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास समाज, धर्म और अर्थ के क्षेत्र की ऐसी विषम स्थिति थी कि उस समय जब मुसलमानों ने इस देश पर आक्रमण किया तो इस देश से जैसा प्रतिरोध होना चाहिये था, नहीं हो सका। उस समय सारा क्षेत्र छोटे छोटे मांडलिक राज्यों में विभक्त था। उनकी बहुत सी शक्ति तो पारस्परिक शत्रुता और वैर-शोधन में ही समाप्त हो चुकी थी। उनका सैन्य-

मुसलिम आक्रमण और प्रभाव

समूह बहुत ही सीमित था। शस्त्र धारण करने के अधिकारी केवल क्षत्रिय ही थे। दूसरी जातियों को युद्ध और शस्त्र संचालन से कोई संबंध नहीं था। क्षत्रिय वर्ग से ही सैनिक लिये जाते थे। अतः सेना के लिये सुलभ मनुष्य संख्या अत्यंत सीमित थी। चिंतामणि विनायक वैद्य ने ऐसा भी अनुमान लगाया है कि क्षत्रिय वर्ग भी इस समय राजन्य वर्ग और सामान्य वर्ग में विभाजित हो गया था। जो राज्य करनेवाला क्षत्रिय था, वह तो राजपूत कहलाया और इतर बहुत से क्षत्रिय कृषि आदि दूसरे शांतिमय जीविकोपार्जन के साधन में लग गए। देश का सामान्य वर्ग इस प्रकार की राजनैतिक उथल-पुथल और परिवर्तन से सर्वथा उदासीन था। राजपूतों ने मुसलिम आक्रमण का वीरता के साथ सामना अवश्य किया, किंतु अपनी जर्जर और क्षीण सेना, पुरानी युद्ध शैली के द्वारा ये नवीन आक्रमणकारियों का सामना नहीं कर सके। मुसलमानों ने इस देश पर आक्रमण

१. वही, पृ० १८२।
२. वही, पृ० १८३।
३. वही, पृ० १८३।

कर और यहाँ की सत्ता पर अपना अधिकार स्थापित कर विजय की उन्मत्तता में अपने धर्म के प्रचार के लिये बहुत निर्मम होकर अपनी राज्यशक्ति का प्रयोग किया। जिन हिंदुओं ने इस्लाम नहीं कबूल किया उनके साथ अत्यंत कठोर व्यवहार इन नवीन विजेताओं ने किया। हिंदू धर्म में जिस प्रकार की हीन अवस्था और निर्मम अत्याचार को सहन करते हुए देश का बहुत बड़ा जनसमुदाय रह रहा था, यदि वह इस्लाम धर्म में जहाँ सामाजिक एकता और राजनीतिक प्रभुत्व दोनों का आकर्षण था, बहुत बड़ी संख्या में दीक्षित हुआ, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। मुसलिम शासकों ने हिंदुओं को इस्लाम स्वीकार करने के लिये प्रलोभन और दंड दोनों मार्ग का अनुसरण किया। जिन हिंदुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया, उन्हें ऊँचा पद और सुरक्षा मिली और जिन्होंने इस्लाम स्वीकार नहीं किया, उन्हें मृत्यु से लेकर अन्य अनेक प्रकार के दंड, अपमान और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मुहम्मद बिन कासिम ने जो प्रथम मुसलिम शासक इस देश में था, आरंभ में ही अपनी नीति हिंदू और मुस्लिम के संबंध में स्पष्ट कर दी थी। वह जो इस्लाम को स्वीकार कर लेता था और हिंदू धर्म का परित्याग कर देता था, गुलामी से मुक्त था और साथ ही जजिया से भी वंचित था, तथा उसकी कोई भी क्षति नहीं होती थी। किंतु जो व्यक्ति इस्लाम कबूल नहीं करता था उसे जजिया देना पड़ता था[१]। जजिया तो उन हिंदुओं को देना पड़ता था जो मुसलिम शासन में जीवित बचे रहते थे, किंतु मुसलिम प्रत्यक्षदर्शियों ने स्वयं ही उस समय की विजय और भयंकर संहार और रक्तपात का विवरण जो लिखा है, उसीसे हमें हिंदू धर्माव-लंबियों पर होनेवाले भयंकर अत्याचार का अनुमान लग सकता है। अल उतबी महमूद का मंत्री था। उसने साथ रह कर महमूद के युद्धों को देखा था। उसने स्पष्ट लिखा है कि 'इस्लाम या मृत्यु यही दो विकल्प महमूद ने देश की जनता के संमुख रखा[२]।' वह आगे लिखता है कि महमूद ने पराजित हिंदुओं को जंगल, घाटी, मैदान और पहाड़ जहाँ कहीं भी पाया, उनका कत्ले आम किया। एक दूसरे स्थल पर वह लिखता है कि 'काफिरों का इतना अधिक रक्त बहाया गया कि नदियों की धारा तक उससे रंजित हो गई और उनका जल पीना कठिन हो गया[३]।'

---

१. द स्ट्रगिल फार इंपायर (विद्या भवन, बंबई) पृ० ४४४।

२. वही, पृ० ४४४।

३. वही, पृ० ४४४।

एक दूसरा इतिहासकार गुजरात की मुसलिम विजय का वर्णन करता है कि अधिकांश हिंदू नेता कैद कर लिये गए और करीब पचास हजार तलवार के घाट उतार दिये गए[1]। कालिंजर के युद्ध में पचास हजार व्यक्ति गुलाम बनाए गए।

इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि काफी संख्या में लोगों ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया। इस्लाम धर्म ग्रहण करनेवालों में अधिक संख्या निम्न वर्ण के लोगों की ही रही होगी। हिंदू समाज में रह कर उन्हें कभी भी संमान का कौन कहे, साधारण मनुष्य का सा भी जीवन बिताने का अवसर संभवतः नहीं मिल सकता था। अतः ऐसे धर्म के लिये वे क्यों व्यर्थ में अपनी बलि दें अथवा अन्य दूसरी कठिनाइयाँ सहन करें। इन निम्न वर्ण की जातियों ने संभवतः बहुत बड़ी संख्या में इस्लाम कबूल किया। इसमें वे जातियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जो किसी प्रकार के शिल्प का उद्यम करती थीं। यह ऊपर कहा जा चुका है कि उस समय के पूर्व स्मृतिकारों ने शिल्पकारों और कारीगरों को शूद्र वर्ण के अंतर्गत स्थान दिया था। इन जातियों में जुलाहे, धुनिया, मोची, चर्मकार आदि अधिक संख्या में थे। ये जातियाँ इस्लाम धर्म में प्रविष्ट तो हो गईं, किंतु इनमें पुरातन हिंदू संस्कार बने रहे। इस्लाम में जाकर भी इन्होंने हिंदू धर्म और संप्रदाय के मौलिक संस्कारों को अपने में सुरक्षित रखा। उसी प्रकार इस्लाम ग्रहण करने पर भी वहाँ से उन्होंने केवल वही बातें ग्रहण कीं, जिनका मेल हिंदू विचार और आदर्शों के मौलिक रूप से था। संत कवियों और साधकों में जुलाहे, धुनिया, नाई, मोची, चमार आदि निम्न वर्ग के साधकों और संतों का ही बाहुल्य था। हिंदू धर्म के निम्न वर्ग में होने के कारण उन्हें ऊँचा ज्ञान और पांडित्य उपलब्ध नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय समाज में बहुत व्यापक रूप से ऐसे निर्गुण साधक फैले हुए थे, जो बिना किसी पुस्तक या लिखित ज्ञान के केवल साधना और योग के मार्ग में शिष्यों को दीक्षित करते थे। गुरुपरंपरा के रूप में उनकी साधना और उनके विचार उत्तर पश्चिम और पूर्व के समूचे उत्तराखंड में व्याप्त थे। उन्होंने पुस्तकवाले पंडितों के आप्त ग्रंथों का नाम सुना था, जिनके सहारे वे लोग सामान्य जनता को वैचारिक और सैद्धांतिक गुलाम बनाते थे और अन्य रूढ़ियों का समर्थक बना कर समाज पर अपनी अडिग प्रभुता स्थापित करते थे। अतः हिंदी में निर्गुण परंपरा का प्रवर्तन करनेवाले इन हिंदू मुसलिम संतों ने संमिलित रूप से स्वानुभूति के आधार की पवित्रता और ऐकांतिक और अहैतुकी भगवद्भक्ति को अपने मतवाद

---

१. वही, पृ० ५०० ।

की आधारशिला बनाई। इन्होंने भक्तिवाद की सगुण उपासना से अपने को पृथक् रखा, क्योंकि सगुण उपासना 'नानापुराण निगमागम और श्रुति से संमत' थी। निर्गुण साधक इसे ग्रहण करके पुनः उन्हीं पुस्तकों के जाल में अपने को फँसाते जिसका उद्घोष पंडितगण अनादि काल से करते आ रहे थे।

मध्यकालीन भक्ति का उद्भव और इस्लाम

यह द्रष्टव्य है कि संतसाहित्य का आविर्भाव प्रायः उसी समय हुआ जब देश में मुसलमानों का प्रवेश हो रहा था और उत्तरी भारत में उनकी राजनैतिक सत्ता स्थिर हो रही थी। दोनों घटनाओं के कालक्रम में समानता होने के कारण प्रायः विद्वानों को कुछ ऐसा प्रतीत हुआ जैसे संतमत और भक्तिवाद मुसलिम आक्रमण और उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए। संत कवियों ने निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया और जातिवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थ, तिलक, माला आदि का खंडन किया, इससे भी विचार को समर्थन मिला, क्योंकि इस्लाम में एकेश्वरवाद, सामाजिक समता और मूर्तिपूजा का उग्र विरोध ये तीनों सिद्धांत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। अतः संतों द्वारा मूर्तिपूजा और बाह्याचारों के खंडन को लोगों ने मुसलिम प्रभावित समझा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम इस भ्रांति की ओर सुधी जनों का ध्यान आकृष्ट किया। डा० ग्रियर्सन ने भक्तिवाद की उत्पत्ति के संबंध में लिखा है कि 'बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त पुराने धार्मिक मतों के अंधकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू यह नहीं जानता कि यह बात कहाँ से आई और कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नहीं कर सकता।[1]' ग्रियर्सन ने बाद में यह प्रतिपादित किया कि भारत में भक्तिवाद का जन्म ईसाई प्रभाव के कारण हुआ।[2] यदि इसे हम ग्रियर्सन का धार्मिक पक्षपात न भी मानें तो भी स्पष्ट है कि उनके सामने वह प्रभूत सामग्री नहीं थी, जिसमें अति प्राचीन काल से १२ वीं शताब्दी तक एक ही प्रकार के विचार की अटूट धारा मिलती है। स्वयं हिंदी में संत काव्य और विचार का आविर्भाव जो पंडितों को आकस्मिक लगता है, उसका कारण उस पूर्ववर्ती विपुल साहित्य का अज्ञान ही है, जो लोक भाषा में लिखा गया था और अब इधर प्राप्त हुआ है और अभी

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० ४५।
वही, पृ० ४५।

संभव है भविष्य में और मिले। भारतीय चिंता के विकास के संपूर्ण क्रम को हमने अभी जो थोड़ा बहुत देखा है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि संत कवियों की विचार-धारा बिल्कुल ही नयी नहीं थी। वे सभी विचार उनके पूर्व के चिंतकों की रचनाओं में पूरी शक्ति और समर्थन के साथ व्यक्त हुए हैं। संत काल के पहले संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य को भी देखने से इस विचार का पूर्ण समर्थन मिलता है। सिद्धों की रचना और नाथों की रचना के अतिरिक्त स्वयं चारण काल या वीरगाथा काल कहे जानेवाले समय में भी उपलब्ध साहित्य की समीक्षा की जाय तो उसमें अधिक अंश धार्मिक साहित्य का ही मिलेगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने चारण काल या वीरगाथा काल का नाम रखने का विरोध किया है, क्योंकि उन्होंने उक्त काल की सामग्री की जाँच कर उसके संबंध में अपना मत दिया है कि 'इसमें प्रायः अधिक रचनाएँ नाथ संप्रदाय, सिद्ध संप्रदाय, जैनमत संबंधी और ऐहिकतापरक हैं। अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रंथों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा गया है, उनमें से कुछ नोटिस मात्र से बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप हैं। इन पुस्तकों को गलती से प्राचीन मान लिया गया है।[1]...इस काल को रूप और गति देनेवाली शक्ति धर्मभावना ही थी। इधर प्राप्त बहुत से साहित्य का अवलोकन करने पर इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि 'चारण काल' पुकारा जानेवाला साहित्य का काल भी भक्ति काल की भूमिका या पूर्वरूप था। यहाँ तक कि इस काल के सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ पृथ्वीराज रासो पर भी, जिसकी प्रामाणिकता अभी भी संदिग्ध है, कवि ने धर्म का रंग देने की चेष्टा की है। द्विवेदी जी के विवेचनानुसार कवि ने पृथ्वीराज को भी भगवत्स्वरूप कहा है। इन सब सामग्रियों और तथ्यों के आलोक में संत और भक्त साहित्य को आकस्मिक कहना अथवा उसकी उत्पत्ति के पीछे ईसाइयत या इस्लाम का प्रभाव और प्रेरणा ढूँढ़ना सर्वथा निराधार है। इस प्रकार के मत अब सर्वथा ध्वस्त हो चुके हैं। इतना स्वीकार अवश्य किया जा सकता है कि इस्लाम का प्रवेश जब इस देश में हुआ और उसके विचारों और सिद्धांतों का संपर्क हमारी देश की चिंताधारा से हुआ, तो एक जीवित जाति होने के नाते यहाँ की विचारधारा ने इस्लाम के कुछ तत्व लिये। उसी प्रकार इस्लाम पर भी हिंदू और भारतीय चिंता का प्रभाव पड़ा। एक ओर जहाँ खड्गों की झंकार और मानव संहार से प्रस्यूत रक्त की धारा नदी के जल को-

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृ० १६।

भी गँदला कर रही थी, वहीं साधक, विचारक और चिंतक सहिष्णुता, धैर्य और आत्मविश्वास के साथ इस नरमेध को समाप्त करने के लिये मैत्री और समता का शांतिपाठ कर रहे थे। संत कवि तथा दूसरे भक्तिवादी गायक आतंक, त्रास अथवा नैराश्य से अभिभूत हो धर्म के खोखले में पलायित होकर प्राण रक्षा के लिये आकुल अथवा चिंतित नहीं थे, वरन् उन्होंने उसी उदात्त भास्वर और तेजभरी वाणी में जहाँ एक ओर 'पंड़िया कौन कुमति तोहि लागो' कहकर हिंदुओं की कुरीतियों की भर्त्सना की, वहीं दूसरी ओर उन्होंने काजी को फटकारा और उनके रोजा, नमाज, कलमा आदि की व्यर्थता बतलाई—

> रोजा करैं निवाज गुजारैं, कलमैं भिसत न होई।
> सत्तर काबे इक दिल भीतर, जे करि जानैं कोई[1]॥

यही स्वर प्रायः सभी निर्गुण कवियों का है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्ति के आविर्भाव पर यह विचार व्यक्त किया है कि 'देश के मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे।......अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था[2]।' यह आश्चर्य है कि आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान ने भक्ति साहित्य की ऐसी व्याख्या की। समस्त भक्ति साहित्य में शायद ही ऐसी पंक्ति मिले जिसमें पराजय, निराशा अथवा क्लीवता की भावना मिले। संत साहित्य तो निश्चय ही अपूर्व साहस और निर्भीकता का साहित्य है, जिसमें जर्जर और रूढ़ मान्यताओं के प्रति स्पष्ट और खुला विद्रोह किया गया है। अन्याय के साथ रत्ती भर भी समझौता नहीं किया गया है। हिंदू और मुसलमानों के बीच द्वेष, घृणा और हिंसा के विष को दूर कर दोनों के बीच प्रेम और स्नेह के परम मधुर और स्निग्ध संबंध की प्रतिष्ठा

---

१. डा० श्यामसुंदरदास (संपा०): कबीर ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० १७४।

२. रामचंद्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ६०।

की गई है। मनुष्य और मनुष्य के बीच संप्रदाय, धर्म, जाति अथवा विचार के कृत्रिम भेद को सर्वथा तुच्छ मानकर उन्होंने सबके अंतराल में प्रवाहित होनेवाले विश्व प्रेम और सौहार्द्रभाव को देखा और पहचाना और उसको उन्होंने अपनी बानियों में व्यक्त किया। मानव मात्र के कल्याण और इहलौकिक और पारलौकिक सभी सिद्धि के लिये इन अशिक्षित, पुस्तक ज्ञान से वंचित संतों की वाणी सदैव ही आदर की अधिकारिणी रहेगी।

———

सप्तम अध्याय

निर्गुण संप्रदाय में सृष्टिप्रक्रिया

८

निर्गुण संप्रदाय में सृष्टिप्रक्रिया

कबीर और सृष्टि-प्रक्रिया

कबीर और दूसरे संत कवियों ने स्वयं सृष्टिप्रक्रिया पर विस्तार से कहीं कुछ नहीं लिखा है। कबीरदास ने दो एक पदों में केवल संकेत रूप से इस संबंध में कुछ विचार व्यक्त किया है। कबीरदास के बाद के संत प्रचारकों और लेखकों ने इस संबंध में पुराण ग्रंथों की रचना की है। कबीर साहित्य में पुराण ग्रंथ की तरह कबीरमंसूर नाम का ग्रंथ है, जिसमें कबीरदास का माहात्म्य विस्तार के साथ कहा गया है। इसी ग्रंथ में सृष्टि की उत्पत्ति और उसका विकास कबीर पंथी परंपरा के अनुसार बतलाया गया है। पौराणिक ग्रंथ, कहने की आवश्यकता नहीं, शुद्ध कल्पना प्रधान होते हैं, किंतु कल्पना करने के ढंग से विभिन्न व्यक्तियों या वर्गों के दृष्टिकोण का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। कबीरमंसूर में भी इसी प्रकार बहुत से प्रचलित हिंदू देवी देवताओं और उनके ग्रंथों का उल्लेख है, किंतु कहीं न कहीं कुछ इस प्रकार उनके चरित्र या उनसे संबंधित घटना को मोड़ दिया गया है जिससे वह कबीर पंथी परंपरा के अनुकूल हो जाती है। सृष्टिरचना के संबंध में भी हमें कुछ ऐसा ही देखने को मिलता है। कबीरदास की रचनाओं में दो पद उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं, जिनमें इस विषय का उल्लेख मिलता है—

जीव रूप एक अंतरगसा। अंतरज्योति कीन्ह परगसा।
इच्छा रूपि नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी।
तेहि नारि के पुत्र तीनि भयऊ। ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नाऊँ।
फिरि ब्रह्मै पूछल महतारी। की तुम पुरुष केकरि तुम नारी।
तुम हम हम तुम और न कोई। एकहि से पुरुष हमें तोरि जोई।

बाप पूत की एकै नारी। एकै माय बियाय।
ऐसा पूत सपूत न देखा। जो बापहिं चीन्है धाय।[1]

सार शब्द से बाँचिहो। मानहु इतबारा हो।
आदि पुरुष एक वृक्ष है। निरंजन डारा हो।
त्रिदेवा शाखा भये। पत्र संसारा हो।
ब्रह्मा वेद सही किया। शिव योग पसारा हो।
विष्णु माया उत्पत किया। ई उर ले व्यवहारो हो।
तीनि लोक दशइ दिशा। यम रोकिन डारा हो।[2]

इससे यही प्रतीत होता है कि आदि पुरुष ने सर्व प्रथम निरंजन को उत्पन्न किया। उन्हीं से गायत्री या इच्छा नारी का जन्म हुआ। इन दोनों ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन पुत्र उत्पन्न किये। इन्हीं तीन पुत्रों ने समस्त सृष्टि की रचना की। ब्रह्मा ने ही बेटों को उत्पन्न किया। शिव ने योग का प्रसार किया। विष्णु ने अनेक यत्न से इस सृष्टि को आकर्षक बनाया। इन्हीं संकेतों और आधारों पर संत संप्रदाय के पुराणकारों ने सृष्टि की रचना की बहुत मनोरंजक गाथा गढ़ी है।

कबीर पंथ में सृष्टिप्रक्रिया

कबीर पंथ में सृष्टि का आदि नियामक और सर्वोपरि सत्तावान सत्पुरुष को स्वीकार किया गया है। उसने जब सृष्टि उत्पन्न करने का ध्यान किया तो सर्वप्रथम छह पुत्र प्रकट हुए। इन पुत्रों के नाम हैं सहज, अंकूर, इच्छा, सोहं, अचिंत और अक्षर। किंतु ये छहों पुत्र अत्यंत सुशील, नम्र परोपकारी थे। सत्पुरुष ने सोचा कि भविष्य में जब मनुष्य निर्लज्ज और पापी होंगे, तो उन्हें दंड देने वाला भी कोई होना चाहिए। इस विचार से उन्होंने सातवाँ पुरुष उत्पन्न किया जो काल पुरुष कहलाया, जो सत्पुरुष के तेज से उत्पन्न होने के कारण अत्यंत बलवान और जीवों के लिये दुःखदायी हुआ। इन सभी पुत्रों को उन्होंने विभिन्न लोकों का राज्य दे दिया। वे सभी अपने अपने द्वीपों में राज्य करने लगे। ये ब्रह्म सृष्टि के अधिकारी कभी बंधन में नहीं आते। केवल मायासृष्टि के लोगों को बंधन और काल का भय है। इस कालपुरुष की उत्पत्ति भी विशेष प्रकार से हुई। सत्पुरुष का छठा पुत्र अक्षर जहाँ बैठा था चतुर्दिक जल ही जल था। उस समय वह निद्रा-

---

१. बीजक शब्द

२. रमैनी २।

भिभूत हुआ, इस प्रकार अक्षर के ध्यान और सत्पुरुष के शब्द से एक अंडा उत्पन्न हुआ। उस अंडे पर सत्पुरुष की ओर से लिखा था कि इसमें एक ऐसा पुत्र भेजा है, जो तीन लोक भवसागर का राज्य करेगा। उस अंडे पर लिखी हुई सब बातों को अक्षर पुरुष ने ज्यों ही पढ़ लिया उसके देखते देखते वह फूट गया। उसमें से अत्यंत प्रबल काल पुरुष उत्पन्न हुआ। तब अक्षर ने उसको निरंजन कह कर पुकारा। यह निरंजन सत्पुरुष की क्रोधाग्नि के भाग से उत्पन्न हुआ था, इससे वह पूर्णतया अग्नि है। निरंजन के अतिरिक्त इसके अनेक नाम हैं। काल, कैल, अंगार, ओंकार, निरंकार, निर्गुण, ब्रह्म, ब्रह्मा, धर्मराज, खुदा, अल्ला, करीम, अद्वैत, केशव, नारायण, हरिहर, विश्वंभर, बासुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, जगतपति, राजेश्वर, ईश, परमेश्वर, विश्वनाथ, खालिक, रब, रब्बिल आलमीन और हक इत्यादि बहुत से इसके नाम हैं। निरंजन पैदा होने के उपरांत एक चरण पर खड़ा होकर, सत्तर युग पर्यंत सत्पुरुष का ध्यान करता रहा। सत्पुरुष के प्रसन्न होने पर निरंजन ने उनसे वरदान माँगा कि उसे तीन लोक भवसागर का राज्य मिले, जिससे वह सृष्टि की रचना कर उसे अपने अधीन रखे। सत्पुरुष ने उसकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। फिर उन्होंने उसे समझाया कि देखो मैंने तुम्हारी प्रार्थना तो स्वीकार कर ली, किंतु सृष्टिरचना की सारी सामग्री कूर्म के पास है। निरंजन को कहा कि वह कूर्मजी के पास जाकर सृष्टिरचना की सामग्री माँग लाए। किंतु उनसे नम्रता और शिष्टता का व्यवहार करे। निरंजन सत्पुरुष के इस वरदान पर अत्यंत उत्फुल्ल हुआ और वह प्रसन्न चित्त पाताल लोक में निरंजन के समीप गया। जब निरंजन ने कूर्म को देखा तो उनके शरीर का विस्तार देख चकित रह गया। कूर्मजी का शरीर अट्ठानबे करोड़ योजन का है। निरंजन को अत्यंत अभिमान हो गया था। उसने कूर्मजी से अत्यंत उद्दंडता के साथ कहा मुझे सत्पुरुष ने तीन लोक का राज्य प्रदान किया है और यह भी कहा है कि मैं तुमसेसृष्टि रचना की सामग्री लेकर नई सृष्टि बनाऊँ। निरंजन ने यह भी कहा कि यदि देने में आप आनाकानी करेंगे तो मैं बलपूर्वक मार कर छीन लूँगा। ऐसी बात सुनकर कूर्म ने सामग्री देने से इनकार कर दिया। तत्पश्चात् निरंजन कूर्म से भिड़ गया। भयंकर द्वंद्व युद्ध हुआ। अंत में कठिन प्रहार करके निरंजन ने नख से कूर्म के तीन शिर काट डाले। इन तीन शिरों के कट जाने के कारण कूर्म के शरीर से सृष्टिरचना की समस्त सामग्री गिर पड़ी। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, पंच-तत्व, तीन गुण इत्यादि इनके पैर से निकल पड़े। इस प्रकार तारे, आकाश, पृथ्वी आदि सभी प्रकट हो गए। इधर कूर्म जी ने सत्पुरुष का ध्यान किया और अपने कष्ट और अपमान का उनसे निवेदन किया।

सत्पुरुष ने कूर्म से कहा कि मैं निरंजन को नष्ट तो नहीं करूँगा, क्योंकि मेरे सभी पुत्रों का जीवन एक ही धागे से बँधा है। एक को नष्ट करने से सभी पुत्र नष्ट हो जायँगे। किंतु अब निरंजन को मेरा दर्शन नहीं मिलेगा और यह काल एक लाख जीव प्रति दिवस खायेगा और सवा लाख उत्पन्न करेगा। निरंजन सृष्टिरचना की सामग्री पाकर भी सृष्टि का आरंभ नहीं कर सका क्योंकि कोई बीज खेत में नहीं था। निरंजन ने पुनः सोलह युग तक तपस्या की। इस बार पुनः सत्पुरुष ने उसकी आकांक्षा पूरी की। अद्या के नाम से उन्होंने एक सुंदरी कन्या उत्पन्न की। वह सुंदरी कन्या निरंजन के पास आई। उसे देखकर निरंजन कामातुर हो गया। अद्या ने आपत्ति की और कहा कि हम तुम दोनों भाई बहन हैं। इस पर निरंजन ने क्रुद्ध होकर अद्या को निगल लिया। उसी समय उसने सत्पुरुष का स्मरण किया। सत्पुरुष ने जागजीत को भेजा। उन्होंने सुरति के तीर से कालपुरुष को मारा। उसने भवानी को उगल दिया। किंतु उसके पश्चात् वह इतनी भयभीत हुई कि वह निरंजन की आज्ञा में रहने लगी। निरंजन के निरंतर सहवास के कारण भवानी कही जानेवाली अद्या भी उसी के समान हो गई। निरंजन महाकाल है और यह भी महाकाली हो गई। समय आने पर निरंजन और अद्या का विधिवत् विवाह हुआ दोनों आनंद मनाने लगे। बहुत दिनों तक भोग-विलास करने के पश्चात् निरंजन ने कूर्म जी के जो तीन शिर खा डाले थे, उन तीनों के प्रभाव से तीन पुत्र उत्पन्न हुए। अद्या के गर्भ से ये जो तीनों पुत्र हुए उनमें सबसे बड़े ब्रह्मा थे जिनमें रजोगुण की प्रधानता थी। दूसरे बेटे विष्णु थे, जिनमें सत्वगुण की प्रधानता थी। तीसरे शिव थे, जिनमें तमोगुण की संपन्नता थी। ये तीनों पुत्र जब उत्पन्न हुए तो निरंजन शून्य रूप होकर लुप्त हो गया और पुत्रों को पिता का दर्शन नहीं हो सका। कुछ सयाने होने पर इन पुत्रों ने जब अपने पिता के संबंध में माता से जिज्ञासा की तो अद्या ने उन्हें समझाया कि वही उनकी माता है। तीनों लोकों को रचनेवाली है। वह अब उनकी पत्नी है और वे उसके पति हैं। कबीर की रचना में इसका उल्लेख इस प्रकार है—

नव ब्रह्मा पछल महतारी। को तोर पुरुष तू काकरि नारी।
तुम हम हम तुम और न कोई। तुमहि मोर पुरुष हमहिं तोहिं जोई।

किंतु तीनों पुत्रों को माता की बात का विश्वास नहीं रहा। उन्हें उसे मिथ्याभाषिणी समझा किंतु उत्तर न देकर मौन रहे।

निरंजन शून्य में जाकर समाधि लगाकर ध्यानावस्थित हुए। उसी आत्म-विस्मृति की अवस्था में उनके श्वास के मार्ग से चारों वेद निकल पड़े। निरंजन ने जो स्वसंवेद से सूक्ष्म बातों को चुन कर अपने हृदय में रखा था, उसमें उसके भी बहुत से विचार मिले थे। चारों वेद स्वसंवेद के त्वचाज्ञान से बने हैं। त्वचाज्ञान से तात्पर्य मोटा या सामान्य ज्ञान है। इनकी बातें उत्कृष्ट हैं, किंतु सर्वोत्कृष्ट नहीं। ये चारों वेद निरंजन के संपर्क के कारण दूषित हो गए। स्वसंवेद में जो पवित्रता और निष्कलंकता है, वह इनमें नहीं आ पाई। यह वेद निरंजन के हाथ से निकल कर ब्रह्मा के हाथ में आया। उन्हीं के द्वारा इसका संसार में प्रचार हुआ। ये चारों वेद भी और कुछ नहीं। कबीर साहब की ही वाणी के परिवर्तित रूप हैं। इन चारों वेदों का नाम परसमवेद है और इन्हीं को पराकृत वेद भी कहते हैं। प्रथम स्वसंवेद में जो कबीर साहब की कोटवाणी कहलाती है इसी से ऋग्वेद निकला है। कबीर साहब की दूसरी, जो टकसार वाणी है उससे यजुर्वेद निकला है। कबीर साहब की वाणी का एक तीसरा भाग है, जिसमें राग रागिनियाँ हैं। वह सामवेद के नाम से विख्यात है। कबीर साहब के ज्ञान का चौथा भाग बीजक ज्ञान है, उससे अथर्व वेद बना है।

यह वेद विषाक्त है। यह विषकुंडलिनी से उद्भूत है। वेद का पिता ओ३म् है और ॐ की माता कुंडलिनी है। महामाया जो नाभि के नीचे रहती है सो साँप की सूरत की है, इसके मुँह से फूत्कार निकलती रहती है। इसी से मन में स्फूर्ति रहती है। किंतु यह विष जिस मन में प्रवेश करता है, उसकी मृत्यु होती है और जन्म मरण के बंधन से उसकी मुक्ति नहीं होती। कुंडलिनी का यह विष ओम् में व्याप्त है और उस ओम् से उत्पन्न वेद में भी यह विष व्याप्त है। यही कारण है कि वेदादि पुस्तकों के ज्ञान में विश्वास करनेवाले व्यक्ति विष वासना के चक्कर में पड़ते हैं।

वेद उत्पन्न करने के बाद ब्रह्मा ने उन्हें समुद्र में छिपने की आज्ञा दी। उसी समय अद्या ने अपने शरीर से तीन कन्याओं को उत्पन्न किया। उनको भी उन्होंने समुद्र में छिपने का आदेश दिया। वे भी उसी में जाकर छिप गई। अद्या के तीनों पुत्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश इसके संबंध में बिलकुल अनभिज्ञ रहे। तदुपरांत निरंजन ने अद्या को आज्ञा दी कि वह अपने तीनों पुत्रों द्वारा समुद्र का मंथन कराए। उन्होंने समुद्र मथा। उसमें से बहुत से पदार्थ मिले। उन सभी वस्तुओं को तीनों भाइयों ने उसी रूप में माता के संमुख रख दिया। माता ने उन वस्तुओं

को तीनों में बाँट दिया। सरस्वती और चारों वेद ब्रह्मा के हिस्से पड़े। लक्ष्मी विष्णु के हिस्से रहीं और शिव को सती मिलीं। ब्रह्मा को इस प्रकार वेद की प्राप्ति हुई। उसमें उन्होंने देखा कि एक ऐसे विराट् पुरुष का वर्णन है, जिसका शिर आकाश में है और पैर पाताल में। चारो दिशा उसके कान और सूर्य तथा चंद्र उसके नेत्र हैं। ब्रह्मा ने अपनी माता अद्या से इस संबंध में जिज्ञासा की। क्योंकि अद्या ने बता रखा था कि इस सृष्टि में कोई भी पुरुष नहीं है। अद्या की आज्ञा से ब्रह्मा अपने पिता विराट् पुरुष के दर्शन के निमित्त चल पड़ा। उत्तर दिशा में एक एकांत स्थान देखकर वह समाधि लगा कर बैठ गया। ब्रह्मा की उस समाधि में चार युग व्यतीत हो गए तो अद्या को चिंता हुई कि सृष्टि कैसे बनेगी। उसने अपने शरीर के मेल से गायत्री को उत्पन्न किया और उसे आज्ञा दी कि किसी प्रकार ब्रह्मा को लौटा लाए। ब्रह्मा तपस्या में मग्न था। गायत्री के जगाने से क्रुद्ध हुआ, किंतु बाद में गायत्री और पुष्पावती (जिसे गायत्री ने उत्पन्न किया था) के साथ, एक राय हो अद्या के यहाँ पहुँचा और ब्रह्मा ने अद्या से कहा कि उसने पिता निरंजन का दर्शन किया। गायत्री और पुष्पावती ने भी समर्थन किया। किंतु अद्या ने ध्यान कर निरंजन से पूछा। यह जानकर कि तीनों ने झूठी बात कही है, उसने क्रुद्ध होकर ब्रह्मा को शाप दिया कि तेरी पूजा संसार से समाप्त हो जायगी, तुम्हारी संतान द्वार द्वार ठोकर खायगी। तुम्हारी तरह तुम्हारी संतान भी झूठी होगी। गायत्री को अद्या ने शाप दिया कि वह चार पैर की होगी और उसके कई पति होंगे और विष्ठा खायगी। पुष्पावती को भी केवड़ा और केतकी होकर पृथ्वी पर जाने के लिये शाप दिया। यह भी कहा कि ये फूल कँटीले होंगे और गंदे स्थानों पर बोए जायेंगे। अद्या ने क्रोध के आवेश में शाप तो दे दिया, किंतु उसे पश्चाताप होने लगा कि निरंजन कहीं क्रुद्ध न हों और सृष्टि प्रसार का कार्य रुक न जाय। इसी समय निरंजन की ओर से आकाशवाणी हुई 'हे भवानी मैंने तुम्हें सृष्टि के प्रसार के निमित्त नियुक्त किया था, तुमने इसके विपरीत आचरण किया। इन तीनों को तुम्हारे शाप के कारण बहुत दुःख पहुँचा है। अतः तुम्हें द्वापर में द्रौपदी के रूप में अवतार लेकर पाँच पतियों की पत्नी बनना पड़ेगा और अब भी बहुत से कष्ट सहने होंगे।' तत्पश्चात् अद्या ने विष्णु को पिता के दर्शनार्थ भेजा। विष्णु पाताल लोक गए और वहाँ शेषनाग की विषभरी फुफकार से अचेत हो गए और उनका गोरा शरीर नीला हो गया। निरंजन ने उन्हें लौटा कर माता अद्या से बिलकुल सच बातें कहने को कहा। विष्णु ने लौटकर माँ से यथार्थ निवेदन किया। माँ अद्या अत्यंत प्रसन्न हुई। उन्हें पिता निरंजन का दर्शन

कराया और त्रिलोक के राज्य का अधिकारी बनाया। विष्णु, निरंजन और आद्या तीनों ही एक स्वरूप हो गए और इसी रूप को वेदों ने परमेश्वर कहा है।

आद्या ने अपने दोनों पुत्रों को यथास्थान स्थित कर दिया था। वह अब शिव के यहाँ गई। उनसे उसने पिता का समाचार पूछा। वे मौन रहे। सत्य झूठ कुछ भी नहीं बोले। अतः आद्या ने कहा कि तुमने कुछ नहीं कहा, अतः तुम योगसमाधि कर, शीश पर जटा रख और शरीर में भस्म रमा भयानक वेष धारण करो और तुम क्रोधी होगे। इसके उपरांत आद्या ने पुनः शिव से बरदान माँगने को कहा। शिव ने अमर और परम वीर होने का बरदान माँगा। भवानी ने तथास्तु कहा।

शेषनाग ने विष्णु को जो जलाया था उसी कारण उसे कालीनाग के रूप में पृथ्वी तल पर आना पड़ा। जब विष्णु ने द्वापर में कृष्ण रूप से अवतार लिया तो उससे पिछले अपमान का बदला लिया।

इस प्रकार ब्रह्मसृष्टि और जीवसृष्टि का निर्माण होने के बाद निरंजन ने मायासृष्टि की रचना का विचार किया। ब्रह्म और जीव सृष्टि का कभी विनाश नहीं होता, किंतु मायासृष्टि तो बिलकुल निरंजन की इच्छा पर अवलंबित है। जब चाहे समेट ले और जब चाहे उसको फैला दे। निरंजन विष्णु मिलकर समस्त सृष्टि का राज्य करने लगे। निरंजन निराकार और निर्गुण रूप में रहकर और विष्णु सगुण रूप में।

आद्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने मिलकर चार कोटि की चौरासी लाख योनियों की रचना की। अंडज जीवों को आद्या ने उत्पन्न किया। अंडज वे जीव हैं जो अंडा से उत्पन्न होते हैं। पिंडज जीवों को ब्रह्मा ने उत्पन्न किया। ये जीव बच्चा देते हैं। ऊष्मज जीवों को विष्णु ने उत्पन्न किया। ये जीव वस्तुओं के भले बुरे संयोग से उत्पन्न होते हैं जैसे मच्छड़ और मक्खी आदि। स्थावर जीव के रचयिता शिव जी हैं। इसमें सब जड़ पदार्थ हैं।

विष्णु का निवासस्थान बैकुंठ कहलाता है। यह पृथ्वी से साठ सहस्र योजन ऊँचा है। इसके बीच में विष्णु का सिंहासन है। चित्रगुप्त जो आपके मंत्री हैं, जो सबके पाप और पुण्य का हिसाब रखते हैं। जीवों को नरक और स्वर्ग सब विष्णु जी की आज्ञा से मिलता है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और शिव अपने अपने लोगों में राज्य करने लगे और उन्होंने अपनी माँ आद्या को सर्वथा भुला दिया। अब आद्या को इसकी चिंता लगी। उन्होंने अपने शरीर से तीन अपूर्व सुंदरी कन्याएँ रंभा, सुची और रेणुका नाम की उत्पन्न की और उन्हें समस्त संसार में

अपनी पूजा के प्रचार की आज्ञा दी। इन तीनों ने अनेक राग रागिनियों की सृष्टि कर सबको वशीभूत कर लिया। तत्पश्चात् अद्या की पूजा का प्रचार किया। इस प्रकार भवानी की पूजा का समस्त संसार में प्रचार हुआ। इस प्रकार निरंजन अद्या, ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन पांचों ने समस्त सृष्टि में अपनी पूजा का प्रचार किया और सत्यपुरुष को बिलकुल ओट में रखा। सारे जीवों को भवसागर में अनेक युक्ति से बाँध रखा। वेद रूपी भवसागर के दोनों किनारों पर अद्या और निरंजन सचेत होकर बैठे हैं। किसी भी जीव को इससे मुक्त होने नहीं देते हैं। इस भवसागर में समस्त जीव मछली के समान हैं और ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों बलवान मछुवे हैं। समस्त जीव भय से त्रस्त हैं। कोई भी सामना नहीं कर सकता। यदि कभी किसी ने इन्हें दबाया तो निरंजन और अद्या तत्काल सहायतार्थ आ जाते हैं। जब जीव बहुत दुखी हुए और करुण की पुकार सत्य लोक में पहुँची तो सत्पुरुष ने दयार्द्र होकर ज्ञानी जी को भेजा। ज्ञानी जी अर्थात् कबीर साहब के आगमन मात्र से और सत्य शब्द की टेर से ही सब जीव शांत हुए।

भवसागर के रूप और उसकी उत्पत्ति के संबंध में एक और प्रकरण आया है। एक बार विष्णु, ब्रह्मा और शिव किसी वृक्ष की छाया में बैठे थे। उसी समय उन्हें एक रक्त की नदी लहराती हुई दिखलाई पड़ी। उस नदी को देखकर और उसमें आती हुई भयंकर दुर्गंधि को असह्य समझ कर, विष्णु तो सबसे पहले भाग खड़े हुए। ब्रह्मा कुछ देर तक धैर्य धारण किए बैठे रहे, किंतु बाद में उन्हें भी वहाँ रहना असंभव हो गया है। वे भी वहाँ से भगे। रह गए अकेले शिव। वे अंत तक बैठे रहे और जब वह नदी एकदम समीप आ गई तो उसे पकड़कर उन्होंने आसन बना लिया। और भयंकर दुर्गंध के बावजूद उसी पर बैठे रहे। उसमें से अद्या प्रकट हुई। उन्होंने शिव पर प्रसन्न होकर महाकाली रूप धारण कर उनके साथ रहने का बरदान दिया। यही रक्त नदी भवसागर है। वही नदी स्त्री की योनि है जो रक्त में भरी हुई है और जिससे सबकी उत्पत्ति होती है।

महाप्रलय की कहानी और उसके बाद सृष्टिरचना का वृत्तांत कबीर मंसूर में ही एक दूसरे स्थल पर थोड़े अंतर के साथ दिया गया है। उसके अनुसार महाप्रलय होने के पूर्व प्रलय के अनेक लक्षण दिखलाई पड़ेंगे। पृथ्वी पर उस समय पाप की अत्यंत प्रबलता हो जायेगी। महाप्रलय के सवा सौ वर्ष पहले से बराबर ग्रहण लगता जायेगा और एक सौ वर्ष पर्यंत बराबर चंद्रग्रहण होगा।

इसके उपरांत सूर्यग्रहण होगा। सूर्य और चंद्र ग्रहण की समाप्ति पर महाप्रलय आयगा। चारो ओर सर्वत्र जल ही जल दृष्टिगोचर होगा। सहस्र योजन ऊँची पानी की लहरें उठेंगी। उस अपूर्व जलप्रवाह में समस्त जीव मर जायेंगे और केवल शून्य मात्र चतुर्दिक अवशेष रहेगा। काल पुरुष अपने में सारी सृष्टिरचना को समेट लेगा। पाँच तत्व और तीन गुणों को भी काल पुरुष आत्मसात् कर लेगा। अद्या को काल पुरुष निगल जायगा। निरंजन के मस्तिष्क में एक अर्द्धगोलाकार प्रसाद शृंग के समान स्थान है। वह समस्त सृष्टिरचना को उसी स्थान में सूक्ष्म रूप से रख लेगा। वह सत्तर युग तक बराबर अपने मस्तक के उस स्थान विशेष में उसे लिये घूमता रहेगा। इसके बाद उसका चित्त व्याकुल हो जायगा। एकांत होने के कारण उसके मन में अत्यंत घबराहट होगी। वह अपने को ही कुछ समय के लिये सत्पुरुष समझने की चेष्टा करेगा। किंतु अपने को उस तरह समर्थ न पाकर वह मन में दुखी होगा। वह सत्यलोक के आसपास चक्कर काटते हुए इसका निवेदन करेगा। सत्यपुरुष ज्ञानी जी को निरंजन को सांत्वना देने के लिये भेजेंगे। ज्ञानी जी सत्पुरुष का संदेश उसे देंगे कि तुम कूर्म जी की पीठ पर तीन लोक की रचना का विस्तार करो। उस आज्ञा को सुनकर निरंजन तुरंत ही कूर्म जी की पीठ के ऊपर तीनों लोकों की रचना का कार्य आरंभ कर देगा। उसी समय वह अपने मुँह से अद्या को भी उगल देगा। अद्या और निरंजन परस्पर सहयोग से ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवताओं की सृष्टि करेंगे। फिर ये पाँचों मिलकर सारी सृष्टि की रचना करेंगे।

भागवत् पुराण में सृष्टि प्रक्रिया

सृष्टि की उत्पत्ति का जो वर्णन ऊपर किया गया है वह केवल पौराणिक है। उसी तरह की मिलती जुलती कल्पना हिंदू पुराणों में भी की गई है। हिंदू पुराणों में कल्पना के साथ दर्शन का भी सामंजस्य किया गया है। साहित्य दर्शन तो मूलतः सृष्टिरचना और उसके विभिन्न उपकरण को ही लेकर लिखा गया है। भागवत् में जिस प्रकार से सृष्टिरचना का वर्णन किया गया है। उसमें हम यही सामंजस्य पाते हैं। वह वर्णन संक्षेप में कुछ इस प्रकार का है[1]।

---

१ श्रीमद्भागवत महापुराण, प्रथम खंड, तृतीय स्कंध, पृ० २१४ (गीता प्रेस का हिंदी अनुवादसहित संस्करण)।

सृष्टिरचना के पूर्व समस्त आत्माओं के आत्मा एक पूर्ण परमात्मा थे—न द्रष्टा था न दृश्य। वे ही द्रष्टा होकर देखने लगे। उस समय वे अद्वितीय रूप से प्रकाशित हो रहे थे। ऐसी अवस्था में वे अपने को असत् के समान समझने लगे। किंतु वे असत् नहीं थे, उनकी शक्तियाँ ही सोई थीं। यह द्रष्टा और दृश्य का अनुसंधान करनेवाली शक्ति ही—कार्य कारण रूपा माया है। इस माया के द्वारा ही भगवान ने विश्व का निर्माण किया है। काल शक्ति से जब त्रिगुणमयी माया को क्षोभ हुआ तब इंद्रियातीत चिन्मय परमात्मा ने अपने अंश पुरुष रूप से उसमें चिदाभास रूप बीज स्थापित किया। तब उस अव्यक्त माया से महतत्व प्रकट हुआ। महतत्व पर भगवान की दृष्टि पड़ने पर उसका रूपांतर अहंकार में हुआ। अहं तत्व में विकार होने पर वैकारिक अहंकार से मन और जिनसे विचारों का ज्ञान होता है, वे इंद्रियों के अधिष्ठाता देवता हुए। तैजस् अहंकार से ज्ञानेंद्रियाँ और कर्मेंद्रियाँ हुईं तथा तामस अहंकार से सूक्ष्म भूतों का कारण शब्द तन्मात्र हुआ और उससे दृष्टांत रूप से आत्मा का बोध करानेवाला आकाश उत्पन्न हुआ। भगवान की दृष्टि जब आकाश पर पड़ी तब उससे फिर काल, माया और चिदाभास के योग से स्पर्श तन्मात्र हुआ और उसके विकृत होने पर उससे वायु की उत्पत्ति हुई। वायु ने आकाश के सहित विकृत होकर रूप तन्मात्र की रचना की और उससे संसार का प्रकाशक तेज उत्पन्न हुआ। फिर परमात्मा की दृष्टि पड़ने पर वायुयुक्त तेज ने विकृत होकर रस तन्मात्र के कार्य जल को उत्पन्न किया। तदंतर तेज से युक्त जल ने ब्रह्म का दृष्टिपात होने पर काल, माया और चिदंश के योग से गंध गुणमयी पृथ्वी को उत्पन्न किया। सर्वशक्तिमान भगवान ने जब देखा कि आपस में संगठित न होने के कारण ये मेरी महतत्व आदि शक्तियाँ विश्वरचना के कार्य में असमर्थ हो रही हैं, तब वे कालशक्ति को स्वीकार कर एक साथ ही महतत्व, अहंकार, पंचभूत, पंचतन्मात्रा और मन सहित ग्यारह इंद्रियाँ—इन तेईस तत्वों के समुदाय में प्रविष्ट हो गए। उनमें प्रविष्ट होकर उन्होंने जीवों के सोए हुए अदृष्ट को जाग्रत किया और परस्पर विलग हुए उस तत्वसमूह को अपनी क्रियाशक्ति द्वारा आपस में मिला दिया। इन सबकी प्रेरणा से आदिपुरुष विराट् उत्पन्न हुए। अर्थात् जब भगवान ने अंशरूप से अपने उस शरीर में प्रवेश किया तब वह विश्वरचना करने वाला महतत्वादि का समुदाय एक दूसरे से मिल कर परिणाम को प्राप्त हुआ। यह तत्वों का परिणाम ही विराट् पुरुष है, जिसमें चराचर जगत् विद्यमान है। यह विराट् पुरुष ही प्रथम जीव होने के कारण समस्त जीवों का आत्मा, जीव रूप होने के कारण परमात्मा का अंश और प्रथम अभिव्यक्त होने के कारण भगवान का

आदि अवतार है। श्री भगवान ने अपने तेज से इस विराट् पुरुष को चेतन किया। उसके जाग्रत होने पर देवताओं के स्थान प्रकट हुए। विराट् पुरुष को पहले मुँह उत्पन्न हुआ। उसमें लोकपाल अग्नि अपने अंश वागिंद्रिय के समेत प्रविष्ट हो गया, जिससे यह जीव बोलता है। फिर विराट् पुरुष के तालु उत्पन्न हुआ, उसमें लोकपाल वरुण अपने अंश रसेंद्रिय के सहित स्थित हुआ, जिससे जीव रस ग्रहण करता है। इस प्रकार जब विराट् देह में नथुने प्रगट हुए तो उसमें दोनों अश्विनी-कुमार अपने अंश घ्राणेंद्रिय के सहित प्रविष्ट हुए, जिससे जीव गंध ग्रहण करता है। फिर उस विराट् देह में आँखें प्रकट हुईं। तब उनमें अपने अंश नेत्रेंद्रिय सहित लोकपति सूर्य ने प्रवेश किया जिस नेत्रेंद्रिय से पुरुष को विविध रूपों का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् त्वचा प्रकट हुई उसमें अपने अंश त्वगिंद्रिय सहित वायु स्थिर हुआ, जिससे जीव स्पर्श का अनुभव करता है। जब इसके कर्णछिद्र प्रकट हुए तब उनमें अपने अंश श्रवणेंद्रिय के सहित दिशाओं ने प्रवेश किया जिससे जीव को शब्द का ज्ञान होता है। फिर विराट् शरीर में चर्म उत्पन्न हुआ, उसमें अपने अंश रोमों के सहित औषधियाँ स्थिर हुईं जिन रोमों से जीव खुजली आदि का अनुभव करता है। अब उसके लिंग उत्पन्न हुआ। इस आश्रय में प्रजापति ने अपने अंश वीर्य के साथ प्रवेश किया, जिससे जीव आनंद का अनुभव करता है। फिर विराट् पुरुष को गुदा प्रकट हुई। उसमें लोकपाल मित्र ने अपने अंश वायु इंद्रिय के सहित प्रवेश किया, इससे जीव मल त्याग करता है। इसके पश्चात् उसके हाथ प्रकट हुए। उनमें अपनी ग्रहण त्याग रूपा शक्ति सहित देवराज इंद्र ने प्रवेश किया। इस शक्ति से जीव अपनी जीविका ग्रहण करता है। जब उसके चरण उत्पन्न हुए तब उनमें अपनी शक्ति गति के सहित लोकेश्वर विष्णु ने प्रवेश किया। फिर इसके बुद्धि उत्पन्न हुई। इस स्थान में बुद्धि शक्ति के साथ वाक्पति ब्रह्मा ने प्रवेश किया। हृदय उत्पन्न होने पर उसमें अपने अंश मन के सहित चंद्रमा स्थित हुआ। तत्पश्चात् विराट् पुरुष में अहंकार उत्पन्न हुआ। इसमें क्रियाशक्ति सहित अभिमान (रुद्र) ने प्रवेश किया। इससे जीव अपने कर्तव्य को स्वीकार करता है। अब इसमें चित्त प्रकट हुआ। उसमें चित्त शक्ति के सहित महतत्व (ब्रह्मा) स्थित हुआ। इस चित्त शक्ति से जीव विज्ञान (चेतना) को उपलब्ध करता है। इस विराट् पुरुष के शिर से स्वर्गलोक, पैरों से पृथ्वी और नाभि से अंतरिक्ष उत्पन्न हुआ। इनमें क्रमशः सत्व, रज और तम तीनों गुणों के अनुपात से देवता, मनुष्य और प्रेतादि देखे जाते हैं। वेद और ब्राह्मण भगवान के मुख से प्रकट हुए। उनकी भुजाओं से क्षत्रिय उत्पन्न हुआ। उनकी जाँघों से सबका निर्वाह करने-

वाला वैश्य वर्ण उत्पन्न हुआ। फिर भगवान के चरणों से सेवावृत्ति का अधिकारी शूद्र वर्ण प्रकट हुआ।

विदुर और मैत्रेय के संवाद रूप में यह सृष्टिरचना का वर्णन भागवत-पुराण में आया है। इतना सुनने के बाद विदुर जी ने पुनः मैत्रेय ऋषि से प्रश्न किया कि आप, सृष्टिरचना में अनेक प्रकार के जीवों की कैसे उत्पत्ति हुई इसका ब्योरेवार वर्णन करें, तत्पश्चात् उन्होंने फिर से उस वर्णन को सुनाया। सृष्टि के पूर्व समस्त विश्व जल में डूबा हुआ था। सृष्टिकर्म से अवकाश ले भगवान अपने ज्ञान को अक्षुण्ण रखते हुए योगनिद्रा का आश्रय ले आँख मूँदे हुए आत्मानंद का अनुभव कर रहे थे। उन्होंने केवल काल शक्ति को जाग्रत रखा था कि सृष्टिकाल आने पर उन्हें जगावें। एक सहस्र युगपर्यंत जल में शयन करने के पश्चात् काल शक्ति ने उन्हें प्रेरित किया। जिस समय भगवान की दृष्टि अपने में निहित लिंग शरीरादि सूक्ष्म तत्व पर पड़ी, तब वह कालाश्रित रजोगुण से क्षुभित होकर सृष्टि-रचना के निमित्त उनके नाभि देह से बाहर निकला। कर्मशक्ति को जाग्रत करने वाले काल के द्वारा विष्णु भगवान की नाभि से प्रकट हुआ यह सूक्ष्म तत्व कमल कोश के रूप में सहसा ऊपर उठा और उसने सूर्य के समान अपने तेज से उस अपार जलराशि को देदीप्यमान कर दिया। उससे साक्षात् वेदमूर्ति ब्रह्मा जी प्रकट हुए। उस कमल की गद्दी पर बैठे हुए ब्रह्मा ने चारों ओर गर्दन घुमाकर देखा और उन्हें कोई लोक नहीं दिखाई पड़ा। चारों दिशा की ओर मुख करने से उन्हें चार मुख हो गए। ब्रह्मा जी को उस कमल का रहस्य ज्ञात न होने के कारण वे उसकी नाल में घुसे, किंतु उसकी उत्पत्ति स्थान को ढूँढ़ न सकें। निराश होकर वे पुनः ऊपर लौट आए। अब वे वहीं बैठ कर समाधिस्थ हो गए। तब उनके हृदय में ज्ञानप्रकाश हुआ। उस समय उन्होंने देखा कि प्रलयकालीन जल में शेष जी के कमलनाल सदृश गौर और विशाल विग्रह की शैय्या पर पुरुषोत्तम भगवान अकेले ही लेटे हैं। शेष जी के दस हजार फण छत्र के समान फैले हैं। भगवान का यह रूप देखकर ब्रह्मा जी ने उनकी स्तुति की। भगवान ने ब्रह्मा को दर्शन देकर आश्वस्त किया। इस तरह चिंता और उद्वेग से मुक्त होकर ब्रह्मा ने पुनः सौ दिव्य वर्ष तक तपस्या की। प्रबल तपस्या और हृदय के आत्मज्ञान के कारण ब्रह्मा का विज्ञान बल बढ़ गया। उन्होंने देखा कि प्रलयकालीन प्रबल वायु के झकोरों से जिस कमल पर बैठे हैं वह तथा उसके चतुर्दिक का जल हिल रहा है। उन्होंने वायु और जल दोनों को पी लिया। तत्पश्चात् उन्होंने उसी विशाल कमल के भूः, भुवः, स्वः तीन भाग किए।

सबसे पहले[1] उन्होंने अज्ञान की पाँच वृत्तियाँ तम (अविद्या, मोह अस्मिता) महामोह (राग), तामिस्त (द्वेष) और अंध तामिस्र रचीं। किंतु इस अत्यंत पापमयी सृष्टि को देखकर उन्हें संतोष नहीं हुआ। फिर उन्होने दूसरी सृष्टि रची। इस बार ब्रह्मा जी ने सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार ये चार मुनि उत्पन्न किए। किंतु निवृत्ति परायण होने के कारण ये मुनि भी संतान उत्पादन से विरत रहे। उनकी यह अवस्था देखकर ब्रह्मा क्रुद्ध हुए। उन्होंने अपना क्रोध रोकना चाहा किंतु वह क्रोध उनकी भौंहों के बीच से नील लोहित बालक के रूप में प्रकट हुआ। वे देवताओं के पूर्व भव (रुद्र) रो रो कर अपना नाम और निवास पूछने लगे। ब्रह्मा ने कहा कि पैदा होते ही तुम बालक के समाना रोने लगे इसलिये तुम्हें 'रुद्र' कहा जायगा। फिर उनसे कहा कि तुम स्थान आदि की सब सुविधा लेकर बहुत सी प्रजा उत्पन्न करो। उन्होंने अपने ही समान प्रबल अनेक संतानें उत्पन्न कीं। उनसे आतंकित होकर ब्रह्मा ने इन्हें तप करने का उपदेश दिया। उसके पश्चात् ब्रह्मा ने स्वयं सृष्टि के लिये संकल्प किया और उन्हें दस पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ट, दक्ष और नारद थे। फिर ब्रह्मा जी के दाएँ स्तन से धर्म उत्पन्न हुआ। फिर पीठ से अधर्म पैदा हुआ। ब्रह्मा जी एक बार अपनी पुत्री सरस्वती पर मुग्ध हुए थे जिस पाप के प्रायश्चितत्स्वरूप अपने शरीर को छोड़ दिया। वही कुहरा हो गया। एक बार ब्रह्मा जी सृष्टिरचना के संबंध में सोच रहे थे। उसी समय उनके चार मुखों से चार वेद उत्पन्न हुए। इसी प्रकार आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व वेद और स्थापत्य वेद इन चार उपवेदों को भी उन्होंने उत्पन्न किया। किंतु फिर भी जिस गति से सृष्टि का विस्तार वे चाहते थे, नहीं हो रहा था और देव के संबंध में विचार कर रहे थे। उसी समय अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गए। 'क' ब्रह्मा जी का नाम है। उन्हीं से विभक्त होने के कारण शरीर को 'काय' कहते हैं। उन दोनों विभागों से एक स्त्री, पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ। जो पुरुष था वह स्वायंभुव मनु थे और नारी शतरूपा थी। फिर मिथुन धर्म से प्रजा की वृद्धि होने लगी। अब इस प्रजा के रहने के लिये स्थान का प्रश्न था। मनु ने ब्रह्मा जी से निवेदन किया कि पृथ्वी तो प्रलय के जल में डूबी हुई है। जब तक इसका उद्धार नहीं होता हमारी संतान के लिये स्थान नहीं मिलेगा। यह सुनकर ब्रह्मा चिंतामग्न हो गए। ब्रह्मा विचार कर ही रहे थे कि उनकी नाक के छिद्र से अंगूठे के बराबर आकार का बराह शिशु निकला।

---

१. द्वादशोध्यायः भागवत पुराण।

तुरंत ही वह बढ़ कर हाथी के आकार का हो गया। वे ही बाराह रूप भगवान पृथ्वी की खोज में निकले। बड़े जोर से उछल कर वे समुद्र के पेट को चीरते हुए रसातल में पहुँचे। वहाँ से हमारी पृथ्वी को लेकर रसातल से ऊपर आए। उस समय मार्ग में विघ्न डालने के लिये हिरण्याक्ष ने उन पर भीतर से गदा का प्रहार किया। उसका उन्होंने तत्काल बध कर दिया और उसे लेकर तत्काल वे बाहर निकल पड़े। इस प्रकार पृथ्वी के स्थित होने पर सृष्टि का विकास क्रम और तीव्रता से चल पड़ा। ब्रह्मा जी ने सर्वप्रथम पाँच अविद्या उत्पन्न की किंतु उन्हें अपना यह तमोमय शरीर अच्छा नहीं लगा। अतः उन्होंने उसे त्याग दिया। उस रात्रिमय शरीर को उसी से उत्पन्न यक्ष और राक्षसों ने ग्रहण कर लिया। फिर ब्रह्मा जी ने सात्विकी प्रभा धारण कर देवताओं को उत्पन्न किया। फिर ब्रह्मा जी ने अपने जघन प्रदेश से असुरों को उत्पन्न किया। इतने कामलोलुप वे थे कि मिथुन के लिये ब्रह्मा जी की ओर बढ़े। ब्रह्मा जी वहाँ से भागे और भगवान के परामर्शस्वरूप उस शरीर को उन्होंने त्याग दिया। उस छोड़े हुए शरीर से एक सुंदरी स्त्री संध्यादेवी के रूप में उत्पन्न हुई। उस सुंदरी स्त्री को देख कर दैत्य लोग उसी पर मुग्ध हो गए। ब्रह्मा रूपिणी स्त्री ने गंधर्व और अप्सराओं को उत्पन्न किया। फिर ब्रह्मा ने उस शरीर का भी त्याग किया। अब ब्रह्मा जी ने अपनी तंद्रा से भूत पिशाच उत्पन्न किए। अपनी तिरोधान शक्ति से ब्रह्मा जी ने सिद्ध और विद्याधरों की सृष्टि की। एक बार ब्रह्मा जी ने अपना प्रतिबिंब देखा। उन्हें अपना शरीर बहुत सुंदर लगा। उस प्रतिबिंब से उन्होंने किन्नर और पुरुष उत्पन्न किए। एक बार ब्रह्मा जी सृष्टि की वृद्धि न होने के कारण चिंतित थे। हाथ पैर फैला कर वे क्रोधवश लेट गए और उस शरीर का भी त्याग कर दिया। उससे जो बाल झड़ कर गिरे, वे अहि हुए तथा उनके हाथ पैर सिकोड़ कर चलने से क्रूर स्वभाव सर्प और नाग हुए।

मनुस्मृति और सृष्टि-रचना

मनुस्मृति में संसार की उत्पत्ति और रचना का वर्णन कुछ संक्षेप में और भागवत के वर्णन से थोड़ा भिन्न बतलाया गया है। इसमें सृष्टिरचना का जो वृतांत दिया गया है उसमें पौराणिक कल्पना की उतनी प्रमुखता नहीं है, जितनी भागवत में है। मनुस्मृति के वर्णन में एक दार्शनिक आधारभूमि पर ही सृष्टि के विकास का क्रम चलता है। मनुस्मृति का वर्णन संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार का है।[1]

---

1. मनुस्मृति—प्रथम अध्याय।

प्रलयकाल में यह संसार तम में लीन, अज्ञेय, चिह्नरहित और बिलकुल सुप्तावस्था में था। तब स्वयंभू स्वेच्छा से शरीर धारण करनेवाले जो अव्यक्त और अगोचर हैं, आकाशादि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए। उस परमात्मा ने अनेक प्रकार की प्रजा की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान कर सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया। फिर उसमें शक्तिरूपी बीज छोड़ा। यह बीज सहस्रों सूर्य के समान प्रकाशवाला, सुवर्ण के समान शुद्ध अंडा हो गया, उसमें संपूर्ण लोकों की सृष्टि करनेवाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए। जल को नारा कहते हैं क्योंकि वह नर (रूप परमात्मा) की संतान है। वह 'नारा' परमात्मा का प्रथम आश्रयस्थल है। अतः परमात्मा को 'नारायण' भी कहते हैं। वह ब्रह्मा उस अंडे में एक वर्ष (ब्रह्मा के वर्ष प्रमाण से ३६० ब्रह्म दिन अर्थात् एकतीस खर्व दस अर्व चालिस करोड़ मानुष वर्ष) तक निवास कर अपने ध्यान के द्वारा उस अंडे के दो टुकड़े कर दिए। उन्होंने उस अंडे के दोनों टुकड़ों से स्वर्ग तथा पृथ्वी की सृष्टि की और बीच में आकाश, आठ दिशाओं और समुद्र की सृष्टि की। ब्रह्मा ने परमात्मा से यह असत् आत्मवाले 'मन' की सृष्टि की। तथा मन से पहले अहम् (मैं) इस अभिमान से युक्त एवं अपने कार्य में समर्थ अहंकार की सृष्टि की। अहंकार से पहले आत्मोपकारक महत् तत्व (बुद्धि) की, तथा संपूर्ण त्रिगुण (सत्व, रजस् और तमस् से युक्त) विषयों की, और रूप रस आदि विषयों को ग्रहण करनेवाली नेत्रादि पाँच ज्ञानेंद्रियों तथा गुदा आदि पाँच कर्मेंद्रियों की तथा पाँच शब्द तन्मात्रादियों की सृष्टि की। अनंत शक्तिवाले उन छः (अहंकार, रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द) के सूक्ष्म अवयवों को उन्हीं के अपने अपने विकारों में मिलाकर सब प्राणियों की सृष्टि की। विनाशरहित उस ब्रह्म से महाशक्तियुक्त सात पुरुषों (महतत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा) की सूक्ष्म मूर्ति के अंशों से विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ। हिरण्यगर्भ उसी ब्रह्मा ने सबों के नाम और कर्म तथा लौकिक व्यवस्था को पहले वेद शब्दों से ही जानकर पृथक् किया। उस ब्रह्मा ने देव, कर्म, स्वभाव, प्राणी, अप्राणी, पत्थर आदि साधारण और सनातन यज्ञ की सृष्टि की। उस ब्रह्मा ने यज्ञों की सिद्धि के लिये अग्नि, वायु और सूर्य से नित्य ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद को क्रमशः प्रकट किया। फिर उस ब्रह्मा ने समय (निमेष, काष्ठ, कला, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि) उनके विभाग, नक्षत्र (अश्विनी, भरणी आदि २७ या २८) ग्रह (सूर्य, चंद्रादि), नदी, समुद्र, पर्वत, सम, विषम, तप, वाणी, रति, इच्छा और क्रोध की सृष्टि की। इसके उपरांत उन्होंने कर्मों की विवेचना के लिये धर्म और अधर्म को पृथक् पृथक् बतलाया तथा इन प्रजाओं को सुख तथा दुःख आदि (राग

द्वेष, शीत, उष्ण, भूख प्यास आदि) द्वंद्वों से संयुक्त किया। अर्थात् धर्म से सुख तथा अधर्म से दुःख होता है, यह संसार के लिये निश्चित किया। ब्रह्मा ने जिसको जिस कर्म में पहले लगाया वह जाति विशेष जैसे सिंह, अश्व, गो आदि बार बार जन्म लेती हुई, उसी कर्म को करने लगी। हिंसा, अहिंसा, मृदु, क्रूर धर्म, अधर्म आदि अनेक कर्मकोटियों में बँटा हुआ जीवसमुदाय अदृष्टवश उसी को बार बार करने लगा।

वे ब्रह्मा अपने शरीर के दो भाग करके आधे भाग से पुरुष और आधे भाग से स्त्री हो गए और उसी स्त्री में (मैथुन धर्म से) 'विराट्' संज्ञक पुरुष की सृष्टि की। उस विराट् पुरुष ने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया वे इस संसार के रचयिता मनु थे। फिर मनु ने अत्यंत कठिन तपश्चर्या करके दस प्रजापतियों की सृष्टि की। इनके नाम हैं 'मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद। 'महा तेजस्वी इन दश प्रजापतियों ने सात अन्य मनुओं (ब्रह्मा से पहले नहीं) उत्पन्न किए गए देवों, उनके वासस्थानों तथा अपरिमित तेजस्वी महर्षियों की सृष्टि की। सृष्टि के सभी प्रकार के जीव इन्होंने उत्पन्न किए। यक्ष, राक्षस, पिशाच, गंधर्व, अप्सराएँ, असुर, नाग, सर्प, बिजली, वज्र, बादल, रोहित, इंद्रधनुष, उल्का, धूमकेतु, तारा, किन्नर, वानर, व्याल, दोनों और ऊपर नीचे दाँत वाले पशु, कृमि, कीट, पतंग, जू, मक्खी, खटमल सब प्रकार के देश तथा मच्छर और अनेक प्रकार के जीवों, की सृष्टि हुई। पशु (गौ आदि) मृग (हरिण आदि,) व्याल (सिंह आदि हिंसक जीव) ऊपर नीचे दाँत वाले राक्षस, पिशाच और मनुष्य—ये सब जरायुज अर्थात् गर्भ से उत्पन्न होनेवाले जीव हैं।

दूसरे प्रकार के जीव अंडज कहे जाते हैं। इनमें पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुआ तथा इस प्रकार के जो स्थल पर तथा जलचर जीव हैं वे सब इस कोटि में हैं।

तीसरे प्रकार के जीव स्वेदज कहे जाते हैं। इनमें दंश, मच्छर, जूं, मक्खी, खटमल आदि इसी प्रकार के जीव हैं। स्वेदज अर्थात् गर्मी या पसीने से उत्पन्न हैं।

चौथे प्रकार के जीव उद्भिज कहे जाते हैं। बीज तथा शाखा से लगनेवाले लता तथा वृक्षादि स्थावर जीव उद्भिज हैं। फल के पकने पर जिनका पौधा नष्ट हो जाता है और जिनमें बहुत फल फूल लगते हैं (लौकी, सेम, काशीफल, धान,

चना आदि जीव) 'औषधि कहे जाते हैं। पूर्व जन्म के कर्मों के कारण अत्यधिक तमोगुण से युक्त ये वृक्षादि अंतश्चेतना वाले तथा सुख दुःख से युक्त हैं।

इस प्रकार ब्रह्मा की जाग्रत अवस्था में सृष्टि का जन्म और उसकी स्थिति रहती है। जब वे सोते हैं तो यह संसार नष्ट हो जाता है। स्वस्थ्य होकर उस ब्रह्म के सोने पर अपने कर्मों के द्वारा शरीर को प्राप्त करनेवाले देवधारी उससे निवृत्त हो जाते हैं। उस समय उनकी समस्त इंद्रियाँ चेष्टाशून्य हो जाती हैं।

ब्रह्मा के जागने की स्थिति को सर्ग और सोने की स्थिति को ही 'प्रलय' कहते हैं।

सांख्य दर्शन में तात्विक निरूपण

मनु और भागवत पुराण के वर्णन में बहुत कुछ सांख्य दर्शन का समावेश किया गया है, किंतु उन दोनों में ही पौराणिक वर्णन की विशेषता है। सांख्य दर्शन में समस्त सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या बिलकुल दार्शनिक आधार पर की गई है।

सांख्य दर्शन द्वैत मतावलंबी है। इसमें प्रकृति और पुरुष दोनों की ही प्रधानता स्वीकार की गई है। प्रकृति जड़ रूप है। पुरुष चेतन है। प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं। प्रकृति कार्य है। कार्य कारण में अव्यक्त रूप से पहले से ही वर्तमान रहता है। कार्य और कारण का यह भेद व्यावहारिक है, किंतु इनमें तात्विक अभेद है; सृष्टि के सभी पदार्थ, मन, शरीर, इंद्रिय, आदि सीमित होने के कारण कार्यरूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूल तत्व से अवश्य हुई होगी। सांख्य इन्हीं मूल तत्वों को ढूँढ़ता है। उसमें बड़ी सूक्ष्म मीमांसा के बाद २५ तत्व निर्धारित किए गए हैं। वे पचीस तत्व हैं—

प्रकृति—एक

विकृति में १६ तत्वों की संख्या है। इनमें पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्मेंद्रिय और एक मन और महाभूत। महाभूत के अंतर्गत पाँच तत्व हैं। पंच महाभूत होते हैं। इन पंच महाभूतों के नाम हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और प्रकाश।

प्रकृति विकृति के अंतर्गत महतत्व, अहंकार, तन्मात्रा (शब्द तद्‌मात्रा) स्पर्श, रूप, रस और गंध इस प्रकार ७ तत्व हैं।

न प्रकृति न विकृति के अंतर्गत एक पुरुष है।

इस प्रकार सांख्य इन २५ तत्वों को मानता है और इन्हीं से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है।

जगत् के समस्त पदार्थों में तीन विशेषताएँ अनिवार्य हैं—सुख, दुःख और मोह। इन्हीं को सगुण कहते हैं। यह गुण तीन प्रकार का होता है सत्व, रज और तम। सत्वगुण प्रकाशवान और प्रेम का प्रतीक है। रज दुःखात्मक और कार्य में प्रवर्तक होता है। तमोगुण मोहरूप भारी और रोकनेवाला होता है।[1] इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है[2]।

संसार के समस्त पदार्थों में तीनों गुण तथा चैतन्य का समावेश रहता है। तीनों गुण तो प्रकृति से उनमें आते हैं, किंतु चैतन्य पुरुष से आता है। स्पष्ट है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से पदार्थों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति क्रियाशील है, किंतु पुरुष निष्क्रिय और अकर्त्ता है। सांख्य पुरुष की कल्पना कई पुष्ट प्रमाणों और तर्कों पर आधारित है।

प्रकृति और पुरुष में प्रकृति तो जड़ात्मक है। अतः क्रियाशील होने पर भी अकेले वह पदार्थों को उत्पन्न नहीं कर सकती। न अकेला पुरुष ही सृष्टि की उत्पत्ति कर सकता है। वह केवल चैतन्य रूप है, किंतु तटस्थ और निष्क्रिय है। अतः दोनों का संयोग सृष्टिरचना के लिये अपेक्षित है। सांख्य में इन दोनों के संयोग और परस्परावलंबन का दृष्टांत बड़े सुंदर ढंग से दिया गया है। प्रकृति क्रियाशील होने पर जड़ है। वह अंधे की तरह है, जिसमें शक्ति और क्षमता है, किंतु मार्ग का ज्ञान न होने के कारण निर्दिष्ट स्थान तक नहीं जा सकता है। पुरुष चैतन्य है। मार्ग का ज्ञान उसे है, किंतु निष्क्रिय और कर्तृत्व से होने के कारण वह स्वयं आ जा नहीं सकता। उसकी तुलना लँगड़े व्यक्ति से की गई है। अतः दोनों का संयोग ही वह स्थिति लाता है, जिसमें सृष्टि की निष्पन्नता होती है।

पुरुष के संपर्क से जड़ प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है। इस क्षोभ का जो सर्वप्रथम् रूप है उसे महत् तत्व कहते हैं। यह तत्व संसार की रचना में अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। व्यक्ति में स्थित इस तत्व को ही 'बुद्धि' कहते हैं।

महतत्व से अहंकार पैदा होता है। इस अहंकार का अनुभव प्रत्येक प्राणी सहज ही करता रहता है। प्रत्येक पदार्थ, कार्य और परिस्थिति में जहाँ वह स्वयं

---

१ पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ३२८।

२ वही, पृ० ३२९।

से उसका संबंध स्थापित करता है वहीं अहंकार का तत्व है। यह अनुभव स्वतः चालित और बहुत कुछ निःप्रयास होता है। इस अहंकार के तीन प्रकार वैकृत (सात्विक) (तैजस) राजस तथा भूतादि (तामस) हैं। प्रथम तैजस अहंकार से ११ इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। तैजस और तामस अहंकार से पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। 'तन्मात्रा' में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के अत्यंत सूक्ष्म रूप हैं। इनके रूप का ज्ञान साधारण मनुष्यों को प्रायः नहीं होता। इन्हीं से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है।

सांख्य के द्वारा प्रतिपादित सृष्टिप्रक्रिया में ईश्वर के लिये स्थान नहीं है। सांख्य के आचार्यों तथा परवर्ती टीकाकारों ने ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना है। उन्होंने इस संबंध में कई तर्क भी दिए हैं। ईश्वर को पूर्णकाम कहा गया है और साथ ही किसी भी प्रकार के कार्य का वह कर्त्ता नहीं है। अतः उसकी सृष्टि की इच्छा से प्रेरित हो इसकी रचना में प्रवृत्त होना तर्कसंगत नहीं है। यह भी कहा जाता है कि सृष्टि के जीवों के दुःख निवारणार्थ करुणा से प्रेरित हो उसने सृष्टिरचना का कार्य किया। किंतु यह तर्क भी निराधार है, क्योंकि सृष्टिरचना के बाद ही दुःख का अस्तित्व हुआ। उसके पहले न तो प्राणी ही थे और उनकी दुःख की अनुभूति ही। अतः ईश्वर को सृष्टिरचना की प्रेरक शक्ति मानना ठीक नहीं है। कुछ बाद के टीकाकारों ने सेश्वर सांख्य की भी कल्पना की है उनमें विज्ञान भिक्षु प्रधान हैं। उन्होंने तर्क किया है कि ईश्वर भले ही प्रत्यक्ष कर्त्ता न हो, किंतु वह सृष्टिव्यापार का साक्षी है और इस रूप में ही वह सृष्टिरचना के कार्य को गतिशील बनाता है। दृष्टांतस्वरूप लोहा और चुंबक का उदाहरण उन्होंने दिया है। जैसे चुंबक के सान्निध्य मात्र से ही लोहा खिंच जाता है, उसमें गति पैदा हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वर की संनिधि मात्र से प्रकृतिरचना कार्य में अग्रसर होती है।

सांख्य में पुनर्जन्म तथा प्रारब्ध कर्म के सिद्धांत को माना गया है। किंतु पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने पर केवल आत्मा शेष रह जाता है, जो सभी प्रकार के कार्यों से निर्लिप्त होता है। अतः पिछले जीवन का संस्कार जिसका संबंध शक्ति और उसकी इंद्रियों से होता है, शरीर के नष्ट होने पर कैसे दूसरे जीवन को प्रभावित करता है? इस समस्या के समाधान के लिये सांख्य में लिंगशरीर की कल्पना की गई है, जिस पर पिछले जीवन के बुरे भले सभी कर्मों की छाप अंकित होती है। यही लिंगशरीर आत्मा के साथ प्रत्येक पार्थिव शरीर में बना रहता है और जीव को उसके कर्मों के अनुसार प्रभावित करता रहता है।

सृष्टिप्रक्रिया संबंधी सांख्य दर्शन की उपर्युक्त व्याख्या थोड़े बहुत अंश में प्राचीन सभी ग्रंथकारों ने स्वीकार किया है। सांख्य दर्शन का क्रमबद्ध और लिपिबद्ध प्रणयन तो कपिल मुनि ने किया, किंतु उनके पूर्व भी सांख्य दर्शन था और इसका उल्लेख ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों में किया गया है। वेद, शास्त्र और पुराणों की परंपरा में ईश्वर और ब्रह्म को केंद्र बनाकर समस्त सृष्टि और जीव, प्रकृति आदि के कार्यों की व्याख्या की गई है, अतः उन प्राचीन ग्रंथों में ईश्वर को सृष्टि का रचयिता मानते हुए, सांख्य के २४ या २५ तत्वों के आधार पर सृष्टिरचना का वर्णन किया गया है। भागवत पुराण, वायु पुराण, विष्णु पुराण आदि में एक ओर सांख्य की तात्विक व्याख्या और दूसरी ओर महाप्रलय और उसके उपरांत भगवान द्वारा सृष्टिरचना का उपक्रम दोनों को लेकर दर्शन और पुराण कल्पना का योग मिलता है। धीरे धीरे समय जैसे जैसे बीतता गया और विचारकों और धर्म प्रचारकों में स्वतंत्र चिंतन का जैसे ह्रास होता गया, उसी तरह तात्विक और दार्शनिक विवेचन का पक्ष बराबर दुर्बल होता गया और केवल कल्पना की प्रचुरता और देवी देवताओं के अनेक प्रकार के चमत्कारिक करिश्मे—इन्हीं अंशों को लेकर सृष्टिरचना का वर्णन किया जाने लगा।

सृष्टिप्रक्रिया का जो दार्शनिक और पौराणिक रूप प्राचीन हिंदू ग्रंथों में मिलता है और कबीर पंथ में प्रचलित जो तत्संबंधी विश्वास कबीर मंसूर में दिया गया है, उससे तो कुछ यही निष्कर्ष निकलता है कि कबीर पंथ धीरे धीरे पुराण युगीन कल्पनात्मक और पौराणिक रूप का ग्रहण कर रहा था। कबीरदास जी के जीवन का एकमात्र उद्देश्य रूढ़ियों और अंधविश्वासों का खंडन करना था और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि और विवेक को सचेत करने का इन्होंने बराबर उपदेश दिया था, किंतु दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके अनुयायी और उत्तराधिकारियों ने उनके और उनके चलाए मत को चतुर्दिक उसी प्रकार के काल्पनिक और अंध श्रद्धा से भरे हुए विश्वासों का आवरण डाल दिया कि धर्म का मुख्य रूप प्रायः लुप्त सा ही हो गया। कबीर पंथ में सृष्टिरचना की विचारणा पर जो भी प्रभाव पड़ा, वह हिंदू प्रभाव ही था। कबीर की मृत्यु के पश्चात् हिंदू प्रभाव अधिकाधिक उनके संप्रदाय पर अपना अधिकार जमाता गया। वास्तव में कबीर पंथ को मुसलमानों ने तो बहुत कम ग्रहण किया और हिंदुओं में भी अधिकांश निम्न वर्ग के लोगों ने इसे स्वीकार किया। जिन मुसलमानों ने इसे

कबीर पंथ और हिंदू परंपरा में परस्परावलंबन

स्वीकार किया, उनमें से अधिकांश हिंदू धर्म छोड़ कर कुछ ही समय पहले मुसलिम संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। इन लोगों के संस्कार अब भी हिंदू थे भले ही मुसलमानों की शासनसत्ता के प्रभाव से उन्होंने धर्म परिवर्तन कर लिया था। अतः कबीर पंथियों का बहुलांश हिंदू अथवा उससे प्रभावित वर्ग था। इन लोगों ने कबीर पंथ को भी बिलकुल हिंदू धर्म की तरह अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण और दैवी शक्ति से संपृक्त घटनासंकुल संप्रदाय बना दिया। जिस अवतारवाद का खंडन कबीरदास ने पदे पदे किया उसी कबीर को स्वयं अवतार रूप में उनके शिष्यों और उनके पंथ के ग्रंथों ने लिखा। इसी भावना की पूरी छाप सृष्टिरचना की विचारधारा पर पड़ी है।

सृष्टिरचना का जो भी वर्णन विभिन्न धार्मिक ग्रंथों में मिलता है उन सबमें एक बात पाई जाती है, और वह है जलप्लावन से हुई महाप्रलय की। सृष्टिरचना के पूर्व समस्त पृथ्वी पानी से भरी हुई थी, इसे प्राचीन ग्रंथों ने किसी न किसी रूप में अवश्य लिखा है। संभवतः यह निर्विवाद है कि आदि काल में कोई महा जलप्लावन हुआ होगा और उसके बाद ही सृष्टिरचना का कार्य चला होगा। कुछ लोगों ने तो हिंदू पुराणों में वर्णित अवतारवाद की सारी कल्पना को ही सृष्टि के विकास क्रम से वैज्ञानिक रूप से संबद्ध दिखलाया है। इन अवतारों के क्रमोत्तर विकास के साथ सृष्टि का विकास परोक्ष रूप से बतलाया गया है। हिंदू पुराणों में भगवान का प्रथम अवतार शंखावतार है। तत्पश्चात् मत्स्य, कच्छप और बाराह अवतार हैं। सृष्टि के आरंभ में चतुर्दिक जल ही जल था। अतः उससे शंख और घोंघा जैसे जीवों की प्रथम उत्पत्ति हुई। उसके बाद जल के जीव की उत्पत्ति ही संभव थी। अतः भगवान का दूसरा अवतार मत्स्य के रूप में हुआ। मत्स्य के बाद उसका क्रमोत्तर विकास कच्छप है जो जल में मुख्यतः तो रहता ही है, किंतु स्थल पर भी रह सकता है। कच्छप के बाद बाराह अवतार हुआ कहा जाता है। बाराह की विशेषता होती है, कि वह मुख्य रूप से स्थल पर रहता है किंतु जल के भीतर भी रह सकता है। इस प्रकार शनैः शनैः जलीय जीवों के बाद जल-स्थल के जीव और फिर स्थल के जीवों का विकास हुआ। मनुष्य रूप में सर्वप्रथम अवतार वामन का हुआ कहा जाता है। यह वामन अवतार भी लाक्षणिक है। वामन या बौना अर्द्धविकसित मानव का प्रतीक है। स्थल का प्रथम मानव शरीर और बुद्धि से निश्चित रूप से अर्द्धविकसित रहा होगा। इसके पश्चात् फिर दूसरे अवतारों का क्रम चलता है। कहा नहीं जा सकता, हिंदू पुराणकारों ने कहाँ तक अवतारों की कल्पना करते हुए, उनका सृष्टिविकास के साथ परोक्ष संबंध स्थापित किया होगा।

कबीर पंथियों ने तो हिंदू पुराणों से चमत्कारपूर्ण कल्पना की प्रेरणा अवश्य ली, किंतु उनकी कल्पनाएँ सर्वथा अपनी हैं। कहीं कहीं पर हिंदू प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर पंथियों ने अपनी पुराणकथाओं को बिलकुल हिंदू ढांचे पर गढ़ा, किंतु उसके स्पष्ट प्रभाव और निष्कर्षों से बचते हुए उन्होंने ऐसा करने की चेष्टा की। सृष्टिरचना के संबंध में सत्पुरुष ने जिन सहज, अकूर, इच्छा आदि छः पुत्रों की रचना की, वे पुत्र ब्रह्मा के प्रथम चार पुत्र सनक, सनंदन आदि से मिलते प्रतीत होते हैं। प्रथम सृष्टि के ये पुत्र कबीर मंसूर और भागवत पुराण दोनों ही के अनुसार निवृत्ति परायण थे और इनके रचयिताओं को सृष्टिरचना से इन्हें विरत देखकर असंतोष और निराशा हुई थी।

कालपुरुष की उत्पत्ति एक अंडे से कही गई है। उसी प्रकार पुराणों से पहले के आरण्यक आदि दूसरे ग्रंथों से ब्रह्मा की उत्पत्ति एक सोने के अंडे से हुई बतलाई गई है और उनका नाम भी हिरण्यमय कोष दिया गया है। दोनों की कल्पना में यहाँ भी कुछ साम्य दिखाई पड़ता है। कूर्म जी तथा हिंदू पुराण के कच्छपावतार में केवल नाम और जाति का साम्य है। अन्यथा इनके कार्य और स्वभाव में कोई समानता नहीं है। कबीर पंथ में कूर्म जी की कल्पना संभवतः बिलकुल नए रूप में की गई है। इसी प्रकार हिंदुओं के देवता ब्रह्मा, विष्णु और महेश कबीर पंथ में भी हैं, किंतु उनका पूरा स्वरूप ही बदल गया है। सृष्टिरचना का सारा कार्य हिंदू पुराणों के अनुसार ब्रह्मा ने किया है, किंतु कबीर पंथ में काल पुरुष या निरंजन का यह कार्य संपन्न करता है। कबीर पंथ के ब्रह्मा सृष्टिकार्य में कोई विशेष योग देते हुए नहीं दिखाई पड़ते हैं।

कबीर के विचार और परवर्ती पौराणिक कल्पना

कबीर पंथ में कबीरदास जी के बाद कोई श्रेष्ठ विचारक और व्यक्तित्वसंपन्न व्यक्ति नहीं हुआ। अन्य संत कवियों ने केवल कबीरदास जी द्वारा कही हुई बातों को ही दूसरे शब्दों में उलट फेर कर कहा। पांडित्य और अध्ययन से उपार्जित ज्ञान तो इस वर्ग के लोगों में कभी था ही नहीं। प्रवर्तकों ने इस प्रकार के ज्ञान के प्रति अपने संदेह और विरोध को बहुत स्पष्टता से व्यक्त किया है। अतः सृष्टिरचना का जो वर्णन कबीर पंथ या संतमार्ग में उपलब्ध है, वह केवल अंध विश्वास और कल्पना पर आधारित है। हिंदुओं के पुराण ग्रंथों में कल्पना का जो वैभव एक गंभीर दार्शनिक परिवेश में उपस्थित किया गया है, उसका सर्वथा अभाव कबीर पंथी ग्रंथों में है। यह दुर्भाग्य की बात रही

कि कबीरदास ने जिन आदर्शों को लेकर हिंदू मुसलमान धर्म के विपरीत अपनी नई मान्यताओं की स्थापना की, उनके अनुयाइयों ने ही, उनके मरने के कुछ दिन ही बाद उन्हें उन्हीं बुराइयों और दोषों से ग्रस्त कर दिया, जिनका कबीरदास जी ने जीवनपर्यंत घोर विरोध किया था। वस्तुस्थिति यह है कि समस्त हिंदू समाज परंपरागत संस्कारों में इस प्रकार आपादमस्तक मग्न था कि उनके प्रत्येक रोमकूप तक में ये विश्वास और संस्कार घुस गए थे। उन्हीं संस्कारों में और विश्वासों के ही आधार पर उस समय का प्रत्येक संप्रदाय अपनी सफलता और सिद्धि आँकता था। साधारण जनता तो दर्शन और चिंतन के सूक्ष्म और गहन तत्वों को ग्रहण नहीं कर सकती थी। अतः उसके लिये तो कुछ ऐसे स्थूल विश्वास, प्रक्रिया और आचार की सरणि निर्धारित करनी पड़ती थी, जो उसके लिये सहज ग्राह्य हो सके। हिंदू समाज और धर्म का इसी कारण दार्शनिक रूप और व्यवहृत धर्म संस्कारों का रूप इतना अधिक एक दूसरे से दूर है। कबीर पंथ और अन्य निर्गुण पंथों में भी यह 'कथनी और करनी' का स्पष्ट विभेद परवर्ती प्रचारकों और ग्रंथकारों ने खड़ा कर दिया।

अष्टम अध्याय

निर्गुण मत का देवतामंडल

८

निर्गुण मत का देवतामंडल

निर्गुण मत में तो वैसे किसी देवता आदि का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि कबीर ने केवल एक निर्गुण ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार किया है किंतु बाद में जब कबीर पंथ में अनेक पौराणिक ग्रंथों की रचना हुई तो जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये कबीर पंथ के प्रचारकों और उन्नायकों ने कई नये देवताओं की कल्पना की। इनमें अधिकांश तो हिंदू समाज में प्रचलित पुराने ही देवता थे किंतु निरंजन जैसे दो एक सर्वथा नये देवता की भी कल्पना की गई। पुराने देवताओं के भी संबंध में उन्होंने कुछ इस प्रकार की कथाओं की रचना की जो हिंदू परंपरा में प्रचलित और मान्य रूप से उन्हें बहुत कुछ भिन्न रूप में उपस्थित करते हैं। ऐसे देवताओं में सबसे प्रमुख स्थान निरंजन का है जिसकी कल्पना सर्वथा अभिनव है।

निर्गुण मत का देवतामंडल

कबीरदास की रचनाओं में और उनके तथा दूसरे संतों के पंथ में निरंजन का उल्लेख बराबर मिलता है। निश्चित रूप से निरंजन के द्वारा एक ऐसी उच्च सत्ता की ओर संकेत किया गया है जिसकी अनुभूति और जानकारी उन लोगों ने परम आवश्यक माना है[1]। बाद में चलकर निरंजन का रूप कबीर पंथ में कुछ ऐसा प्रवर्तित हुआ कि वह परमदैवत और परमाराध्य के स्थान पर मायामय और अनेक

निरंजन

---

१. हिरदै सींगी ग्यांन गुणि बांधौ, खोजि निरंजन साचा ॥
कहै कबीर निरंजन की गति, जुगति बिनां प्यंड काचा ॥ २०८ ॥
—डा० श्यामसुंदरदास : कबीर ग्रंथावली, पंचम संस्करण, पृ० १५६।

प्रकार की छल प्रपंच की शक्तियों का प्रतीक बन गया। निरंजन शब्द और उससे व्यक्त होनेवाले सर्वातीत रूप में जो इतना विपर्यय हुआ है उसको लेकर विद्वानों ने बहुत खोज की है और तरह तरह के अनुमान लगाए हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी कबीर नामक पुस्तक में 'निरंजन कौन है?' शीर्षक निबंध में संत साधना और उपासना के इस रहस्यमय देवता और उसके परिवर्तित होनेवाले रूप की ओर जिज्ञासुओं और अनुसंधित्सुओं का ध्यान आकृष्ट किया।

निरंजन की जैसी चर्चा संत कवियों की रचनाओं में हुई है और उसका जो स्वरूप पंथ में प्रचलित है उसमें स्पष्टतः दो रूप मिलते हैं। कबीर और दूसरे संत कवियों की रचनाओं में निरंजन का जो उल्लेख है उसका स्थान अद्वैतवादियों के ब्रह्म और साधकों के निर्गुण सगुण से अतीत परमदैवत के समकक्ष है। किंतु पंथ में निरंजन का जो रूप वर्णित हुआ है उसमें उसे एक ऐसी दुष्ट शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है जो अपनी तपस्या के बल पर कूर्म जी से सृष्टि की सामग्री छीन लाता है। वह अत्यंत उद्दंड, अविनयी, अभिमानी तथा भवजाल और प्रवंचना का द्योतक है। स्पष्ट है कि पंथ में बाद में चलकर जो निरंजन नाम और उसके रूप में जो विकृति हुई उसके कुछ न कुछ कारण अवश्य रहे होंगे।

निरंजन के स्वरूप को समझने के लिये हमें उसके आदि रूप को देखना होगा जो कबीर आदि संत कवियों को प्राप्त हुआ था। कबीर ने अपने धार्मिक सांप्रदायिक और दार्शनिक विचारों का जो उल्लेख अपनी वाणी में किया है उससे एक ओर उनकी मौलिकता का हमें अनुभव होता है और दूसरी ओर उन प्रभावों और स्रोतों की ओर भी हमारी दृष्टि जाती है जहाँ से चयन के द्वारा उन्होंने अपने विचारों को स्थिर किया है। निरंजन के देवत्व पर भी हमें इसी दृष्टि से विचार करना है।

ऐसा प्रतीत होता है, निरंजन को पहले की साधनाओं में बहुत उच्च स्थान प्राप्त था। उनका उल्लेख वेद शास्त्रोक्त ग्रंथों में तो किसी बड़े देवता के रूप में शायद ही कहीं मिलता हो किंतु मध्यकाल की साधना के विविध संप्रदाय और पंथों में निरंजन का नाम प्रायः सभी ग्रंथों में आया है। साधना के सभी ग्रंथों में निरंजन का उल्लेख, परम तत्व के रूप में किया गया है। शिवस्वरोदय में कहा गया है कि पंच तत्वों से सृष्टि होती है और तत्व में ही तत्व लीन होता है। ये पाँच तत्व ही परम तत्व हैं। निरंजन इन तत्वों से भी अतीत हैं—

पंच तत्वाद्भवेत्सृष्टिस्तत्त्वे तत्त्वं प्रलीयते ।
पंच तत्वं परं तत्वं तत्वातीतं निरंजनम् ॥
—शिवस्वरोदय १४१

उसी ग्रंथ में निरंजन को महेश्वर कहा गया है और उन्हीं से आकाश और आकाश से वायु आदि तत्व उद्भुत कहे गए हैं।[1]

हठयोग प्रदीपिका में खेचरी मुद्रा में शून्य में स्थित को निरंजन कहा गया है[2]। अवधूत गीता में निरंजन का कई बार उल्लेख है। इसमें भी निरंजन को बराबर सर्वोपरि सत्ता के रूप में चित्रित किया गया है—

पंचभूतात्मकं विश्वं मरीचिजल सन्निभम् ।
कस्याप्यहीं नमस्कुर्यामहमेको निरंजनः ॥ ३ ॥
—प्रथम अध्याय

× × ×

न साञ्जनं चैव निरंजनं वा न चान्तरं वापि निरंतरं वा ।
अन्तर्विभिन्नं नहि मे विभाति स्वरूपनिर्वाण मनामयो हम् ॥ ४ ॥
—चतुर्थ अध्याय

शिवसंहिता में बताया गया है कि मनुष्य जब अपने सभी प्रकार के कर्मों से मुक्त हो जाता है तब उसे अखंड ज्ञान रूपी निरंजन का भान होता है—

कर्मजन्यं विश्वमिदं नत्वकर्मणि वेदना ।
निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः ।
तदा विजयते खण्डज्ञान रूपी निरंजनः ॥
—प्रथम पटल ७३

---

1. ईश्वर उवाच—
निरंजनो निराकार एकोदेवो महेश्वरः ।
तस्मादाकाशमुत्पन्नमाकाशाद्वायु संभवः ॥ ६ ॥
—शिव स्वरोदय

2. सुषिरं ज्ञान जनकं पंच स्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥
—तृतीयोपदेशः हठयोग प्रदीपिका

इसी ग्रंथ में एक दूसरे स्थल पर बिलकुल इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। जिसने चित्तवृत्तियों को अपने में सर्वथा लीन कर रखा है वह निश्चित रूप से योगी होता है और वह अखंड ज्ञान रूपी निरंजन को जानता है[1]।

विंदुयोग नाम का एक छोटा सा ग्रंथ है। यह भी योगसाधना का ग्रंथ है। इसमें भी निरंजन की स्थिति और उसकी विशेषता का वर्णन किया गया है। नवें चक्र का वर्णन है। महाशून्य चक्र का वर्णन किया है। उसी को महासिद्ध चक्र भी कहते हैं। उसी का एक अन्य नाम पूर्ण सिद्धगिरि पीठ है। उस महाशून्य चक्र में ऊर्ध्व मुखवाला रक्तवर्ण का अत्यंत शोभापूर्ण, सभी कल्याणों का प्रदाता एक सहस्रदल कमल है। उसी कमल में एक त्रिकोण आकार की एक कर्णिका है। उसी कर्णिका के मध्य में सतरह कला वाला निरंजन स्थित है। उसमें करोड़ों सूर्य के समान प्रभा है। किंतु उसमें उष्णता नहीं है। करोड़ों चंद्रमा के सदृश उसकी प्रभा शीतल है किंतु उसमें शीत नहीं है। उस कला का ध्यान करने वाले योगी को मन में किसी प्रकार का दुःख नहीं रह जाता है। वह अनंत परमानंद का स्थान है[2]। यही नहीं, शक्ति की उपासना में भी निरंजन उनके अनेक नामों में 'निरंजनी' या निरंजना के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जैसे देवमंडल में निरंजन सर्वोपरि देवता के रूप में है उसी प्रकार शक्ति उपासना में सबसे बड़ी आदि शक्ति के रूप में आया है। (अनंतानंत महिमा नित्य तृप्ता निरंजनी— वाला सहस्र नाम ६० और ललिता सहस्रनाम के श्लोक ४४ में उल्लेख है—शांकरी श्रीकरी साध्वी शरच्चंदनिभनना। शान्तोदरी शान्तिमति निराधारा निरंजना।) इसी प्रकार निरंजन

---

१. चित्त वृत्तिर्यदालीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम्।
तदा विज्ञायते खण्ड ज्ञान रूपी निरंजनः॥

२. इदानीं नवम चक्रस्य भेदाः कथ्यंते। तस्य महाशून्यचक्रमिति संज्ञा। तदुपर्यपरं किमपि नास्ति। तदेव महासिद्धचक्रं कथ्यते। तस्य पूर्णगिरिपीठ एतादृशं नाम। तस्य महाशून्यचक्रस्यमध्ये ऊर्ध्वमुखमति रक्तवर्णं सकल शोभास्पद-मनेक कल्याणपूर्णं सहस्रदलमेकं वर्तते। यस्य परिमलो मनसो वचसो न गोचरः। तस्य कमलस्यमध्ये त्रिकोण रूपैका कर्णिका वर्तते। तत् कर्णिका मध्ये सप्तदशी निरंजन रूपा कला वर्तते। कोटि सूर्यसमप्रभं कलायास्तेजो वर्तते। परमुद्भवो नास्ति। कोटि चंद्रसमप्रभा शीतलं परं शीतभावो नास्ति अस्याः ध्यान योगात्साधकस्य मनसि दुःखं न भवति। तदुपरि अनन्त परमा-नंदस्य स्थानम्। —विंदुयोग (खेमराज श्रीकृष्णदास) पृ० १४-१५।

शब्द पाशुपत संप्रदाय में भी प्रयुक्त हुआ है। इस संप्रदाय में जीव को दो प्रकार का माना गया है—सांजन और निरंजन। शरीरेंद्रियधारी जीव सांजन और इनसे रहित जीव निरंजन कहा गया है[1]।

निरंजन संबंधी ऊपर के सभी उल्लेखों का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि निरंजन का वर्णन मुख्य रूप से तीन रूपों में किया है। शिवस्वरोदय अवधूत गीता आदि में निरंजन सभी प्रकार के तत्व, शक्ति, गुण तथा अगुण सभी से अतीत है। वही सर्वोपरि सत्ता है जो समस्त गोचर तथा अगोर विश्व का उद्भव विंदु है।

विंदुयोग, हठयोग प्रदीपिका तथा शिवसंहिता आदि साधनामूलक ग्रंथों में प्रयुक्त निरंजन से ऐसा प्रतीत होता है कि योगी अपनी साधना के चरम उत्कर्ष पर जिस अखंड और अनुपम ज्ञान और प्रकाश का अनुभव करता है वही निरंजन है।

वाला सहस्रनाम, ललिता सहस्रनाम तथा शिवस्वरोदय में आए हुए वर्णनों से प्रतीत होता है कि निरंजन धीरे धीरे एक ऐसे विशिष्ट प्रकार की देवमूलक कल्पना (परसोनेल गाड) का रूप धारण कर रहा था जो सभी प्रकार के मल और दोष से रहित है। जो अलक्ष्य और अगोचर होते हुए भी चेतन रूप होकर सभी सत्ता का नियंत्रण और संचालन करता है। जीव अथवा आत्मा को भी निरंजन की संज्ञा और विशेषण जहाँ दिया गया है उसमें भी शुद्ध, पवित्र, निर्मल और अगोचर चेतन शक्ति की ओर ही संकेत किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि निरंजन की जो भी कल्पना हुई है उसमें उन्हे सर्वोच्च स्थान ही मिला है। मध्यकाल में जब भक्तिवाद का प्रचार बढ़ा और निर्गुण संतों ने भी भक्ति को अपनाया तो उन्होंने निर्गुण और साधना पक्ष से निरंजन को भी ग्रहण किया। उनका यह निरंजन न्यूनाधिक रूप में अखंड ज्ञानरूपी शुद्ध तत्वातीत निर्गुण सगुण से परे भी रहा और एक विशिष्ट परम दैवत रूपवाला भी रहा। भक्ति संप्रदाय में चाहे वह निर्गुण हो या सगुण—किसी न किसी रूप में एक परमब्रह्म की कल्पना करनी ही पड़ेगी। कबीर आदि संत कवियों ने योग और साधना के क्षेत्र से निर्गुण और अलख निरंजन को तो लिया किंतु वह केवल ब्रह्मरंध्र में अगणित

---

१. तत्र सांजनः शरीरेन्द्रिय सम्बन्ध निरन्जनस्तु तद्रहितः।
—(सर्वदर्शन संग्रह के अंतर्गत पाशुपत संप्रदाय की ९वीं व्याख्या)

सूर्य चंद्र की ज्योति से ज्योतित निर्विकल्प सत्ता ही नहीं रह गया वरन् वह स्वयं निरंजन रह कर उसने अंजन के रूप में सकल सृष्टि, देवमंडल, वेद शास्त्र, पुराण आदि का विस्तार किया है। उसका अंजन ऐसा है कि सब उस अंजन को ही प्रत्यक्ष देखते हैं। अंजन से उत्पन्न प्राणी उसी अंजनरूप देवताओं की सेवा करते हैं। अतः कोई बिरले व्यक्ति ही इस अंजन के जाल से मुक्त होकर उस निरंजन के रूप और अनुभूति को प्राप्त कर पाते हैं—

राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
अंजन उतपति वो उंकार, अंजन मोह्या सब संसार।
अंजन ब्रह्मा संकर इंद्, अंजन गोपि संगि गोव्यंद॥
अंजन बाँणी अंजन वेद, अंजन कीया नांना भेद।
अंजन विद्या पाठ पुरांन, अंजन फोकट कथहि गियांन।
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै।
अंजन कहौं कहाँ लग केता, दांन पुंनि तप तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई बिरला जागै अंजन छाड़ि निरंजन लागै॥ ३३६॥[1]

कबीर और दूसरे संत कवियों ने निरंजन का प्रायः उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है। गुण, अगुण अथवा गुणागुण अतीत निर्विशेष रूप में थोड़ा बहुत अंतर भले ही दीख पड़े किंतु सभी ने निरंजन का उल्लेख श्रद्धा और आदर के साथ परम दैवत के रूप में किया है। कबीरदास भी निरंजन को राम के समकक्ष मानते हैं। उन्हीं का नाम जपने का उपदेश देते हुए तीर्थ व्रतादि को व्यर्थ बतलाते हैं—

नाम निरंजन नीका साधो नाम निरंजन नीका।
तीरथ बरत थोथरे लागत, जप तप संजम फीका॥[2]

इस प्रकार पूरी संतबानी में हम देखते हैं कि निरंजन का उल्लेख और वर्णन परब्रह्म के रूप में हुआ है। कबीरदास की रचनाओं में कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं जहाँ निरंजन को कुछ निम्नतर स्थान दिया है और कुछ ऐसी भी पंक्तियाँ हैं जिनसे प्रतीत होता है कि निरंजन ही का फैलाया हुआ सारा भवजाल है। किंतु

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० २०१-२।
१. गरीबदास की बानी, पृ० १५१-५२।

ऐसे प्रसंगों में केवल संकेतमात्र ही से ऐसा भास होता है। कुछ स्पष्ट विचारणा इस तरह की नहीं है।[1] बीजक में कबीरदास ने यह भी कहा है—

> अछय पुरुष एक विरिछ है, निरंजन बाकी डार।
> तिरदेवा साखा भए, पात भया संसार॥

इसमें निरंजन का वह स्थान नहीं है जो नाथपंथ में अथवा अन्य साधना की परंपराओं में चित्रित किया गया है। अक्षय पुरुष के बाद निरंजन की स्थिति का स्पष्ट संकेत है। ऐसा प्रतीत होता है निरंजन की मान्यता योग, शैव और शक्ति परंपराओं में सर्वोच्च रहने के कारण कबीर पर कुछ उसकी प्रतिक्रिया रही है। कबीर का झुकाव अनुदिन उपासना और भक्ति भावना की ओर हो रहा था। इस कारण शैव, शाक्त और कोरे हठयोग से संबंधित निरंजन के प्रति बाद में उनके उत्साह और उछ्वास में कमी आ गई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। कबीर का यह सूक्ष्म प्रच्छन्न उदासीनता का भाव जब पंथ के पुराण में लिखा गया तो उनमें अनेक कथा कहानियों और व्याख्याओं के साथ प्रस्फुटित हुआ। सृष्टि-प्रक्रिया के प्रसंग में हमने देखा है निरंजन के किस रूप का चित्रण वहाँ किया गया है।

निरंजन के प्रकट होने और उसके तप तथा कूर्म से सृष्टि की सामग्री के लिये युद्ध का वर्णन पहले हो चुका है। निरंजन को सत्यपुरुष ने तीन लोकों का राज्य दिया। वह स्वयं झांझरी दीप में रहता हुआ इन तीनों लोकों पर अपना राज्य किया करता है। निरंजन और आभा के संयोग से ब्रह्मा, विष्णु और महेश उत्पन्न हुए।

कबीर पंथ में सृष्टि तीन प्रकार की मानी गई है ब्रह्मसृष्टि, जीवसृष्टि और मायासृष्टि।[2] निरंजन ही मायासृष्टि का स्रष्टा है। ब्रह्म और जीव सृष्टि तो कभी नष्ट नहीं होती किंतु मायासृष्टि नश्वर है। काल पुरुष मायासृष्टि की रचना इंद्रजाल की तरह करता है और इच्छानुकूल समेट लेता है। निरंजन ने इस सृष्टि-रचना में सर्वप्रथम कर्म के जाल को बनाया। यह कर्म दो प्रकार का होता है शुभ और अशुभ। उसने नरक और स्वर्ग की रचना की और वह स्वयं अपने पुत्र विष्णु

---

१. मैं सिरजौं मैं मारहूँ, मैं जारौं मैं खाँव।
जल थल में मैं रमि रह्यौ, मोर निरंजन नाँव॥

२. कबीर मंसूर० पृ० ६५।

के साथ इस सृष्टि पर राज्य करने लगा। निरंजन निर्गुण रूप है और विष्णु सगुण रूप।

निरंजन के तीनों पुत्र जब अपने अपने लोक का राज्य पाकर निश्चिंत हो गए तो उन्होंने माँ बाप को विस्मृत कर दिया और स्वयं अपनी पूजा का प्रचार करना शुरू किया। किंतु बाद में निरंजन, श्राद्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिव सबकी उपासना प्रचलित हुई। निरंजन तथा अद्या ने सत्यपुरुष का नाम समस्त संसार से छिपा दिया और समस्त द्वारों को बंद कर दिया। यह धर्मराज निरंजन नित्यप्रति एक लाख जीव को तप्त शिला पर भून भूनकर खा जाया करता है। कहा जाता है कि आकाश में एक तप्त शिला है जिन पर काल रूप जीवों को भूनता है। जब आर्त होकर जीवों ने सत्यपुरुष से प्रार्थना की तो उन्होंने ज्ञानी जी को उनके उद्धार के लिये भेजा। ज्ञानी जी ने जीवों को आश्वस्त किया और उन्हें सत्यपुरुष की भक्ति करने का उपदेश दिया। ज्ञानी जी फिर सत्यलोक लौट गए। उनके जाने के बाद निरंजन ने नाना प्रकार के पंथ पृथ्वी पर जीवों को फँसाने के लिये प्रचारित किया। उपर्युक्त पाँच देवताओं में निरंजन सबसे बड़ा है। वही तीनों लोकों का रचयिता और स्वामी है। वह सहस्रदल कमल में अपनी शक्तिसहित रहता है। वह तीनों लोकों का राजा तथा सृष्टिकार है।

इस निरंजन का बार बार ज्ञानी जी से संघर्ष होता है। निरंजन अवसर मिलते ही सृष्टि के जीवों को अनेक कर्म के बंधन में बाँधकर उन्हें आवागमन से मुक्त नहीं होने देता है। एक बार तो ज्ञानी जी ने निरंजन को मारकर खदेड़ा तो वह पाताल लोक में कूर्म की शरण में गया। उनसे रक्षा की प्रार्थना की। कूर्म जी के यहाँ पीछा करते हुए ज्ञानी जी भी पहुँचे। निरंजन ने फरियाद की कि सत्तर युग एक पैर पर खड़े होकर प्रार्थना करने से तो सत्यपुरुष ने मुझे त्रैलोक्य का राज्य दिया। आज किस आधार पर ज्ञानी जी मुझे मारकर भगाना चाहते हैं। कूर्म ने दोनों के बीच मध्यस्थता की। उन्होंने निबटारा किया कि जो कोई ज्ञानी जी का पान पाए उसके पास निरंजन नहीं जायगा। इसके अतिरिक्त अन्य जीवों पर वह आधिपत्य रखे। इसी समय निरंजन ने ज्ञानी जी (कबीर) से यह वरदान भी माँगा कि कलियुग में जब जगन्नाथ जी के रूप में मेरा अवतार होगा उस समय समुद्र मेरा मंदिर तोड़ना चाहेगा। उस समय आप मेरे मंदिर की स्थापना करा दें और समुद्र को अपनी जगह पर स्थिर कर दें। ज्ञानी जी ने यह बात मान ली। यहाँ पर कबीर पंथ के ग्रंथों में निरंजन कृष्ण और राम तीनों को एक दूसरे में मिला दिया गया है। द्वापर के अंत में जब कृष्ण का स्वर्गवास हुआ तो वही

जगन्नाथ जी के रूप में स्थापित हुए। उस समय उड़ीसा का राजा इंद्रदमन था। उसने कई बार मंदिर बनवाने की चेष्टा की किंतु प्रत्येक बार समुद्र ढहा देता था। अंत में कबीरदास को जब अपने दिए हुए बचन का स्मरण आया तो वे उड़ीसा के राजा के यहाँ पहुँचे और उससे मंदिर बनवाने को कहा और समुद्र से उसकी रक्षा करने का भार लिया। कबीर जी मंदिर और समुद्र के बीच एक चबूतरे पर बैठ गए। मंदिर बनते देख समुद्र उत्ताल तरंगे भरता हुआ मंदिर की ओर बढ़ा किंतु कबीर साहब को देखकर रुक गया। एक ब्राह्मण का वेश धारण कर उनसे कहा कि मैं तो मंदिर ध्वस्त करना चाहता हूँ किंतु आपको सामने देखकर मैं आगे नहीं बढ़ सकता। कबीरदास ने समुद्र से कहा कि तुम इस मंदिर को छोड़ दो और बदले में जाकर द्वारिकापुरी को डुबा दो। समुद्र ने इसे स्वीकार कर लिया और उसने द्वारिकापुरी को उदरस्थ कर लिया। समुद्र के क्रोध का कारण यह था कि त्रेता युग में राम ने समुद्र को बाँधा था। वह राम और कृष्ण से बदला तो नहीं ले पाया और अंत में जगन्नाथ जी से वह लेना चाहता था। कबीरदास जी की कृपा से जगन्नाथ की मूर्ति तो स्थापित हो गई किंतु उन्होंने पुजारियों को आदेश दिया कि इस मंदिर में किसी प्रकार का जातीय भेदभाव नहीं रहेगा। सभी जाति के लोग आकर यहाँ पूजन कर सकते हैं। इस तरह निरंजन, राम, कृष्ण और जगन्नाथ सब एक ही हैं।

कबीर पंथ में जहाँ निरंजन को राम कृष्ण आदि अवतारों के साथ भी संबद्ध किया गया है, वहाँ निरंजन को धर्मराज और कालपुरुष भी कहा गया है। निरंजन को धर्मराज की भी जो संज्ञा दी गई है, वह उसकी विशेषता या गुण का द्योतक नाम नहीं है। बंगाल और उड़ीसा में धर्म देवता की उपासना आज भी प्रचलित है। प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का जब ह्रास हो रहा था और नाथ संप्रदाय, हठयोग और वज्रयान आदि को लेकर अनेक प्रकार साधनात्मक और उपासनाप्रधान मत और पंथ प्रचलित हो गए, उन सबके समन्वित रूप को लेकर यह निरंजन या धर्म देवता की उपासना भी थी। निरंजन के निर्गुण और द्वैताद्वैत विलक्षण रूप का उल्लेख तो बहुत पहले से ही अपने यहाँ के योग और साधना के पंथों में मिलता है और वही निरंजन बंगाल और उड़ीसा में भी पहुँचा जो बाद में चलकर सहजयान की मुख्य साधनाभूमि हो गया था। धर्म देवता के साथ निरंजन का एकीकरण कैसे हुआ स्पष्ट नहीं है। संभव है धर्म देवता के नाम से आदिवासियों में कोई देवता रहे हैं और बाद में निरंजन संप्रदाय का जब विस्तार

छत्तीसगढ़ और उड़ीसा आदि में भी हुआ हो तो धर्मदेवता और निरंजन का एकीकरण हो गया हो।

कबीर पंथ में निरंजन के जिस रूप की व्याख्या और वर्णन हुआ है, वह कहीं कहीं पर परम देव के रूप में है—

गोव्यंदे तू निरंजन तू निरंजन तू निरंजन राया।
तेरे रूप नाहीं, रेख नाहीं, मुद्रा नाहिं माया।
समद नाहीं सिषर नाहीं, धरती नाहीं गगनां।
रवि ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नांहीं पवनां॥
× × ×
रूग न जुग न स्यांम अथरवन, वेद नहीं व्याकरनां।
तेरी गति तूंहीं जांनैं, कबीरा तो सरनां॥२१६॥[1]

कहीं पर धीरे स्वर में उसके संबंध में कुछ अमंगलकारी भाव भी हैं—

मैं सिरजौं मैं मारहूँ, मैं जारौं मैं खाँव।
जल थल में मैं रमि रह्यौ, मोर निरंजन नाँव॥[2]

दूसरे उद्धरण में निरंजन के प्रति कवि का दृष्टिकोण एकांत आदर का नहीं है। वैसे 'जलाने' और 'खाने' शब्दों में ही कुछ अनादर ध्वनित होता है।

निरंजन के संबंध में जो किंचित् अंतर्विरोध हमें मिलता है उसके पीछे यह संभावना हो सकती है कि निरंजन की प्रतिष्ठा पहले से ही एक ऐसे देवता के रूप में रही हो जो संत नाथ और दूसरे संप्रदायों में प्रचलित परम-दैवत निरंजन से भिन्न था। बाद में चलकर बहुत समय बाद जब प्रत्यक्ष रूप से निरंजन संप्रदाय का संपर्क कबीर मत से हुआ तो संत संप्रदाय में उसके संपर्क के कारण उसके रूप में आमूल परिवर्तन कर देना पड़ा। इस संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का मत एक नया प्रकाश डालता है—राढ़भूमि, पूर्वी विहार, झारखंड और उड़ीसा में एक ऐसे परमदेवता की पूजा प्रचलित थी (और कहीं कहीं अब भी है) जिसका नाम धर्म (धर्मराय) और निरंजन था और जिस पर बौद्ध मत का जबरदस्त प्रभाव था। यह भी हो सकता है कि वह बौद्ध मत के प्रारंभ में

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृ० १६२।
२. रमैनी २१ की साखी।

प्रच्छन्न रूप से रहा हो पर बाद में विस्तृत रूप बन गया हो। कबीर मत को इस पंथ से निबटना पड़ा था। विशेष रूप से कबीर पंथ की दक्षिणी शाखा (अर्थात् धर्मदासी संप्रदाय) को इस प्रबल प्रतिद्वंद्वी मत का आत्मसात् करने का श्रेय प्राप्त है। इस संप्रदाय के माननेवालों पर अपना प्रभावविस्तार करने के लिये कबीर मत में उनकी समूची जटिल सृष्टिप्रक्रिया और पौराणिक कथाएँ ले ली गई थीं। केवल इतना सुधार सर्वत्र कर लिया गया था कि निरंजन के प्रभाव से जगत् को मुक्त करने के लिये सत्यपुरुष ने बार बार ज्ञानी जी को इस धराधाम पर भेजा था। ज्ञानी जी कबीर का ही नामांतर है[1]।

कबीर मंसूर तथा पंथ के अन्य ग्रंथों को देखने से प्रतीत होता है कि कबीर पंथ के संमुख दो सबसे प्रतिद्वंद्वी पंथ और देवता थे। वे थे निरंजन और विष्णु। इनके अतिरिक्त जो दूसरे संप्रदाय जैसे अद्या, ब्रह्मा और शिव संबंधी थे उन सबको कबीर पंथ वालों ने कोई महत्व नहीं दिया। ब्रह्मा का संप्रदाय तो अद्या के शाप के कारण समाप्त ही हो गया था। उनकी संतान जो ब्राह्मण कहलाई उसको भी अद्या ने मिथ्याचारी होने का शाप दिया था। ब्रह्मा को तो बड़ा भाई समझकर विष्णु ने किसी तरह उबारा था। शिव और अद्या के पंथ के संबंध में कबीर मंसूर पृष्ठ ८५ पर लिखा है 'संस्कृत में भो नाम शिव जी का है और भो नाम भ्रम का भी है और भो नान भग अर्थात् स्त्रियों की योनि का भी है। भवानी नाम अद्या का कहा जाता है, भवानी दो शब्दों के संयोग से बना है, भो और आनी, आनी कहिए खान अर्थात् भो की खान। इसी प्रकार भो नाम उत्पत्ति का है तो भो और भवानी इस भवसागर के सरदार हैं। अर्थात् जो भो और भवानी की पूजा करे सो भवसागर के पार कभी न जा सके। यही भो और भवानी, महाकाल और महाकाली हैं। ये ही दोनों समस्त संसार के बंधन के निमित्त हैं, ये दोनों शिव और शक्ति एक ही रूप हैं, शिव शक्ति के पंथ सदा मिले मिलाए रहते हैं। शिव, अद्या (शक्ति) और ब्रह्मा की उपासना और पंथ तो वैसे ही हेय और नगण्य है और फिर वे सब विष्णु के अधीन हैं। फिर नरक स्वर्ग की रचना की, भयानक तथा रोचक सब इस मायासृष्टि के निमित्त ठहराया और पिता पुत्र अर्थात् निरंजन और विष्णु राज्य करने लगे। निर्गुण तथा सगुण अर्थात् निर्गुण निरंजन जो परमेश्वर या खुदा कहलाता है और सगुण विष्णु राम कृष्ण इत्यादि सशरीर अवतारधारी परमेश्वर की पूजा सारे

1. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'विश्वभारती पत्रिका', श्रावण - आश्विन, सं० २००३ वि०।

संसार में होने लगी। निर्गुण को योगी लोग योगसमाधि द्वारा पाते हैं और सगुण विष्णु को समस्त हिंदू, मुसलमान, ईसाई और मूसाई पूजन करते हैं यह मायासृष्टि सदैव बंधन में रहती है—उसका छूटना महा कठिन है।[1] इससे प्रतीत होता है कि कबीर पंथ को वैष्णव संप्रदाय और निरंजन दोनों की प्रतिद्वंद्विता करनी पड़ी। दोनों की महत्ता स्वीकार करते हुए इतना उसमें जोड़ दिया कि यद्यपि यह उपासना भ्रम है किंतु जैसे बच्चों को रीझने के लिये खिलौना दिया जाता है उसी प्रकार प्रारंभिक भक्तों के लिये विष्णु की सगुण उपासना भी है। चैतन्य होने पर भक्तों की उपासना जब उच्च कोटि की होती है तब उन्हें स्वसंवेद्य का ज्ञान होता है और कबीर की शरण जाने से आवागमन का बंधन कटता है। कबीर पंथ का प्रचार निम्न वर्ग और प्रायः अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जातियों में विशेष रूप से था। निरंजन की उपासना भी संभवतः इन्हीं जातियों में अत्यधिक प्रचलित थी। कबीर पंथ के संगठन तथा पुराणों की रचना की आवश्यकता भी इसी वर्ग के लोगों को नाना प्रकार के चामत्कारिक वर्णनों से प्रभावित करने के लिये हुई।[2] अतः उसमें निरंजन के व्यक्तित्व और उपासना को लेकर कबीर पंथ के पुराणकारों को विशेष रूप से सोचना पड़ा। इसलिये हम देखते हैं कि निरंजन की जो महत् कल्पना हमें हठयोग, नाथ पंथ और संतों की वाणियों में मिलती है वह कबीर पंथ की परंपरा और पुराण में नहीं मिलती है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने राघोदास की 'भक्तमाल' का उल्लेख किया है और उसके अनुसार किसी जगन को निरंजनी पंथ का प्रवर्तक माना है। उसी ग्रंथ में इस संप्रदाय के बारह मुख्य प्रचारकों का नाम दिया गया है। कुछ लोगों ने हरिदास निरंजनी को ही इस पंथ का प्रवर्तक माना है।[3] श्री क्षितिमोहन सेन ने भी उड़ीसा में इस संप्रदाय के अस्तित्व को स्वीकार किया है और यह भी कहा है कि यहीं से यह पूर्वी भाग में भी फैला। यह संप्रदाय भी निर्गुण ब्रह्म में विश्वास

---

१. कबीर मंसूर पृ० ६५।

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'विश्व भारती पत्रिका', आश्विन, कबीर पंथ।

३. द निरंजन सेक्ट स्टिल मेनटेंस इट्स इंफ्लुएंस इन उड़ीसा ऐंड इट्स रेलिजस टीचिंग्स ट्रैवेल्ड देंस टु द मिडलैंड ऐंड द ईस्टर्न पार्ट आव इंडिया व्हेयर इट हैज नाट लास्ट इट्स फोर्स इवेन ऐट द प्रेजेंट टाइम। मेडिवल मिस्टिसिज्म आव इंडिया, पृ० ७०।

करता था। किंतु बाद की रचना और परंपरा पर सगुण भक्ति का भी प्रभाव लक्षित होता है। इस संप्रदाय के पूर्ण रूप का संपर्क कबीर पंथ से हुआ होगा और निरंजन को सबसे शक्तिशाली देवता स्वीकार करते हुए भी उसे छल और जंजाल का प्रवर्तक माना गया। उसे कहा गया कि वह अनेक ऐसे पंथ का चलानेवाला है जो जीव को भ्रम में डालकर जीवन और कर्म के बंधन में बाँधते हैं। वह जान बूझकर सत्यपुरुष और उनके प्रतिनिधि ज्ञानी जी के उपदेश और पंथ से सांसारिक जीवों को दूर रखता है। वह तप्त शिला पर जीवों को अत्यधिक कष्ट पहुँचाता है। सांसारिक प्राणियों की आर्त पुकार से द्रवित होकर सत्यपुरुष ज्ञानी जी को भेजते हैं। निरंजन संघर्ष करता है और बारबार पराजित होता है। किंतु जीवों पर वह अपना अधिकार बराबर बनाए रखने की चेष्टा करता है। उसमें लोगों को भ्रम में डालने के लिये परसंवेद—जो प्रचलित चारों वेद हैं—का प्रचार किया। ये वेद उसकी साँस से निकले स्थूल ज्ञान की पुस्तक हैं। इस प्रकार निरंजन के संबंध में अनेक कथाएँ गढ़ी गई हैं। उसका जो निर्गुण, परात्पर और द्वैताद्वैत विलक्षण रूप है उसकी संगति किसी तरह नए निरंजन के साथ बैठाने के लिये कबीर पंथी धर्मप्रचारकों को अनेक नई कथाओं, परंपराओं को गढ़ना पड़ा।

आदि शक्ति

सृष्टिप्रक्रिया के प्रसंग में हमने देखा कि कबीर पंथ में अद्या के नाम से शक्ति को अत्यंत प्रमुख स्थान दिया गया है। कबीर और दूसरे संत कवियों ने तो शाक्तों की अत्यंत निंदा की है। शक्ति की चर्चा मूल साहित्य में प्रायः नहीं आई है। यदि कहीं उल्लेख आया भी है तो वह योगपरक प्रसंगों में आया है।[1] किंतु कबीर मंसूर में अद्या का जिसे शक्ति भी कहा गया है, काफी विस्तार से वर्णन है। सृष्टि के विकास में निरंजन के सहयोग से उसका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की तो वह जन्मदात्री है ही, उनकी नियंता भी है। उसी ने सबसे जेठे होते हुए भी ब्रह्मा को शाप दिया कि उसकी पूजा संसार से उठ जायगी और उसकी संतति द्वारा द्वार पर ठोकरें खायगी। उसकी संतान भी उसी की तरह झूठी होयगी। वह स्वार्थ साधन के निमित्त अनेक भ्रमात्मक मार्ग

---

1. सहज गति ज्ञान समाधि लगाई।
   सिव सक्ती मिलि एक भए हैं, मन माया निठुराई।
   मगन रहौं दुख सुख दोउ मेटे चाह अचाह मिटाई।
   जीवन मरन एक सूं लागे जब ते आप गँवाई॥

अपनायगी। ब्रह्मा से इस प्रकार उसके क्रुद्ध होने का कारण था ब्रह्मा का झूठ बोलना। उसने विष्णु की सचाई से प्रसन्न होकर उन्हें त्रैलोक्य का राज्य दिया। ब्रह्मा और विष्णु को भी उनके अधीन कर दिया। अद्या ने तीनों पुत्रों को तीन लोक का राज्य दे दिया। तीनों पुत्र राज्य सुख में अद्या और निरंजन को बिलकुल भूल गए जिस प्रकार अद्या और निरंजन ने सत्यपुरुष को भुला दिया था। किंतु अद्या ने पुत्रों की कृतघ्नता देखकर रंभा, सुत्री और रेणुका नामक तीन कन्याएँ उत्पन्न किए। उन्हें उसने अपनी पूजा के प्रचार का आदेश दिया। उन्होंने देव लोक, गंधर्व लोक और मनुष्य लोक में सर्वत्र अपनी युक्ति और सौंदर्य के द्वारा अद्या की पूजा पुनः प्रचलित किया।

अंत में निरंजन, अद्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा प्रचलित हुई। निरंजन तथा अद्या ने सत्यपुरुष का नाम समस्त संसार से छिपा दिया और मुक्ति-मार्ग के द्वारों को रोक लिया।

कबीर मंसूर के पहले अध्याय के ६७ वें प्रकरण में (आदि भवानी-अद्या का पंथ) बतलाया गया है कि सबसे पहले आदि भवानी हैं। यह तीनों देवताओं की माता हैं और बड़ी प्रभावशालिनी हैं। उसने तीनों पुत्रों की परीक्षा लेनी चाही। कबीर मंसूर ने काली पुराण का हवाला देकर लिखा है कि सृष्टि उत्पन्न होने के पहले तीनों भाई एक साथ बैठे, एक वृक्ष की छाँह में आपस में बातचीत कर रहे थे। उस समय उन लोगों ने ऐसा कौतुक देखा कि एक रक्त की नदी महावेग से बही चली आ रही है। उससे महादुर्गंधि निकल रही थी। उस दुर्गंध का अनुभव कर विष्णु सबसे पहले उठकर भाग गए। उसके पश्चात् ब्रह्मा भागे। शिव चित्त को दृढ़ कर बैठे रहे। जब वह दुर्गंधि की सरिता शिव के समीप पहुँची तो वे उसे पकड़कर आसन बना उसी के ऊपर बैठ गए। तब अद्या प्रकट हो गई। उसने शिव से कहा कि अब मैं सदैव तुम्हारे साथ रहूँगी। तब शिव ने कहा कि तुम मेरे दोनों भाइयों की पत्नी हो। उनको अपना पति बनाओ। तब अद्या ने अपने दो रूप महालक्ष्मी और महासरस्वती बनाया और उनके साथ इसी रूप में वह रही और महाकाली के रूप में शिव के साथ विशेष रूप से रहने लगी। इसमें संदेह नहीं कि इन ग्रंथों में भवानी संबंधी कथाएँ कबीर पंथियों की अपनी कल्पना की उपज हैं किंतु उनका मूलस्रोत प्राचीन परंपरा ही है।

भारतीय संस्कृति और साहित्य में शक्तिपूजा का प्रचलन और व्यापकता देखकर विद्वानों ने इसके उद्गम और जन्म को लेकर अपने अपने ढंग से

अनुमान लगाए हैं। कुछ लोगों ने शक्ति की उपासना को आदिम जातियों की वस्तु माना है और सभ्य लोगों में उसकी उपासना वहीं से धीरे धीरे आई। अधिकांश विद्वान् इसे विदेशों से आई हुई पद्धति मानते हैं। जब बाहर से शक्ति की उपासना इस देश में आई तो यहाँ के लोगों ने उसका पूर्णरूप से भारतीयकरण कर डाला। इसके अतिरिक्त तीसरा वर्ग उन लोगों का है जो शक्ति की पूजा को वैदिक और आर्य मानते हैं और इसके लिये प्राचीन ग्रंथों से प्रमाण भी उद्धृत करते हैं। शक्तिपूजा की ऐतिहासिक पद्धति का ठीक ढंग से पता लगाना आज के युग में बहुत कठिन है किंतु ऐसा प्रतीत होता है, शक्तिपूजा की भावना संभवतः उतनी ही प्राचीन हो जितनी स्वयं मानवसभ्यता। शक्ति पूजा के मूल में नारी-शक्ति की उपासना है। पुरुष और नारी शक्ति की उपासना की पद्धति किसी न किसी रूप में प्रायः सभी प्राचीन धर्मों में मिलती है। पुरुष शक्ति का प्रतीक शिश्न और नारी शक्ति का प्रतीक योनि हमारे देश में आदिम काल से विद्यमान थे, इसमें संदेह नहीं। वेदों में शिश्न पूजक लोगों की बड़ी निंदा की गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वेदों के युग में शिश्न पूजन प्रचलित था किंतु उस समय वैदिक धर्म में विश्वास करनेवाले लोग उसके विरोधी थे। आगे चलकर कुछ समय बाद वैदिक धर्म में लिंग पूजा का व्यापक प्रचार हुआ। लिंगपुराण में एक कथा के अनुसार ब्रह्मा के मन में जिज्ञासा हुई कि वे लिंग के मूल का पता लगाएँ और इस उद्देश्य से वह उसके भीतर घुसे। अनंत काल तक वे चक्कर लगाते रहे किंतु कोई पता नहीं लग सका। इस आख्यान से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वास्तव में शिश्न पूजा का आरंभ जानना कठिन है। मिश्र में सभ्यता के आदि काल में शिश्न पूजा का प्रमाण मिला है। हमारे यहाँ आर्यों के आने के पहले सिंधु की उपत्यका में जिस सभ्यता का प्रसार था, जिसे हम आजकल मोहनजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता के नाम से पुकारते हैं, वहाँ भी लिंग और योनि पूजा के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शक्ति पूजा वास्तव में अत्यंत प्राचीन है। वैदिक काल में उसका प्रचार अवश्य था। हाँ, वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख स्पष्ट रूप से भले ही न मिले। इस संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि वैदिक साहित्य एकपक्षीय साहित्य है। पुरोहितों और कर्मकांडियों ने साहित्य के केवल उसी अंश को जीवित रहने दिया जिसे वे अपने हित में सहायक समझते थे। सभी विरोधी तत्व और तथ्य उन्होंने साहित्य से नष्ट कर दिया। इसका स्पष्ट प्रमाण हमें बौद्ध साहित्य से

मिलता है। प्राचीन काल का विपुल साहित्य भंडार हमें आज उपलब्ध है किंतु बौद्ध धर्म और उसके सिद्धांत का कोई उल्लेख हमें वैदिक परंपरा के ग्रंथों में नहीं मिलता है। शैव और शाक्त साधना के संबंध में भी यही बात लागू है।

शाक्त साधना के प्रचार और लोकप्रिय होने का बहुत घनिष्ठ संबंध बौद्ध धर्म में गुह्य साधना के प्रचार से है। बौद्ध धर्म में तारा देवी की उपासना का प्रचलन तंत्रवाद के जोर पकड़ने के साथ हुआ। जितनी भी गुह्य साधनाएँ थीं चाहे उनका स्वरूप बौद्ध हो चाहे वैदिक सबमें शरीर को ही सभी सिद्धि का केंद्र माना गया है। विश्व के सृष्टि संचालन में मुख्य रूप से पुरुष और स्त्री इन्हीं दो तत्वों का महत्व है। बाह्य सृष्टि में जिस प्रकार पुरुष और नारी के संयोग से चरम फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के शरीर में भी यह दोनों तत्व मौजूद हैं। किंतु वे दोनों एक दूसरे से दूर हैं। दूरी के कारण ही मनुष्य जीवन की पूर्णता नहीं प्राप्त होती है। शरीर में रहनेवाले इन दो तत्वों का मिलन ज्योंही होता है, उस समय साधक अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है। उसके लिये जीवन में कुछ भी अप्राप्य नहीं रहता है। उसी पुरुष और नारी के तत्व को भिन्न भिन्न मार्गों में भिन्न भिन्न नामों से पुकारा गया है। हिंदू तंत्र में इसे शिव और शक्ति कहा गया है, बौद्ध तंत्र में करुणा और शून्यता और हठयोग में सूर्य और चंद्र कहा गया है। इस प्रकार नर और नारी की कल्पना को लेकर ही सभी गुह्य साधनाओं का जन्म हुआ और काल और धर्म की भिन्नता के कारण स्वरूप और नाम का भेद हुआ।

शक्ति की उपासना भारतीय और अभारतीय दोनों प्रतीत होती हैं और कालोपरांत दोनों धारणाओं का यहाँ पर समन्वय हो गया। ऐसा मालूम होता है, हमारे देश में हड़प्पा और मोहनजोदड़ो काल में शक्ति की उपासना किसी न किसी रूप में प्रचलित थी। ऐसा संभव है कि यहाँ का समाज मातृमूलक था। प्राचीन काल में स्त्रियों के प्राधान्य का उल्लेख महाभारत में संकेत रूप से आया है। उसी मान्यता का अवशेष उत्तर पश्चिमी जातियों में स्त्रियों की अबाध स्वतंत्रता के रूप में महाभारत काल में बना था। ऐसी ही सामाजिक व्यवस्था दक्षिण में द्रविड़ समाज में थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी पुस्तक 'भारत में जातिभेद' में इसका जिक्र किया है। उन्होंने सहदेव के उस कथन का उल्लेख किया है जिससे वे अश्वमेध यज्ञ के सिलसिले में गए द्रविड़ देश संबंधी अपना अनुभव बतलाते हैं कि वहाँ की स्त्रियों के ओष्ठों में उद्भूत वायु से ही अग्निदेव प्रज्वलित होते हैं और अग्नि ने अपनी उस सेवा से प्रसन्न होकर वहाँ की स्त्रियों को यह वरदान

दिया था कि तुम स्वैरिणी और स्वेच्छाचारी होओ और इच्छापूर्वक विचरण करो। इस कथन से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि दक्षिण में भी स्त्रीप्रधान समाज (मैट्रिआर्किकल सोसायटी) था। वहाँ भी शक्ति की पूजा किसी न किसी रूप में प्रचलित रही होगी। मेरा ऐसा अनुमान है कि द्रविड़ लोगों का संबंध उत्तर की हड़प्पा सभ्यता की जातियों से रहा होगा और उन्हीं की जैसी सामाजिक व्यवस्था द्रविड़ समाज में भी रही होगी। दक्षिण एराकुलम् पर्वत का प्रायः तंत्रशास्त्र के ग्रंथों में नाम आता है जो प्राचीन काल में तंत्र साधना का बहुत बड़ा केंद्र था और जहाँ दूर दूर के लोग साधना की दीक्षा और सिद्धि के लिये आया करते थे। इसलिये यह अनुमान करना सर्वथा युक्तिसंगत है। आर्यों के आने के पहले और वैदिक धर्म के आरंभ के पूर्व आर्येतर जातियों में शक्ति की उपासना किसी रूप में प्रचलित थी। आर्यों ने पहले तो इस उपासना को उपेक्षा की दृष्टि से देखा, किंतु बाद में जब इसका प्रभाव काफी बढ़ गया तो उन्होंने शक्ति की उपासना को भी अपना लिया। हिंदू धर्म ने शक्ति की साधना को अपनाया तो अवश्य किंतु उसको उन्होंने भरसक पूर्णरूप से हिंदू रूप देने की चेष्टा की। लेकिन प्राग्वैदिक काल का चिह्न किसी न किसी रूप में अवशेष रह ही गया। देवी के मधुपान करने, उसकी मस्ती में जबान लड़खड़ाने आदि का वर्णन संभवतः वेद-पूर्व काल का ही है। मार्कंडेय पुराण में जहाँ शक्ति के दानवों से युद्ध करने का वर्णन है उस अवसर पर महिषासुर को ललकारते हुए 'बोलते समय उनका मुख मधु के मद से लाल हो रहा था और वाणी लड़खड़ा रही थी'—देवी ने कहा 'ओ मूढ़ मैं जब तक मधु पीती हूँ। तब तक तू क्षण भर के लिये खूब गरज ले। मेरे हाथ से यहीं तेरी मृत्यु हो जाने पर अब शीघ्र ही देवता भी गर्जना करेंगे'[1]। इसी प्रकार पूजन विधि में भी रक्तसिंचित बलि से, मांस से तथा मदिरा से भी पूजन का विधान है[2]। इन सब विधियों से मांस, मदिरा का जो स्थान है, वह निश्चित रूप से आर्येतर प्रभाव के कारण है।

---

१. उवाच तं मदोद्धूत मुखरागाकुलाक्षरम् ॥ ३७ ॥

देव्युवाच

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत् पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हतेत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः ॥ ३८ ॥ मार्कंडेय पुराण

२. रुधिराक्तेन बलिना मांसेन सुरया नृप ॥

मार्कंडेय पुराण

बौद्धों में तारा देवी की उपासना बहुत व्यापक रूप से प्रचलित थी और हिंदू तंत्रों में भी तारा देवी का नाम आया है। कहीं कहीं पर इन्हीं तारा देवी को शक्ति कहकर भी हिंदू तंत्र में उल्लेख किया गया है[1]। शिव शक्ति संगम तंत्र में यह भी कहा गया है कि चीनाचार कर्म के ही द्वारा तारा देवी को प्रसन्न किया जा सकता है। ब्राह्मणों ने भी इस पद्धति को अपनाया था इसका प्रमाण इस कथन से मिलता है—

महाचीन क्रमो देवि द्विविधः परिकीर्तितः।
सकलो निष्कल श्चेति सकलो बौध गोचरः॥
—निष्कलो ब्राह्मणानां च—

'हे देवी, महाचीन पद्धति दो प्रकार की है—सकल और निष्कल। पहली को बौद्ध लोग व्यवहार करते हैं और दूसरी निष्कल को ब्राह्मण[2]। अनेक विद्वानों ने चीनाचार कर्म के ही आधार पर यह धारणा बना ली है कि तंत्रवाद हमारे देश में महाचीन से अर्थात् तिब्बत से आया है। ग्रंथों में वशिष्ठ की कहानी दी गई है। वशिष्ठ ने सहस्र वर्ष तक देवी का जप किया किंतु उन्हें सिद्धि नहीं मिली। इसके बाद कुलेश्वरी महाविद्या उनके सामने प्रकट हुई और उन्होंने कहा 'तुम बौद्धों के देश महाचीन में जाओ और अथर्व वेद का आचरण करो (बौद्ध देशे अथर्व वेदे महाचीने सदा ब्रज) वहाँ जाकर मेरे कमल चरणों को देखकर, हे महर्षि, तुम मेरे कुल में पारंगत हो जाओगे और सिद्ध हो जाओगे[3]। इस कहानी के आधार पर विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि हमारे देश में तंत्र साधना और देवी की उपासना तिब्बत देश से ही आई होगी। बंगाल, आसाम और उड़ीसा शक्ति-साधना के केंद्र रहे हैं। इस कारण भी तिब्बत में ही शक्तिसाधना का आविर्भाव मानना ज्यादा युक्तिसंगत है, क्योंकि ये प्रदेश तिब्बत के समीप और पड़ोसी हैं, इसलिये यहाँ पर तंत्रसाधना का व्यापक प्रचार हुआ। ऐसा संभव है कि अपने यहाँ समाज में पहले से ही शक्ति की पूजा किसी रूप में प्रचलित रही हो जैसा की इसी पुस्तक में पहले बताया गया है, और बाद में तिब्बत देश से तंत्र और तारा-

१. हीरानंद शास्त्री, द ओरिजिन एंड कल्ट आव तारा।
२. वही।
३. सर जान उडरफ, शक्ति एंड शाक्त।

देवी की उपासना का अधिक जटिल और शास्त्रसंमत रूप आया हो जो घुल मिल कर एक हो गया है। ऐसा भी संभव है कि बौद्धों की तारा देवी भारत में भी रही हों किंतु उनका प्रभाव मुख्य रूप से अशिक्षित और निम्नवर्ग में रहा हो क्योंकि 'तारा' नाम से ही स्पष्ट है वह देवी जो तार सके या पार कर सके। ऐसा अनुमान लगाना बिलकुल युक्तिसंगत है कि तारा संभवतः नाविकों की देवी रही हों और समुद्र यात्रा करनेवाले या समुद्रतटीय लोगों में इनकी उपासना प्रधान रूप से प्रचलित रही हो। जावा आदि द्वीपों में जहाँ धर्मप्रचारक और पोतवाहक प्राचीन काल में बराबर जाते थे, देवी की मूर्तियाँ मिलती हैं। समुद्र की यह देवी तारा बंगाल, आसाम और नेपाल से तिब्बत पहुँची हो और वहाँ पर इसे बौद्ध-देवालय में सर्वोच्च स्थान मिला हो। तिब्बत में नदी, समुद्र की देवी की मूल कल्पना संभव नहीं जान पड़ती क्योंकि समुद्र का दर्शन तो असंभव ही है, कोई बड़ी नदी भी वहाँ नहीं है। पहाड़ों के अंतराल में बड़े सरोवर अवश्य हैं किंतु उनमें नौकारोहण की विशेष आवश्यकता न रही होगी।

वास्तव में प्राचीन काल में जनजीवन इस रूप में परस्पर घुला मिला था कि किसी विश्वास या प्रथा का मूल रूप किसी एक जाति विशेष में ढूँढ़ना सर्वथा कठिन है। एक ही जाति की प्रथा अनेक जातियों और समाजों द्वारा गृहीत होकर अनेक रूप बदलती हुई भ्रमण करती आई है कि उस पर किसी वर्ग विशेष की छाप नहीं अंकित हो पाई है न शक्ति पूजा भी इसी प्रकार भारतवर्ष की आदिम जातियों में प्रचलित रही होगी। जादू टोना, अभिचार आदि के साथ शक्ति की पूजा का भी प्रचार व्यापक हुआ होगा। वेदों के समय में ही संभवतः गुह्य साधनाएँ आर्यों में प्रवेश कर गई थीं। अभिचार की परिभाषा दी गई है कि अभिचार वह कर्म है जिसे तंत्रशास्त्र और अथर्व वेद में बयान किया गया है[1]। बौद्ध धर्म और उसका साहित्य भी संभवतः अथर्व वेद की रचना के साथ ही फैले। प्रो० राइस डेविड के अनुसार अथर्व वेद बहुत बाद की रचना है क्योंकि इसके पूर्व के बहुत से बौद्ध ग्रंथ मिलते हैं जिनमें केवल तीन ही वेदों का उल्लेख है। अथर्व वेद का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अथर्व वेद की रचना के समय तक बौद्ध और हिंदू समाज में प्रायः समान रूप से गुह्य साधनाओं का प्रचार हो गया था और धीरे धीरे इसको शास्त्रीय आवरण

---

१. अभिचार इज द कर्म डिस्क्राइब्ड इन द तंत्राज ऐंड अथर्व वेद। —सर जान वुडरफ, शक्ति ऐंड शाक्त।

पहनाने की चेष्टा की जा रही थी। किंतु इतना कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्धों ने गुह्य साधनाओं और शक्ति उपासना को अधिक चाव के साथ ग्रहण किया और अपनी पूजनपद्धति में इसको प्रमुख स्थान दिया। हिंदू धर्म में जहाँ कर्मकांड की अधिकता थी और पुरोहितों का प्रभुत्व बराबर ही मजबूत रहा, यह प्रथा शास्त्रीय रूप से और संमान के साथ तब ग्रहण की गई जब यहाँ के पुरोहितों ने देखा कि बौद्ध धर्म में शक्ति और गुह्य साधना के पुरोहित धन और द्रव्य से मालामाल हो रहे हैं। फिर तो जब हिंदू धर्म में शक्ति की उपासना आई तो सभी देवता तुच्छ हो गए। शक्ति में, उदारता में, सौंदर्य में, श्री और वैभव में आद्य शक्ति के समान कोई देवता नहीं रहा। ब्रह्मा, विष्णु और महेश सब इन्हीं की रचना हो गए। हिंदू साधकों ने सोल्लास देवी की अर्चना करते हुए गाया—

नैव तारा समा काचिद्देवता सिद्धिदायिनी।

मार्कंडेय पुराण में बड़े विस्तार से शक्ति की उत्पत्ति और उसके महत्व पर प्रकाश डाला गया है। पुराण काल तक शक्ति की उपासना हिंदू धर्म में निस्संकोच रूप से स्वीकार कर ली गई थी और उनकी महिमा का गान करने में शास्त्रकारों और पौराणिकों ने अपनी सारी कल्पना और काव्यप्रतिभा खर्च कर डाली है।

प्राचीन काल में महिषासुर से सभी देवगण जब पराभूत हो गए और वह इंद्र के सिंहासन पर विराजमान हो गया तब सब देवता उस स्थान पर गए जहाँ विष्णु और शिव थे और उन्हें अपनी कष्ट कथा सुनाई। उन्हें अत्यंत क्रोध आया। तब अत्यंत कोप में भरे हुए चक्रपाणि श्री विष्णु के मुख से एक महान् तेज प्रकट हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मा, शंकर तथा इंद्र आदि अन्यान्य देवताओं के शरीर से बड़ा भारी तेज निकला। यह सब मिलकर एक हो गया। महान् तेज का वह पुंज जाज्वल्यमान पर्वत सा जान पड़ा। देवताओं ने देखा वहाँ उसकी ज्वालाएँ संपूर्ण दिशाओं में व्याप्त हो रही थीं। संपूर्ण देवताओं के शरीर से प्रकट हुए उस तेज की कहीं तुलना नहीं थी। एकत्रित होने पर वह एक नारी के रूप में परिणत हो गया और अपने प्रकाश से तीनों लोकों में व्याप्त जान पड़ा।[1] महिषासुर के मारे जाने के बाद देवता लोग देवी की स्तुति करते हैं—'आप संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति में कारण हैं।'......भगवान विष्णु और महादेव आदि

---

1. मार्कंडेय पुराण में देवी माहात्म्य का दूसरा अध्याय ६–१३ श्लोक।

देवता भी आपका पार नहीं पाते। आप ही सबके आश्रय हैं। यह समस्त जगत् आपका अंशभूत है, क्योंकि आप सबकी आदिभूत अव्याकृता परा प्रकृति हैं।[1] देवी के रूप और गुण वर्णन में भी उनकी उपासना में दो पक्ष स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं।[2] अत्यंत सौम्य तथा अत्यंत रौद्र रूपा देवी को हम नमस्कार करते हैं, उन्हें हमारा बारंबार प्रणाम है (अति सौम्यातिरौद्रायै नतास्तस्यै नमो नमः) देवी के इस सौम्य रूप में उनके अपूर्व लावण्य, दया, वत्सलता और उदारता आदि गुणों का वर्णन किया गया और रौद्र रूप में उनके भयंकर संहारकारी रूप की व्यंजना की गई है। ग्यारहवें अध्याय में देवी स्वयं अपने भिन्न भिन्न नामों तथा उनके साथ अपने भिन्न भिन्न गुणों का वर्णन करती हैं। उससे भी उनके स्वरूप का अच्छा परिचय मिलता है। 'देवताओं, वैवस्वत, मन्वतर के अट्ठाइसवें युग में शुंभ और निशुंभ नाम के दो अन्य महादैत्य उत्पन्न होंगे। तब मैं नंद गोप के घर में उनकी पत्नी यशोदा के गर्भ से अवतीर्ण हो विंध्याचल में जाकर रहूँगी और उक्त दोनों असुरों का नाश करूँगी। फिर अत्यंत भयंकर रूप से पृथ्वी पर अवतार ले मैं वैप्रचित नामवाले दानवों का वध करूँगी। उन भयंकर महादैत्यों को भक्षण करते समय मेरे दाँत अनार के फूल की भाँति लाल हो जायँगे। तब स्वर्ग में देवता और मर्त्यलोक में मनुष्य सदा मेरी स्तुति करते हुए मुझे 'रक्तदंतिका' कहेंगे। फिर जब पृथ्वी पर सौ वर्षों के लिये वर्षा रुक जायगी और पानी का अभाव हो जायगा उस समय मुनियों के स्तवन करने पर पृथ्वी पर अयोनिजा रूप में प्रकट होऊँगी और सौ नेत्रों से मुनियों की ओर देखूँगी। अतः मनुष्य 'शताक्षी' इस नाम से मेरा कीर्तन करेंगे। देवताओं! उस समय मैं अपने शरीर से उत्पन्न हुए शाकों द्वारा समस्त संसार का भरण पोषण करूँगी। जब तक वर्षा नहीं होगी तब तक वे शाक ही सबके प्राणों की रक्षा करेंगे। ऐसा करने के कारण पृथ्वी पर 'शाकंभरी' नाम से मेरी ख्याति होगी। उसी अवतार में मैं दुर्गम नामक महादैत्य का वध भी करूँगी। इससे मेरा नाम दुर्गा देवी के रूप से प्रसिद्ध होगा। फिर जब मैं भीम रूप धारण करके मुनियों की रक्षा के लिये हिमालय पर रहनेवाले राक्षसों का भक्षण करूँगी उस समय सब मुनि भक्ति से नतमस्तक होकर मेरी स्तुति करेंगे। तब मेरा नाम 'भीमा देवी' के रूप में विख्यात होगा। जब अरुण नामक दैत्य तीनों लोकों में भारी उपद्रव मचायगा तब मैं तीनों लोकों का हित करने के लिये छः पैरों

---

१. चतुर्थ अध्याय ७ और ८।

वाले असंख्य भ्रमरों का रूप धारण करके उस महादैत्य का वध करूँगी। उस समय सब लोग भ्रामरी के नाम से चारों ओर मेरी स्तुति करेंगे।' ऐसा प्रतीत होता है, देवी का भयंकर रूप तो वेद पूर्व रूप है। उस समय प्रकृति की अजेय शक्ति मनुष्यों के हृदय में भय का संचार करनेवाली थी। उस पर विजय प्राप्त करने के लिये उससे भी भयानक शक्ति वाली देवी की आवश्यकता थी अतएव देवी के रूप की अत्यधिक भयानक कल्पना की गई। बाद में जब प्रकृति के साथ अधिक साहचर्य हुआ और उसके प्रति राग और प्रेम हुआ तो देवी की परवर्ती कल्पना में सौम्य रूप का आरोप किया गया। पुराण युग भावुक कल्पना का युग है। देवी के रूप में भी इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसी से शक्ति की पूजा में दोनों मार्ग वाम और दक्षिण प्रचलित हैं।

शक्ति साधना में अविच्छिन्न रूप से संबंधित तंत्र साधना है। तंत्र साधना प्रायः तिरस्कार और घृणा की वस्तु रही है। किंतु वास्तव में तंत्रवाद का भी अपना एक दर्शन है जिसमें अपूर्व साहस और नवीन चिंतन है। दार्शनिक रूप से इस साधना को हम अद्वैत दर्शन का व्यावहारिक पक्ष मान सकते हैं। इसमें द्वित्व के भेद मिटाकर अपनी भौतिक सीमा के भीतर ही अद्वैत की अनुभूति का प्रयास है। शिव और शक्ति ही इस सारी सृष्टि के संचालन के मूल निमित्त हैं। इनकी एकता में ही जीवन का अमरत्व छिपा हुआ है। वह एकता योगी कुंडलिनी शक्ति को सहस्रार में पहुँचा कर लाता है लेकिन साधक बाह्य विधानों से भी स्थापित करने की चेष्टा करता है। प्रत्येक प्राणी में जो नर और नारी का तत्व अंतर्निहित है उसे वह बाहर की एकता से भी पुष्ट करना चाहता है। अतः शाक्त मार्ग में यंत्र तथा सदेह मुद्रा के साथ संबंध स्थापित कर उस एकता की अनुभूति का विधान है। दक्षिण मार्ग या वैदिक मार्ग संयम और दमन का मार्ग है, अनेक प्रकार के विधि निषेधों का मार्ग है। इसमें समाज की नैतिक मर्यादा और मान्यता के नियंत्रण में ही जीवन और आचरण को ढालने की बात कही गई है। तंत्रवादी यह मानता है कि नियमन और दमन अस्वाभाविक है। मनुष्य की जो सहज वृत्तियाँ हैं वे अपनी तृप्ति ढूँढ़ती हैं। तृप्ति न प्रदान कर उन्हें शमन करने की जितनी भी चेष्टा हुई है सब असफल साबित हुई। सारा पुराण तथा अन्य धार्मिक साहित्य ऐसी ही स्खलन की कहानियों से भरा पड़ा है। अतएव वाम मार्ग ने इसके बिलकुल विपरीत दर्शन की मान्यता का उद्घोष किया। इसमें कहा गया कि वासनाओं को तृप्त करो और इतना तृप्त करो कि वे उनकी ओर से विमुख हो जायँ और जब प्रत्येक साधक में वासना से इस प्रकार सच्ची और स्थायी वितृष्णा पैदा हो जाय तो मन में पूर्ण स्थिरता आ

जाती है और उस समय साधक और उसकी मुद्रा बिना किसी वासना या आवेग के पूर्ण निश्चल होकर अद्वैत भाव की अनुभूति करते हैं। बाहर और भीतर से जब इस प्रकार साम्य होता है तभी वह पूर्णता आती है। उसी को शक्ति ने कौल अर्थात् अपने कुल का कहा है। वाम मार्ग में पंच मकार मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा, और मिथुन इन्हीं वासनाओं के प्रतीक हैं जो मनुष्य में मुख्य रूप से विद्यमान रहती हैं। इनकी तृप्ति के द्वारा ही मन की एकाग्रता आती है। साधक अपनी साधना के समय इन उपकरणों में लिप्त न होकर उसे विरक्त रहने की ही मानसिक चेष्टा करता है। अभ्यास के द्वारा वह अंत में सिद्धि लाभ करता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि साधना का वह पक्ष अत्यंत दुष्कर है। जरा सी भी असावधानी होने पर घोर पतन अनिवार्य है। इसकी सफलता या सत्यता पर तो कुछ कहना कठिन है किंतु इस पंथ की जो बदनामी हुई उसका संभवतः मुख्य कारण यही रहा होगा कि इसमें सच्चे साधक कम रह पाते होंगे और कच्ची साधना के कारण समाज में बदनामी फैली होगी।

सामाजिक दृष्टि से भी शक्ति साधना एक नवीन और क्रांतिकारी जीवन-दर्शन था। समाज में वर्णभेद, ऊँच नीच का भेदभाव और धर्म के नाम पर जनता के शोषण से एक तीव्र और गहरी प्रतिक्रिया हुई होगी। पुरोहितों और धर्म के महंतों ने अनेक प्रकार की अन्यायपूर्ण सामाजिक रूढ़ियों की सृष्टि कर उसे अनेक प्रकार के विधिनिषेधों से पुष्ट कर रखा था। कर्मकांड की प्रधानता, धर्म की कृत्रिमता और पुरोहितवर्ग की स्वार्थपरता ने एक ऐसी प्रतिक्रिया को जन्म दिया जिसने वेदाचार को हीन बताए हुए उनके पुरोहितों द्वारा निर्धारित सभी विधिनिषेधों को ध्वस्त कर डाला और जितनी समाजिक मान्यताएँ थीं, उन्हें अमान्य ठहराया। जितनी उस समाज की वर्जनाएँ थीं उसी को अपनी साधना और सफलता का आधार माना। तंत्रयान, सहजयान, वज्रयान आदि अनेक नामों से यह साधना भिन्न भिन्न रूप में प्रचलित हुई किंतु मूलरूप से सबमें मनुष्य की समानता और एकता का सिद्धांत माना गया। जातिभेद निरर्थक ही नहीं माना गया वरन् निम्न वर्ग के व्यवहारों और आचरणों को प्रत्यक्ष रूप से ऊँचा माना गया है। सहजयानी सिद्धों ने शक्ति अथवा सिद्धि को डोमिनी, चांडाली और अवधूतिका कहा है। उनकी मुद्राएँ भी प्रायः हीन जाति की स्त्रियाँ रहती थीं। समाज में वर्णविभेद के प्रति विद्रोह इन वाममार्गी साधनाओं में फूटा और ब्राह्मणों और पुरोहितों से ऐसी घृणा थी कि ये साधक सभी पुस्तकीय ज्ञान को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। चूँकि धर्माध्यक्ष लोग प्रायः उन्हीं धार्मिक ग्रंथों

का हवाला देकर लोगों को बहकावे में डालते थे। इसलिये इन सभी वाममार्गी साधकों ने अर्जित ज्ञान की खिल्ली उड़ाई है और उन्होंने अनुभूति और सहज-वृत्तियों को ही सच्चा पथप्रदर्शक माना है। कर्मकांडवाद और ज्ञानवाद दोनों का बड़े तीखेपन से विरोध किया है। इस प्रकार शक्ति धर्म के पीछे एक बड़ी सामाजिक शक्ति थी जो समाज के अंतर्विरोधों से ही उत्पन्न हुई थी और जिसने वाममार्गी साधना को बल और प्रेरणा दी।

शक्ति की उपासना का सबसे अधिक उत्कर्ष ५ वीं से ७ वीं शताब्दी माना जा सकता है। वैसे तो समाज के अंतराल में यह उपासना पद्धति प्राक् ऐतिहासिक काल से चली आ रही थी किंतु इस समय इसका विशेष प्रसार हुआ। खुलकर समाज में इसका आचरण होने लगा। इसको राज्याश्रय भी मिला। अनेक सहजयानी सिद्ध कई राजाओं के गुरु थे और इन सिद्धों में भी कुछ राजा और राजकुमार थे। यह समय इस समाजविद्रोही और विधिनिषेध का मर्दन करने-वाली विचारधारा के अनुकूल था। मौर्य और गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद बहुत समय भारतवर्ष में केंद्रीय सत्ता नहीं बन पाई। राजनैतिक सत्ता छोटे छोटे मांडलिक राज्यों में बिखर गई। राजनैतिक सत्ता ही नहीं खंडित हुई वरन् इसके साथ धार्मिक और सामाजिक सत्ता भी दुर्बल हो गई। आस्था और विश्वास टूट गए। शारीरिक संतोष ने नैतिक शैथिल्य और वैचारिक उच्छृंखलता को जन्म दिया। बाँधनेवाली सत्ता न रहने के कारण जीवन के अंतराल में कसमसाता हुआ विद्रोह फूटकर सतह पर आया और अनुकूल परिस्थिति का सहारा पाकर सारे उत्तरी खंड में व्याप्त हो गया। शक्ति और वाममार्गी साधना का लक्ष्य लोकगुणी होते हुए भी व्यवहार और साधनप्रक्रिया में व्यक्तिवादी था अतः इसमें भी जन्म के साथ ही ह्रास के बीज मौजूद थे और गुह्याचार के रूप में यह सिमट-कर लोकदृष्टि से ओझल हो गई।

कबीरदास ने अपने मत का प्रवर्तन उच्छृंखलता को दूर कर संयम और आचरण की पवित्रता को आधार मानकर किया। शक्ति और शैव संप्रदाय उन सभी आचारवादी मान्यताओं और जीवन के मूल्यों के विपरीत मार्ग पर चले जिन्हें कबीरदास जी ने सर्वाधिक महत्व दिया था। इसी कारण उन्होंने अपने मूल विचारों में और बाद के पुराण ग्रंथ लिखनेवाले प्रचारकों ने भी श्रद्धा का वर्णन करते हुए उसको सभी उच्च गुणों और मान्यताओं से शून्य चित्रित किया है। अनेक प्रकार की कथाओं और घटनाओं की रचना और सृष्टि जो विभिन्न कबीर

पंथी ग्रंथों में हुई है उन सबके मूल में अद्या के प्रति विरोध और अविश्वास की ही भावना है। वास्तव में कबीर पंथ में अद्या को शक्ति का प्रतीक मानते हुए उसका संबंध अनेक प्रकार के अनाचार और आचार उच्छृंलता के साथ तो दिखाया ही है, साथ ही माया का भ्रामक और पतनकारी रूप भी संभवतः उनके संमुख था और उस संबंध की कथाओं को गढ़ते हुए इस दृष्टिकोण की भी प्रधानता हो गई है। हिंदू पुराणों और परंपराओं में शक्ति को सृष्टि का नियामक, संहारक और पालक मानने के साथ ही उसमें अपूर्व तेज, बल और पराक्रम भी दर्शाया गया है। किंतु कबीर पंथ में इस रूप की सर्वथा अवहेलना की गई है। अद्या का केवल पतनवादी और प्रवंचनात्मक रूप उपस्थित किया गया है।

कबीर और दूसरे संत कवियों की रचनाओं में प्रसंगवश जहाँ पहले के कई देवी देवताओं का नाम आया है उनमें विष्णु प्रमुख हैं। वास्तव में संत कवि अवतारवाद और साकार उपासना के विरोधी थे किंतु

विष्णु

भक्ति और उपासना से बहुत प्रभावित भी थे। अन्य संप्रदाय और धर्मों की तुलना में उन्होंने वैष्णव भक्ति की प्रशंसा बार बार की है।[1] किंतु वैष्णव भक्ति और भक्त की प्रशंसा का यह तात्पर्य नहीं है कि संत कवियों ने विष्णु का भी गुणगान किया हो। विष्णु का तो जहाँ कहीं भी उल्लेख हुआ है उनके प्रति उपासकों जैसी श्रद्धा संत साहित्य में प्रदर्शित नहीं की गई है। कबीर और दूसरे संत कवियों ने केवल चलते ढंग से उनका उल्लेख मात्र कर दिया है। कबीर ने एक स्थल पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव को एक ही के विभिन्न अंग बतलाया है। अतः उन्हें संकोच हो रहा है कि इनमें किसकी पूजा की जाय। ब्रह्मा उस वृक्ष की पत्ती के समान है, विष्णु पुष्प है और

---

१. क—वैष्णव की छपरी भली, ना साकत का बड़ गाँव।
साकत बाह्मन ना मिले, वैष्णव मिले चंडाल॥
—कबीर ग्रंथावली

ख—वैष्णव की कूकरि भली, साकत की बुरी माइ।
ओह सुनहि हरि नाम जस, वह पाप बिसाहन जाइ॥
—कबीर ग्रंथावली, पृ० २५१, सा० १३६

ग—पाती ब्रह्मा पुहपे विष्णु, फूल फल महादेव।
तीनों देवा एक मूरति, करै किसकी सेव॥

महादेव फूल फल हैं। दूसरे संत कवियों ने भी विष्णु का उल्लेख इसी प्रकार प्रसंगवश ही किया है। अवतारवाद और सगुण उपासना के विरोधी होने के कारण विष्णु की भावना का विरोध तो सबों ने किया है किंतु विष्णु के लिये कुछ सहानुभूति अवश्य है। वास्तव में हिंदू देवी देवताओं में विष्णु, शिव और शक्ति की ही उपासना प्रधान रूप से प्रचलित थी। उसमें सबसे अधिक उनका नैकट्य विष्णु उपासकों से ही था। अन्य उपासक शिव और शक्ति के अनुयायी थे और उनका आचरण और पद्धति वाममार्गीय होने के कारण संत संप्रदाय के लिये ग्राह्य नहीं था। यद्यपि कायसाधना के अंतर्गत शिव और शक्ति के मिलने की बात संत कवियों ने भी किया है किंतु इस प्रकार का वर्णन शुद्ध योग और प्रेम की भक्ति के आदर्श को लेकर है। कबीर मंसूर में जो विष्णु का वर्णन आया है उससे भी इस मत की पुष्टि होती है।

सत्यपुरुष ने निरंजन को उत्पन्न किया और उसे सृष्टि करने की आज्ञा दी। निरंजन ने कूर्म जी से सृष्टि की सामग्री छीनने का प्रयत्न किया। उस संघर्ष में निरंजन ने कूर्म जी के तीन शिर खा लिये। इसके बाद सृष्टि की सामग्री आप ही बिखर गई। इसके पश्चात् वह पुनः शून्य में जाकर तपस्या करने लगा। सोलह युग तक निरंतर तपस्या करने के बाद उससे सत्यपुरुष ने पूछा कि वह क्या चाहता है। तब निरंजन ने कहा कि सृष्टि की उत्पत्ति के लिये मुझे बीज खेत प्रदान कीजिये। सत्यपुरुष ने स्वीकार किया। फिर उन्होंने एक कन्या उत्पन्न की जो आगे चलकर अद्या के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह परम सुंदरी कन्या सत्यपुरुष की आज्ञा से निरंजन के यहाँ गई। निरंजन ने जब उसके साथ सृष्टि उत्पन्न करने का प्रस्ताव किया तो वह तैयार न हुई; तब क्रुद्ध होकर निरंजन उसे मुख में रखकर निगलने लगा। किंतु सत्यपुरुष की कृपा से किसी प्रकार बच सकी। फिर इसके बाद वह निरंजन के सर्वथा अधीन होकर रहने लगी। बहुत काल के परस्पर आनंद भोग और सहवास के उपरांत निरंजन ने जो कूर्म के तीन शिर खा डाले थे उनके प्रभाव से तीन पुत्र उत्पन्न हुए। ये तीनों पुत्र ब्रह्मा, विष्णु और शिव थे। इन तीनों देवताओं की उत्पत्ति मथुरापुरी में हुई। इनके उत्पन्न होते ही निरंजन शून्यस्वरूप होकर अंतर्धान हो गया। पुत्रों ने पिता का दर्शन नहीं किया। पुत्रों ने कुछ बड़े होने के बाद माता से अपने पिता के संबंध में जिज्ञासा की तो अद्या ने कहा कि तुम लोग और हमारे अतिरिक्त और कोई नहीं है। मैं ही तुम्हारा पिता और मैं ही तुम्हारी माता हूँ। तुम मेरे पति हो और मैं तुम्हारी पत्नी हूँ। पुत्रों को अद्या की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। तब अद्या ने ब्रह्मा से कहा कि यदि

तुम्हें अपने पिता के दर्शन की अभिलाषा है तो दर्शन कर पूजा कर लो। ब्रह्मा ने चार युग तक तपस्या की और अद्या ने उन्हें बुलाने के लिये गायत्री को उत्पन्न किया। गायत्री ने स्वयं और पुष्पावती, जिसे उसने उत्पन्न किया था, के साथ किसी तरह प्रयत्न करके ब्रह्मा को वापस आने के लिये राजी किया। ब्रह्मा ने झूठ ही माता से कह दिया कि मैंने पिता के दर्शन कर लिये। अद्या ने ध्यान से देखा तो उसे सच्चाई मालूम हो गई। उसने क्रुद्ध होकर ब्रह्मा को शाप दिया कि तुम झूठे हो। इस कारण तुम्हारी संतति (ब्राह्मण) द्वार द्वार पर ठोकरें खायगी और जैसा तू झूठा है वैसी ही तेरी संतान झूठी होगी। निज स्वार्थ की सिद्धि के लिये वह सदा कथा पुराण सुनायगी। दूसरे मनुष्यों में तो यह कथादि सुनकर भक्ति का संचार होगा किंतु वे इससे वंचित रहेंगे।

फिर भवानी विष्णु के यहाँ गई और उनसे कहा कि तुम भी जाओ पिता का दर्शन करो और उनका हाल मुझे बतलाओ। वे पाताल लोक पहुँचे। वहाँ शेषनाग की विषभरी फुफकार से वे अचेत हो गए और उनके शरीर का रंग नीला हो गया। इसी समय निरंजन ने आकाशवाणी के द्वारा विष्णु को सजग किया कि तुम अपनी माता के यहाँ जाकर सारी बात सत्य कहना। झूठ मत बोलना। माता ने जब विष्णु से पूछा कि तुमने पिता का दर्शन किया तो विष्णु ने स्पष्ट कहा कि नहीं, मुझे दर्शन नहीं मिल सका। अद्या अत्यंत प्रसन्न हुई। उसे आशीर्वाद दिया कि तुम त्रैलोक्य का राज्य करोगे। मनुष्य तथा देवता तेरी वंदना करेंगे। ब्रह्मा और शिव तेरी आज्ञा मानेंगे और तेरे अधीन रहेंगे। फिर अद्या की कृपा से विष्णु को पिता के भी दर्शन हुए। फिर विष्णु निरंजन और अद्या एकरूप हो गए।

इसी प्रकार जब शिव पिता के दर्शन की चेष्टा के बाद लौटे और अद्या ने उससे पिता के संबंध में जब पूछा तो वे बिलकुल मौन रहे। सच झूठ कुछ भी नहीं कहा। तब अद्या ने उनसे कहा कि तुम बिलकुल मौन हो गए इसलिये तुम योग समाधि कर शिर पर जटा रख और शरीर में भस्म रमा कर रहोगे। तुम्हारे अनुयायियों में जाति पाँति का कोई ध्यान नहीं रहेगा। जब ब्रह्मा को माता ने शाप दिया तो वे अत्यंत दुखी और खिन्न होकर विष्णु के पास गए। ब्रह्मा को दुखी देखकर विष्णु ने उन्हें आश्वस्त किया कि आप बड़े भाई हैं मैं आपकी सब प्रकार से सेवा करने के लिये तत्पर हूँ। जहाँ कहीं भी कीर्तन, होम, यज्ञ संसार में होगा सब ब्राह्मणों द्वारा ही होगा। इससे प्रसन्न होकर तीनों भाई जीवनयापन करने लगे।

कबीर मंसूर में विष्णु के संबंध में प्रशंसात्मक भाव व्यक्त किया गया है।

'जितने धर्म विष्णु के हैं, इनमें चार संप्रदाय के वैष्णव विशेष सत्वगुण धर्मवाले लोग हैं और यही लोग वैष्णव हैं। इन चारों संप्रदायों में हिंसा आदि दुराचार नहीं है। यद्यपि ये लोग ठाकुर की पूजा करते हैं पर इनकी चाल पूर्णतया सत्वगुणियों की ऐसी है। इसी सत्वगुणी चाल से ही मुक्ति द्वार खुल जाता है'।[1]

संत कवियों की मूल रचना तथा उनके पौराणिक आख्यान से यह स्पष्ट सा हो जाता है कि सगुण रूप होने के कारण यद्यपि उन्हें इष्ट के पद पर बैठाया नहीं गया है किंतु बहुत सी बातों में समानता होने के कारण विष्णु को संत परंपरा में साधारणतया सम्मान की दृष्टि से देखा गया है जैसा एक विरोधी के गुणों को भी सदाशय व्यक्ति स्वीकार करते हैं।

विष्णु के रूप और उपासना का विकास हिंदू परंपरा में यद्यपि वैदिक काल में नहीं पाया जाता किंतु ऐसा संभव है कि विष्णु देवता के रूप में आर्येतर जातियों में द्रविड़ तथा सिंधु उपत्यका की जातियों में रहे हों। वैसे डा० भंडारकर ने विष्णु को वैदिक देवता ही कहा है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने वैदिक एज नामक भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित इतिहास ग्रंथ में बतलाया है कि विष्णु अंशतः आर्य देवता हैं और सूर्य के एक रूप हैं और अंशतः द्रविण देवता हैं जिसका संबंध आकाशक्षेत्र से है जिसका रंग आकाश की तरह नीला है (तमिल का विन् शब्द जिसका अर्थ आकाश और मध्य भारतीय आर्यकाल का 'विन्दु' या 'वेन्दु' शब्द से इसकी उत्पत्ति हुई है।[2]) विष्णु के आर्येतर देवता के रूप में विद्यमान रहने की संभावना की ओर आचार्य क्षितिमोहन सेन ने भी अपनी 'जातिभेद' पुस्तक में संकेत किया है। 'भृगु ने विष्णु के वक्षस्थल पर पदाघात किया था। जान पड़ता है, भृगुगण खूब निष्ठावान् वैदिक थे। वैष्णवधर्म प्राचीनतर वैदिक के उस पदाघात से लांछित होकर हमारे देश में प्रतिष्ठित हुआ। इंद्र के बाद विष्णु का नाम हुआ 'उपेंद्र इन्द्रावरजः' (अमरकोश इन दोनों ही नामों का अर्थ है इंद्र का परवर्ती।'[3] इससे यह प्रतीत होता है कि आर्यसभ्यता और संप्रदाय में विष्णु की पूजा वैदिक धर्म के विकासक्रम की बहुत बाद की अवस्था में

---

१. कबीर मंसूर, पृ० ८६।

२. डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या। वैदिक एज, रेस मूवमेंट एंड हिस्टारिक कल्चर।

३. क्षितिमोहन सेन : भारतवर्ष में जातिभेद, पृ० ६९।

गृहीत हुई और प्रारंभ में वैदिक निष्ठावान् भृगु जैसे व्यक्तियों ने इसका घोर विरोध किया। किंतु इस विरोध के बावजूद भी विष्णु की उपासना अत्यंत लोकप्रिय हो गई।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि विष्णु की उपासना और वैष्णव धर्म का विकास वासुदेव धर्म से हुआ। इस वासुदेव धर्म का सर्वप्रथम उल्लेख पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रंथ में मिलता है जिसमें वासुदेव शब्द की निरुक्ति करते हुए बताया गया है कि वासुदेव के उपासकों को वासुदेवक कहते हैं।[1] इस वासुदेव धर्म का संबंध वैदिक काल की सूर्य उपासना से संभव है क्योंकि शांति पर्व में यह बताया गया है कि सात्वत् विधि जो भागवत संप्रदाय का उस जाति के आधार पर जिसने वासुदेव धर्म को अपनाया और प्रचार किया, दूसरा नाम है, को निर्धारित करनेवाले सूर्य थे।[2] डा० भंडारकर ने भी पाणिनि के आधार पर बतलाया है कि सात्वत् वृष्णि वंश का ही दूसरा नाम है जिसके श्रीकृष्ण, संकर्षण और अनिरुद्ध प्रमुख सदस्य थे। सात्वतों का अपना संप्रदाय था जिसमें वासुदेव की ईश्वर के रूप में उपासना होती थी।[3] वासुदेव कृष्ण धर्म और विष्णु की उपासना के परस्पर मिलन और उनके एक हो जाने के बाद इसमें नारायण की उपासना का विकास हुआ। नारायण संप्रदाय और उनके व्यक्तित्व के विकास को लेकर भी कई मत हैं। डा० भंडारकर ने नारायण को सर्वव्यापी देवता के रूप में माना है। वैष्णव धर्म के विकास को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—'पुराण-युग में वसुदेव धर्म अबाधी नहीं रहा और इसमें तीन धार्मिक मतों का संगम हुआ। एक धारा वैदिक देवता विष्णु से प्रवाहित हुई, दूसरी नारायण से, जो आकाशमंडल के दार्शनिक देवता हैं और तीसरी वसुदेव से जो ऐतिहासिक देवता

---

१. द अर्लिएस्ट रेफरेंस टु डिवोशन टु ऐंड वर्शिप आव ए पर्सनल गाड आउट आव ह्विच वैष्णविज्म रोज मे बी ट्रेस्ट टु द अष्टाध्यायी आव पाणिनि (फिफ्थ सेंचुरी बी० सी०) ह्विच आफर्स द रूल फार द फार्मेशन आव द वर्ड 'वासुदेवाः' इन द सेंस आव ए पर्सन हूज आब्जेक्ट आव भक्ति इज वासुदेव। —क्लासिक एज नामक भारतीय विद्याभवन की पुस्तक में वैष्णविज्म शीर्षक लेख से।

२. वही।

३. आर० जी० भंडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड देयर रिलिजन्स।

हैं, निकलकर उत्तर वैष्णव संप्रदाय के रूप में परिणित हुई।[1] डा० सरकार ने अपने प्रबंध में यह अनुमान लगाया है कि नारायण संभवतः एक अन्य विचार परंपरा के प्रवर्तक थे जिसमें नर नाम के ऋषि उत्पन्न हुए थे जो आगे चलकर सारे देवता विष्णु के व्यक्तित्व में आत्मसात् हो गए। इस तरह विष्णु की उपासना का जो रूप आज हमें प्राप्त है वह कई विचारधाराओं और देवोपासनाओं का समन्वित रूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध भक्ति भावना, आत्म-समर्पण और प्रपत्ति का विचार वृष्णि वंशी क्षत्रियों में प्रादुर्भूत हुआ। हो सकता है, इसके पीछे पौरोहित्य के प्रति क्षत्रियों के विद्रोह की भावना भी रही हो। आगे चलकर विष्णु के व्यक्तित्व को किसी परिस्थितिवश विशेष प्रमुखता देकर भक्तिवादी विचारकों ने उन्हें सर्वप्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया। कृष्ण आभीर जाति के जातीय देवता (ट्राइबल गाड) थे अथवा वे सत्वत वंश के प्रमुख पुरुष थे जिन्हें वासुदेव धर्म में बाद में विष्णु धर्म से मिलन के पश्चात् विष्णु का अवतार मान लिया था। आभीरों के गोपाल कोई देवता रहे हों क्योंकि उनकी जीविका गोपालन थी। वे विशेषतया सौराष्ट्र और आगरा मथुरा के बीच फैले थे। वहाँ की गाएँ प्राचीन काल से बहुत उच्चकोटि की समझी जाती थीं। अतः गोपाल की कल्पना बहुत बाद में कृष्ण के नाम के साथ संबद्ध हुई। महाभारत में कृष्ण के बाल-जीवन के संबंधी कथाओं का कोई उल्लेख नहीं। इस तरह विष्णु संप्रदाय कई विचारधाराओं को समेटता मध्यकाल तक एक व्यापक भक्ति संप्रदाय के रूप में उत्तरी और दक्षिणी भारत में फैला।

भक्ति संप्रदाय में विष्णु के रूप और महत्व की जो व्यापक स्वीकृति थी, उसका प्रभाव कबीर पर और परवर्ती पंथ के संगठनकर्ताओं पर भी पड़ा। इसी लिये उन्होंने अपने संप्रदाय ग्रंथों में विष्णु का उल्लेख करते हुए उनकी विशिष्टता को अन्य हिंदू देवताओं के बीच बहुत कुछ सुरक्षित रखा। यह अवश्य है कि कबीर पंथ के अवतारवाद और सगुण उपासना का विरोधी होने के कारण विष्णु को भी पंथ और संप्रदाय की दृष्टि में सर्वथा पूज्य स्थान नहीं दिया जा सकता था। अतः उसे भी निरंजन और आद्या के साथ संबद्ध करके सृष्टि के जीवों को मतभ्रम में डालने की दुरभिसंधि में संमिलित कर दिया गया है।

संत संप्रदाय में कूर्म जी की भी पर्याप्त चर्चा है। वैष्णव धर्म में भगवान विष्णु का एक अवतार कूर्म के रूप में हुआ माना जाता है। देवताओं की

---

1. वही।

सहायता के लिये जब विष्णु ने समुद्र मथकर अमृत निकालने का विचार किया तो उस समय मंदराचल को मथानी बनाया गया। वासुकि नाग उसकी रस्सी बना और देवता तथा राक्षस उसे दोनों ओर पकड़कर मथने लगे। किंतु बिना आधार के मंदराचल समुद्र में डूबने लगा, देवता और दानव उसे संभाल नहीं सके। उस समय विष्णु ने कच्छप का अवतार लेकर मंदराचल को अपनी पीठ पर धारण किया। इस तरह समुद्र को मथा गया और अमृत की प्राप्ति हुई। मार्कंडेय पुराण में कूर्म को भगवान कूर्म कहा गया है और उनके महत्व का बड़ा विस्तृत वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि कूर्मरूपधारी भगवान श्री हरि नौ भेदों से युक्त इस भारतवर्ष को आक्रांत किए बैठे हैं। उनके चारो ओर नौ भागों में विभक्त होकर संपूर्ण नक्षत्र और देश स्थित हैं। इसके बाद विस्तार से इन सब देशों और नक्षत्रों का वर्णन है, जो उनके चारों ओर अवस्थित हैं। उन्हीं नक्षत्रों के शुभाशुभ लक्षण के कारण उक्त देश के निवासियों को सुख या दुःख होता है। वे अचिंत्यात्मा नारायण हैं। उन्हीं में संपूर्ण देवता और नक्षत्र-मंडल हैं। उन्हीं के भीतर अग्नि, पृथ्वी और सोम हैं। मेष आदि तीन राशियाँ भगवान कूर्म के मध्यभाग में हैं। मिथुन और कर्क मुख में स्थित हैं आदि[1]।

कूर्म

कूर्म के इस रूप का जो वर्णन यहाँ मिलता है, संभवतः उसी से प्रेरणा और प्रभाव लेकर संत संप्रदाय में कूर्म जी की कल्पना की गई है। समस्त संसार में उनका प्रसार, ग्रहनक्षत्र आदि की उनमें स्थिति आदि प्रसंगों से कालांतर में संत संप्रदाय के पुराणकारों को उनके संबंध में कल्पना करने की प्रेरणा मिली होगी। सृष्टिप्रक्रिया और देवताओं के प्रसंग में कूर्म का भी वर्णन आ चुका है। कबीर मंसूर में कूर्म का शरीर अट्ठानबे करोड़ योजन का लिखा गया है। सत्यपुरुष ने कूर्म जी को सृष्टिरचना की समस्त सामग्री सौंपकर उसका भंडारी बनाया था। इसी कूर्म से निरंजन ने युद्ध करके सृष्टि की समग्र सामग्री हस्तगत की थी। उसने इनके तीन शिर भी काट डाले थे। इस पर दुखी होकर कूर्म जी ने ध्यान में सत्यपुरुष से निरंजन द्वारा दिए गए कष्ट और अपमान का वर्णन किया। सत्य-पुरुष ने उसे नष्ट तो नहीं किया, किंतु यह शाप दिया कि इसे अब मेरा दर्शन नहीं

---

१. मार्कंडेय पुराण (गीता प्रेस), पृ० १५५–५७।

नि० सा० पृ० १६ (११००-६१)

मिलेगा और यह काल प्रतिदिवस एक लाख जीव खायगा और सवा लक्ष उत्पन्न करेगा।

कूर्म जी के संबंध में इसका उल्लेख उस समय मिलता है, जब निरंजन के अत्याचार से सृष्टि के लोग बहुत दुखी हो जाते हैं और वे सत्यपुरुष के यहाँ पुकार करते हैं, तब वे ज्ञानी जी को उन जीवों के उद्धारनिमित्त भेजते हैं। ज्ञानी जी से निरंजन ने मस्त हाथी का रूप धारण कर संघर्ष किया, किंतु योगजीत ने उसका सूँड़ पकड़कर ऐसा झटका दिया कि वह दूर गिर पड़ा और अचेत हो गया। वह प्राण को संकट में जान पाताल भाग चला और वहाँ उसने कूर्म जी से शरण देने की प्रार्थना की। किंतु कबीर साहब भी जो योगजीत के रूप में थे, वहाँ पीछा करते हुए पहुँचे। कूर्म जी जोगजीत को देखकर खड़े हो गए और उनसे उनका परिचय जानना चाहा। कबीर साहब ने कहा कि मेरा नाम ज्ञानी है और मैं सत्यपुरुष की आज्ञा से मनुष्यों की मुक्ति के लिये संसार में जाता हूँ। निरंजन ने ज्ञानी जी से निवेदन किया कि उसे कठिन तपस्या के बाद त्रिलोक का राज्य मिला है। सत्यपुरुष की अन्य संतान तो अन्य लोकों में आनंद का जीवन व्यतीत कर रही हैं। केवल मुझे ही क्यों कष्ट दिया जा रहा है। इस पर कूर्म जी ने हाथ जोड़कर कहा 'मैं निरंजन और ज्ञानी जी दोनों से निवेदन करता हूँ आप दोनों मेरी बात सुनें। जो जीव ज्ञानी जी का पान पाएँ उन्हें कालपुरुष स्पर्श न करे। इसके अतिरिक्त अन्य जो भी प्राणी हैं वे सब उसके फंदे में पड़ेंगे।' इस बात पर ज्ञानी जी तथा कैल (निरंजन) दोनों सहमत हुए। फिर निरंजन जी अपनी राजधानी झाँझरी द्वीप गए और कबीर साहब भी अपने लोक गए।

कूर्म के इस वर्णन से और हिंदू पुराणों के वर्णन से सृष्टिप्रक्रिया को लेकर बहुत थोड़ा सा साम्य मिल सकता है, किंतु अन्य बातों में बहुत ही अंतर है। यह कहना कुछ कठिन है कि कूर्म का जो रूप संत संप्रदाय के पुराणों में उपलब्ध है, वह किस आधार पर है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि शायद इस नाम के कोई अन्य देवता आदिम जातियों में प्रचलित रहे हों, जिनका कोई भी उल्लेख परवर्ती साहित्य में न हो, किंतु परंपरा रूप में बाद के संत संप्रदाय के प्रचारकों और पुराणकारों को वह मिला हो जिसे उन्होंने अपनी उर्वर कल्पना से ऐसा रूप किया हो।

नवम अध्याय

पौराणिक प्रवृत्तियाँ

६

पौराणिक प्रवृत्तियाँ

निर्गुण संप्रदाय की उत्पत्ति रूढ़िवाद और अंधविश्वास की प्रतिक्रिया के रूप में हुई थी। मनुष्य मात्र की एकता और समता तथा जातिवाद का खंडन, मूर्तिपूजा, अवतारवाद का विरोध संत संप्रदाय के मौलिक आधार थे। कालांतर में जब कबीर और दूसरे संत कवियों द्वारा प्रचारित मत धीरे धीरे संगठित होकर एक पंथ और संप्रदाय में प्रवर्तित हो गया तो उसमें भी प्रायः वे सभी बातें गृहीत हुईं जो पूर्व के हिंदू संप्रदाय में थीं और जिनका खंडन कबीर आदि ने किया था। कबीरदास के विचार संभवतः जनता में फैले तो अवश्य थे किंतु उनको आधार बनाकर एक विशिष्ट पंथ या संप्रदाय का रूप उनकी मृत्यु के बाद देने का विचार उनके शिष्यों और अनुयायियों ने किया। कबीर पंथ का सांप्रदायिक गठन कब हुआ, बहुत निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ('विश्वभारती' पत्रिका खंड ५ अंक ३, १९४६) में 'कबीर पंथ और उसके सिद्धांत' शीर्षक लेख में इस पर अत्यंत तर्कपूर्ण ढंग से विवेचन किया है। उनके निष्कर्ष के अनुसार 'पंथ का दृढ़ संगठन सत्रहवीं शताब्दी से पहले नहीं हुआ था'।[1] सत्रहवीं शताब्दी तक संभवतः कबीर के मत का प्रचार अवश्य रहा होगा किंतु उसका पंथ या संप्रदाय के रूप में संगठन नहीं हुआ था या यदि संगठन का कोई रूप था तो वह अत्यंत शिथिल रहा होगा। कबीर पंथ की दो सर्वप्रमुख गद्दियाँ है—एक काशी की और दूसरी छत्तीसगढ़ की। पहली के प्रवर्तक महात्मा सुरत गोपाल कहे जाते हैं और दूसरी के धर्मदास

---

१. डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी : 'कबीर पंथ और उसके सिद्धांत', विश्वभारती पत्रिका, पृ० ४५१।

जी, किंतु प्राप्त सामग्री और तथ्य से यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त दोनों महात्मा कबीरदास जी के समकालीन थे और यदि वे समकालीन थे जैसा पंथ की परंपरा में विश्वास किया जाता है, तो दोनों गद्दियों पर प्रतिष्ठित होनेवाले गुरुओं की जो तालिका उपलब्ध है उसमें अवश्य कोई त्रुटि है। कबीरदास जी की रचनाओं और वाणी से भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके जीवनकाल में अथवा उनकी मृत्यु के बाद निकट भविष्य में किसी संप्रदाय का उनके नाम या सिद्धांत पर संगठन नहीं था। उनकी वाणी में ऐसी प्रवृत्तियों का स्पष्ट विरोध मिलता है।

कबीर पंथ के सांप्रदायिक संगठन के मूल में ही पौराणिक प्रवृत्तियों की प्रेरणा रही होगी। सिद्धांत के रूप में जब तक किसी महात्मा अथवा धर्माचार्य के विचार रहते हैं तो वे शुद्ध वैचारिक जगत् की वस्तु रहते हैं किंतु जब एक स्थिर मतवाद का रूप देना होता है तो अवश्यंभावी रूप से मूल विचारों की दार्शनिक और तात्विक व्याख्या के साथ ही उसके प्रवर्तक के व्यक्तित्व के चतुर्दिक अपूर्व और अलौकिक तत्व का आवरण डाला जाता है, जिससे सामान्य लोगों का सहज आस्थामय हृदय तुष्ट हो सके। कबीर पंथ आरंभ में केवल तर्क, अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित मतवाद था। इसके लिये पुस्तक, शास्त्र, पुराण और अंधविश्वास सर्वथा अग्राह्य थे। किंतु हमारे देश में विविध विचारों को आत्मसात् कर उन्हें एक सरणि में पिरोने की कुछ ऐसी ईश्वरदत्त प्रतिभा है, जिसके कारण सभी प्रकार की दार्शनिक या धार्मिक परंपरा पंडितों के विशिष्ट क्षेत्र के बाहर, सामान्य जनता की भावभूमि पर आकर एक समन्वित रूप धारण कर लेती है। कबीरदास के विचार भी जो तत्कालीन अंधविश्वास, कर्मकांड, अवतारवाद और जातिभेद आदि के विरोध में उद्भूत हुए थे, समय के प्रवाह में जिस प्रकार अनेक प्रकार के अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं और प्रसंगों की अवतारणा करके सामान्य जनता को आकृष्ट और अभिभूत किया गया था, उसकी आवश्यता कबीर पंथ के प्रचारकों और गुरुओं को महसूस हुई होगी। कबीर पंथ को भी उसी प्रकार अपने पुराण की रचना करके अपने संप्रदाय को पुष्ट और बाहरी आक्रमण से सुरक्षित करने की चेष्टा की गई। इसी प्रयास के परिणामस्वरूप पंथ में अनेक ग्रंथों की रचना हुई जिसमें अलग अलग और भिन्न भिन्न ढंग और शैली से कबीरसाहब के व्यक्तित्व, शक्ति, प्रतिभा और चमत्कार का वर्णन किया गया। आचार्य द्विवेदी जी ने तुलसीकृत रामायण की लोकप्रियता को कबीर पंथ में पौराणिक प्रवृत्तियों के उद्भव के लिये विशेष रूप से उत्तरदायी माना

है।[1] इसमें संदेह नहीं कि तुलसीसाहित्य का भारतीय धार्मिक चिंतन और परंपरा पर गहरा असर पड़ा होगा किंतु इसके अतिरिक्त भारतीय जनता की समन्वयात्मक प्रवृत्ति भी उत्तरदायी है जो वैष्णवधर्म और परंपरा में पहले से ही निष्णात् होने के कारण कबीर पंथ से प्रभावित होते हुए भी हिंदू साहित्य और आख्यानों की ओर आकृष्ट हो रही थी और उससे अपने संप्रदाय की रक्षा करने के लिये ही कबीर पंथ में अनेक पुराण ग्रंथों की रचना हुई और संप्रदाय में अनेक प्रथाएँ और विश्वास उन्हीं पौराणिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर प्रचलित हुए।

अलौकिकत्व का आरोप और अवतारवाद

कबीरदास के जन्म का ही जो विवरण पंथ के ग्रंथों में मिलता है उससे एक ओर कबीर का ईश्वरत्व प्रकट होता है और दूसरी ओर जातिवाद संबंधी वर्णावर्ण का भाव भी व्यक्त होता है। ज्ञानसागर के अनुसार कबीर के रूप में जब ज्ञानी जी कलियुग में प्रादुर्भूत हुए तो उद्यान में एक बालरूप हो पड़ रहे। वहाँ सर्वप्रथम चंदनशाह और उसकी पत्नी स्नान करने गई। पत्नी ने उस सुंदर बालक को प्रसन्न होकर उठाया और उसे लेकर घर गई। उसका पति लोकनिंदा से डरा और उसकी स्त्री ने चेरी के द्वारा बालक को यथास्थान रखवा दिया। कुछ समयोपरांत कबीर अंर्तध्यान हो गए। वही पति-पत्नी नूरी और नीमा के रूप में जन्मे। उनके संमुख पुनः कबीर साहब एक शिशु के रूप में अवतीर्ण हुए। उसकी स्त्री ने बालक को उठाया। उस पर नूरी अपनी स्त्री पर रुष्ट हुआ। तब बालकरूप सत्य कबीर ने हुँकारा और कहा कि पिछले जन्म की तुम्हारी भक्ति से द्रवित होकर मैंने तुम्हें दर्शन दिया है और अभी तक तुम अज्ञान में हो। तब दोनों सचेत हुए। उनके आग्रह करने पर उन्होंने उनके पूर्वजन्म की कथा सुनाई। द्वापर युग में सुदर्शन नाम का एक श्वपच था। वह सत्यपुरुष का अनन्य भक्त था। युधिष्ठिर ने युद्ध समाप्त होने के बाद कृष्ण के परामर्श के अनुसार एक बहुत बड़ा यज्ञ किया जिसमें सभी महात्मा आमंत्रित हुए। कृष्ण ने कहा कि यज्ञ की सफलता तभी मानी जायगी जब आकाश में घंट बजने लगे। जब सभी खा पी चुके और घंट नहीं बजा तो युधिष्ठिर ने कृष्ण से इसका रहस्य पूछा। कृष्ण ने बतलाया कि सुदर्शन श्वपच ने अभी भोजन नहीं किया है, इसी कारण घंट नहीं बजा। कृष्ण के आज्ञानुसार पांडव सुदर्शन के यहाँ गए

---

1. डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी : विश्वभारती, खंड ५० अंक ३० सन् १९४६।

और सादर लाकर उसे भोजन कराया। उसके भोजन के बाद आकाश का घंटा बज उठा। उसी सुदर्शन ने सत्यपुरुष से वरदान माँगा था कि उसके माता-पिता आवागमन के बंधन से मुक्त हो जायँ। उसी के माता-पिता अगले जन्म में कुलपति और महेश्वरी ब्राह्मण और ब्राह्मणी के रूप में जन्मे। उनके यहाँ कबीर बालक रूप में आए। उनकी दरिद्रता के निवारणार्थ नित्य एक तोला सोना उन्हें मिल जाया करता था। फिर कबीर ने उन्हें ज्ञान समझाया तो उन्होंने बालक की बात समझकर यथोचित ध्यान नहीं दिया। तब कबीरदास अंतर्धान हो गए। दूसरे जन्म में वही ब्राह्मण दंपति चंदन और ऊदा नाम से चंदवारे में उत्पन्न हुए। यहाँ भी कबीर ने इन्हे बालकरूप में दर्शन दिया किंतु इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तीसरे जन्म में यह दंपति नीरू जुलाहा और नीमा के रूप में उत्पन्न हुए। इन्हें पुनः बालक रूप में कबीर ने जब दर्शन दिया और इन्हें चेत न आया तो उनके पूर्वजन्म की यह कथा उन्हें सुनानी पड़ी। इस प्रकार कबीर का जन्म नीमा और नीरू के यहाँ हुआ।

कबीर के जन्म के बाद भी उनकी अनेक चमत्कारपूर्ण कथाओं का वर्णन पंथ के ग्रंथों में किया गया है। कबीर के नामकरण के संबंध में कहा गया कि जब ब्राह्मण बुलाया गया और वह उचित नाम सोचने लगा तो उसके बोलने के पहले ही कबीर साहब ने बतलाया कि मेरा नाम कबीर है। इसके बाद नीरू ने काजी को बुलाया। उसने कुरान खोलकर देखा तो समस्त पुस्तक में कबीर का ही नाम भरा मिला। बनारस के सब काजी अत्यंत घबड़ाए। उन्होंने नीरू से उस बालक को मार डालने के लिये कहा। नीरू ने एकांत घर में जब छुरी से वार किया तो छुरी आर पार जैसे हवा में हो गई। कबीर साहब पर न कोई घाव हुआ और न एक बूँद रक्त ही गिरा। कबीर ने समझाया कि न कोई मेरा पिता है और न माता। मैं स्वयं परमात्मा हूँ। इसे सुनकर नीमा और नीरू अत्यंत डरे। कबीर ने बाल्यावस्था में कुछ भी खाया पिया नहीं किंतु वे बिलकुल स्वस्थ और प्रसन्न रहे। माता पिता के बहुत आग्रह पर उन्होंने कोरी बछिया का दूध दुहवा कर पिया। लड़कपन में नीरू ने एक मेहमान की इच्छा पर गोश्त पकाया। इस पर कबीर साहब अंतर्धान हो गए। नीरू जब उनके न मिलने पर नदी में डूबकर आत्महत्या करने के लिये पानी में गया तो उन्होंने उसे बाँह पकड़कर बाहर किया और उसके प्रायश्चित करने पर घर लौटे। इसी प्रकार एक जबह की गई गाय को उन्होंने जीवित किया। जुलाहों ने जब इनकी सुन्नत करनी

चाही तो उस समय भी इन्होंने चमत्कार दिखाया और खतना नहीं हो सका। सिकंदर लोदी और शाह तकी के संबंध में कबीरदास द्वारा किए गए बहुत से चमत्कार का वर्णन कबीर के ग्रंथों में मिलता है। जन्म और जीवन की ही तरह इनकी मृत्यु का भी विवरण प्रचलित है। इन सबसे केवल एक बात पुष्ट होती है और वह कबीर का ईश्वरत्व और अलौकिक शक्ति।

कबीरदास ने अवतारवाद का बराबर खंडन किया किंतु सगुण भक्ति के प्रचारकों ने भगवान की दयामयी और पोषक मूर्ति की जो कल्पना की उस ओर सामान्य जनता का आकर्षण हुआ। निर्गुण उपासक कबीर के अनुयायियों को भी कबीर मत के अस्तित्व की रक्षा के लिये उसी ढंग के कबीर साहब के विविध अवतारों की चर्चा करनी पड़ी। कबीर मंसूर में कबीरदास के चौदह बार प्रकट होने का उल्लेख आया है। कबीरदास के रूप में उनका अवतार चौदहवाँ अवतार है। इसके पूर्व तेरह बार के प्रकटीकरण में उनके चार मुख्य अवतार माने गए हैं जो सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में हुए हैं। सतयुग में कबीर साहब का अवतार सतसुकृत के नाम से हुआ था। उस अवतार में धोंधल राजा का उद्धार अपने सदुपदेश से किया। फिर खेमसरि पर साहब ने मथुरा में आकर कृपा की। उन्हें उन्होंने ज्ञान दिया, अपना लोक दिखाया और संसार में उन्हें सत्यपुरुष का मार्ग और वचन सबको दिखाने का काम सौंपा। त्रेतायुग जब आया तो कबीर साहब ने मुनींद्र के नाम से अवतार धारण किया[1]। इस अवतार में मुनींद्र जी लंका गढ़ गए। वहाँ विचित्र नाम के भाट को अपना उपदेश दिया। उस भाट की स्त्री से इस अपूर्व योगी की चर्चा सुनकर मंदोदरी ने भी मुनींद्र जी का दर्शन किया। उसके उपदेश और ज्ञान देने के उपरांत उन्होंने रावण से भेंट की। रावण के द्वारपाल ने मुनींद्र का वर्णन इस तरह उससे किया—

अहो रावण तेहि श्वेत रूपा। श्वेतहिं माला तिलक अनूपा।
शशि समान है रूप विराजा। श्वेत वसन सब श्वेतहिं साजा॥[2]

मंदोदरी ने भी अपने पति से प्रार्थना की कि वह विनीत भाव से जाकर उनका दर्शन करे। किंतु यह सुनकर रावण और भी अधिक क्रुद्ध हुआ। उसने सत्तर

---

१. सतयुग गयो त्रेता युग आवा।
नाम मुनींद्र जीव समझावा॥ —अनुराग सागर पृ० ७३।

२. अनुराग सागर (खेमराज श्रीकृष्णदास), पृ० ७६।

बार उन पर शस्त्र से प्रहार किया किंतु मुनींद्र की कोई क्षति नहीं हुई। इस पर मंदोदरी ने पुनः पति से विनय किया कि सत्यपुरुष की शरण पकड़ो जिससे तुम्हारा राज्य अटल हो जाय। किंतु रावण ने दंभ और दुराग्रह नहीं छोड़ा और पत्नी को उत्तर दिया—

सेवा करौं शिव जाय, जिनि मोहिं राज अटल दियो।
ताकर टेकौं पायँ, पल दंडवत क्षण ताहि को ॥

तब मुनींद्र ने उस गर्वीले रावण से कहा कि तुम मेरा भेद नहीं जानते हो। रामचंद्र आकर तुम्हारा बध करेंगे। ऐसा कह वे अयोध्या गए। वहाँ मार्ग में मधुकर नाम के ब्राह्मण से उनकी भेंट हुई। मधुकर की भक्ति से प्रसन्न होकर उसे अमरलोक का दर्शन कराया। मधुकर के परिवार में सोलह व्यक्ति थे। उसने मुनींद्र जी से प्रार्थना की कि उन सबों को आवागमन और काल के पाश से मुक्त किया जाय। तब मुनींद्र ने चौका देकर उन्हें अमरलोक का परवाना दिया।

द्वापर में पुनः काल ने अपना प्रभाव फैलाया और जीव उसकी ताड़ना से अत्यंत दुखित हुए। उनके उद्धार के लिये कबीरदास जी करुणामय के रूप में पृथ्वी तल पर अवतीर्ण हुए।[1] उन्हें देख धर्म (निरंजन) अत्यंत चिंतित हुआ और उनसे प्रार्थना की कि वे सब प्राणियों को ज्ञानदृष्टि न दें। इस रूप में आने पर करुणामय जी गिरनार देश में आए जिसका राजा चंद्रविजय था। उसकी रानी अत्यंत सचेत और साधु महात्माओं की भक्त थी। वह अटारी पर चढ़ी साधु महात्माओं की बाट देखा करती थी। उसका नाम था इंद्रमती। उसने करुणामय जी को देखा तो बुलाने के लिये दासी को भेजा। दासी के बहुत अनुनय विनय करने पर भी उन्होंने राजमहल में आना स्वीकार नहीं किया। तब रानी स्वयं बुलाने गई। उसकी भक्ति देख करुणामय जी उसके महल में गए। वहाँ रानी की जिज्ञासा पर उन्होंने अपने रहस्य को उद्‌घाटित किया। रानी को उन्होंने दीक्षा दी। साथ ही उसे वह मंत्र दिया जिससे सर्प का विष दूर हो जाय। उन्होंने बताया कि जब तक्षक साँप उसे डँसे तो उस मंत्र का प्रयोग करे। इसी प्रकार काल जब उनका सा रूप धारण कर भ्रम में डालना चाहे तो उसकी भी पहिचान बतलाई और भ्रम में पड़ने से सावधान किया। जब रानी को रात्रिकाल में सचमुच तक्षक ने डँसा तो राजा ने अनेक गुणी और मंत्र जाननेवाले बुलाए।

---

१. करुणामय तब नाम धराया। द्वापर युग जब महि में आया ॥

किंतु रानी ने करुणामय का दिया मंत्र जपा और सारा विष दूर हो गया और स्वस्थ होकर बैठ गई। इसके बाद विष्णु रूपी निरंजन ने ज्ञानी अर्थात् करुणामय का वेष छद्मपूर्वक बनाकर अपने दूत को रानी के पास भेजा। किंतु रानी ने जब करुणामय द्वारा चिह्नों और लक्षणों को देखा तो उसे विश्वास हो गया कि यह असल करुणामय नहीं वरन् उनका छद्म रूप है। रानी के रूखे व्यवहार से वह काल का दूत अत्यंत रुष्ट हुआ और रानी को अपने प्रहार से मूर्च्छित कर दिया। उसी समय ज्ञानी जी उसके सहायतार्थ प्रकट हो गए। काल वहाँ से उसी क्षण भाग गया और रानी ने स्वस्थमन हो चैतन्य लाभ किया। रानी की प्रार्थना पर करुणामय ने उसे अपना लोक प्रदान किया। उसके प्रयत्न पर उसके पति राजा को भी अमरलोक मिला। द्वापर के बाद कलियुग में कबीर नाम से अवतार ग्रहण किया। इस प्रकार चारो युगों में कबीरदास ने अवतार ग्रहण किए, काल पुरुष द्वारा प्रताड़ित प्राणियों को उन्होंने उसके पाश से मुक्त किया।

इन सब अवतारों के विवरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कबीर पंथ बहुत कुछ रूढ़िवादी होता जा रहा था। कबीरदास का जन्म, उनकी बाल-क्रीड़ा तथा विभिन्न अवतारों में उनकी चमत्कारपूर्ण क्रियाएँ, सभी उनके उन सिद्धांतों के विपरीत हैं जिनकी घोषणा उन्होंने अपनी वाणी में किया है। सत्यपुरुष की कल्पना कबीर पंथ में सबसे महत् और परात्पर शक्ति के रूप में की गई है। किंतु अनुराग सागर, कबीर मंसूर तथा अन्य दूसरे कबीर पंथी ग्रंथों में स्पष्ट रूप से इनका वर्णन एक शरीरधारी, गुणविशिष्ट व्यक्तित्वसंपन्न रूप में किया गया है।[1] उसी पुरुष के अंश कबीर साहब हैं। दोनों में मूलतः कोई भेद नहीं है। रानी इंदुमती करुणामय और सत्यपुरुष की यह अभिन्नता देखकर चकित हो जाती है—

> कैह रानी यह अचरज आही। भिन्न भाव कछु देखौं नाहीं।
> जो कोई कला पुरुष कहँ देखा। करुणामय तन एक विशेषा॥

कबीर पंथ में अवतारवाद का समावेश उसी प्रवृत्ति का द्योतक है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। सगुण भक्ति के बढ़ते प्रभाव से अपनी रक्षा करने के

---

१. रानी इंद्रमती पुरुष के चरण पकड़ती है—

> पुरुष कांति जब देखेउ रानी। अद्भुत अमी सुधा की खानी।
> गद्गद् होय चरण लपटानी। हंस सुबुद्धि सुजन गुण ज्ञानी॥

—अनुराग सागर, पृ० ६१

लिये कबीर पंथ में उन सब बातों का समावेश किया गया जिनके प्रति सामान्य और श्रद्धालु जनता का आकर्षण हो सकता था, भले ही ये वस्तुएँ कबीरदास के विचारों और आदर्शों के प्रतिकूल रही हों।

सृष्टिप्रक्रिया तथा देवताओं पर विचार करते हुए हम इन प्रवृत्तियों पर विचार कर चुके हैं। उसमें भी स्पष्ट रूप से कबीर पंथ के विचारकों और प्रचारकों का उद्देश्य अपनी चमत्कारपूर्ण कल्पनाओं में हिंदू पुराणों के तुल्य होना है। अब यदि हम लोकमंडल की कल्पना कबीर पंथ के अंतर्गत देखें तो उससे भी इस धारणा की पुष्टि होती है।

कबीर संप्रदाय में विभिन्न लोकों का वर्णन मुहम्मद बोध ग्रंथ में आया है। कबीर साहब और मुहम्मद साहब में परस्पर वार्तालाप होता है। मुहम्मद साहब को सत्यपुरुष का दर्शन कराने के लिये और उनका लोक दिखाने के लिये कबीर साहब उन्हें साथ लेकर विभिन्न लोकों में जाते हैं। काफिर बोध और कबीर मंसूर के अनुसार इन विभिन्न लोकों अथवा मुकामों का वर्णन नीचे किया जाता है।

विभिन्न लोकों की कल्पना

नासूत—कबीर साहब और मुहम्मद साहब सर्वप्रथम नासूत लोक में गए। यह स्थान सुमेरु पर्वत के उत्तर और पृथ्वी से छत्तीस सहस्र योजन ऊँचा है। यहाँ पर दया अंश रहते हैं। यह माया का भी स्थान है। जब मुहम्मद साहब और कबीर वहाँ पहुँचे तो हजरत दाऊद को बैठे जबूर पढ़ते पाया। उन्होंने इन लोगों का स्वागत किया। इसके बाद कबीर साहब आगे बढ़े।

मलकूत—यह स्थान नासूत से चौबीस सहस्र योजन ऊँचाई पर है और पृथ्वी से साठ सहस्र योजन की ऊँचाई पर है। यही बैकुंठ कहलाता है। यहाँ विष्णु का निवासस्थान माना जाता है। यहाँ पर प्रायः सभी देवता उपस्थित रहते हैं। इस विष्णु का ही नाम धर्मराय है। यहाँ पर चित्रगुप्त जी भी रहते हैं जो समस्त संसार में पाप पुण्य का लेखाजोखा रखते हैं। जब यहाँ कबीर साहब मुहम्मद साहब के साथ पहुँचे तो हजरत मूसा को बैठे तारीख पढ़ते पाया। उन्होंने भी इन लोगों का अत्यंत विनम्रता के साथ स्वागत किया।

जिबरूत—यह स्थान झाँझरी द्वीप भी कहा जाता है। यह निर्गुण ब्रह्म अलख निरंजन का स्थान है। यह बैकुंठ से अट्ठारह करोड़ योजन ऊँचा है। यहाँ चार करोड़ ज्योति का प्रकाश है। इस मुकाम में चारों फरिश्ते जिबराइल,

मेकाइल, इसराफील, इजराइल सदा खड़े रहते हैं। सारी आज्ञाएँ यहीं से प्रसारित होती हैं। अद्या और निरंजन इसी स्थान में बैठकर तीनों लोकों का राज्य करते हैं।

लाहूत—यह स्थान अक्षर अंश का है। जिबरूत से यह अट्ठासी करोड़ योजन की दूरी पर स्थित है। यहाँ अक्षर योगमाया शक्ति के साथ निवास करते हैं। कबीर साहब ने मुहम्मद साहब को बतलाया कि यह उनका और उनके खुदा का स्थान है।

हाहूत—यह स्थान एक संख्य योजन शून्य के ऊपर है। यह स्थान अचिंत्य पुरुष का है। वे यहाँ पर सपत्नीक रहते हैं। यह बड़ा ही सुंदर स्थान है। उनके सामने तीन सौ अप्सराएँ नृत्य करती रहती हैं। अचिंत्य पुरुष सर्वथा निर्द्वंद्व रहते हैं।

बाहूत—यह छठा स्थान है। बाहूत और हाहूत के बीच तीन संख्य योजन शून्य और अँधेरा है। इस स्थान में सोहंग पुरुष रहते हैं। सोहंग पुरुष की अर्द्धांगिनी का नाम अधंग है। यह सोहंग पुरुष अपनी शक्तिसहित सिंहासन पर आसीन रहता है। यह सोहंग सोहंग शब्द सर्वत्र व्याप्त रहता है।

साहूत—यह स्थान बाहूत से पाँच संख्य योजन ऊँचा है। दोनों के बीच की यह दूरी शून्य और अंधकार से भरी है। यह इच्छा पुरुष का स्थान है। कहा जाता है कि यहाँ सभी प्रकार की सुख सामग्री भरी है।

राहूत—यह साहूत से चार संख्य योजन ऊँचा है। इस स्थान में अंकुर पुरुष अपनी शक्तिसहित रहते हैं।

आहूत—यह स्थान राहूत से दो संख्य योजन ऊपर है। इस स्थान में सहज पुरुष रहते हैं। सत्यपुरुष के सबसे बड़े पुत्र यही माने जाते हैं।

जाहूत—आहूत और जाहूत के बीच दस संख्य लाख योजन की दूरी है। यही स्थान सत्यपुरुष का है। इसी स्थान से कबीर साहब सत्यपुरुष की आज्ञा लेकर पृथ्वी पर आया करते हैं।

कबीर पंथी पुराणों से कबीर जी या ज्ञानी जी को लेकर हिंदू पुराणों के कुछ अत्यंत परिचित तथा भक्ति के क्षेत्र में ख्यातिलब्ध देवताओं के साथ नए

अलौकिक कथाओं की उद्भावना

आख्यान लिखे गए हैं। इससे कबीर संप्रदाय के आचार्यों का संभवतः यह उद्देश्य रहा होगा कि साधारण भक्त लोग हनुमान, गरुड़ अथवा लक्ष्मण आदि प्रसिद्ध रामभक्तों के प्रति जो आदरभाव रखते हैं वह कबीरदास अथवा कबीर पंथ के लिये भी उपलब्ध हो सके। गरुड़, हनुमान और लक्ष्मण आदि

साकार उपासना के भ्रम में पड़े हुए हैं। ज्ञानी जी जाकर उनको उस भ्रम से मुक्त करते हैं। सत्यज्ञान प्राप्त करने के बाद उनमें अपूर्व शक्ति आ जाती है और वे अनेक प्रकार का चमत्कार दिखाने लगते हैं।

गरुड़बोध नामक ग्रंथ में गरुड़ और ज्ञानी जी के बीच इसी प्रकार की कथा लिखी गई है। सत्यपुरुष ज्ञानी जी को संसार के जीवों को मोह के पाश से मुक्त करने के लिये पृथ्वी तल पर भेजते हैं। यहाँ आते ही उनकी भेंट सर्वप्रथम गरुड़ से होती है। गरुड़ से परिचय के उपरांत ज्ञानी अपने संबंध में कहते हैं—

कह ज्ञानी है नाम हमारा। दीक्षा देन आयऊ संसारा।
सत्यलोक से हम चलि आए। जीव छुड़ावन जग महँ आए।
सत्यपुरुष मोहि आज्ञा दीन्हा। सत्य सब्द हम लेइ तब लीन्हा।

गरुड़ को आश्चर्य हुआ कि सत्यपुरुष कृष्ण को छोड़कर और कौन हो सकता है। इस पर ज्ञानी जी ने समझाया कि सत्यपुरुष अक्षय पुरुष कहा जाता है। वह जन्ममरण के फंदे में कभी नहीं आता। गरुड़ को चिंता हुई कि मैं कृष्ण का वाहन! उनके ऊपर कौन हो सकता है? अपना अविश्वास वे ज्ञानी जी से व्यक्त करते हैं। अंत में ज्ञानी जी ने उन्हें अपना वास्तविक रूप दिखाया। गरुड़ जी चरणों पर गिर पड़े और उनके अधीन हो गए। फिर गरुड़ को उन्होंने विस्तार से ज्ञान समझाया। निर्गुण के सच्चे रूप को उन्होंने गरुड़ को बतलाया। गीता का ज्ञान किस प्रकार आज के पंडित ठीक तरह न समझकर छूतछात के भ्रम में पड़े रहते हैं। उसी प्रकार पूजापाठ का वाह्याचार और जीवों की बलि भी इसी भ्रमात्मक ज्ञान के परिणाम हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी भ्रम को बढ़ाने-वाले और फैलानेवाले हैं। गरुड़ कबीर की बात से अत्यंत प्रभावित हुए। उनकी आज्ञा से समस्त ऋषि, मुनि, देवता, विष्णु, महेश, इंद्र आदि सबको निमंत्रित किया। सभी ज्ञानी जी के प्रकाश को देखकर मुग्ध हो गए। प्रसाद लेकर विस्मय-विमुग्ध सब घर लौटे। ज्ञानप्राप्ति के बाद गरुड़ ब्रह्मा के यहाँ गए। उन्होंने बहुत आदरसत्कार किया। गरुड़ ने जब उन्हें निर्गुण ज्ञान बतलाना शुरू किया तो वे रुष्ट हुए। उन्हें अपनी यह उपेक्षा सह्य नहीं हुई। गरुड़ के बहुत समझाने पर विष्णु को लाने के लिये विमान भेजा गया। विमान से समाचार पाकर विष्णु तुरंत ब्रह्मा के यहाँ आए। फिर शिव को भी बुलाया गया। निर्गुण सगुण को लेकर बहुत वाद विवाद हुआ। विष्णु और शिव तो गरुड़ के मर्म को समझ सके किंतु ब्रह्मा अंत तक विवाद करते रहे। विष्णु और शिव के समझाने से भी जब

ब्रह्मा का अभिमान दूर नहीं हुआ तो वे सब लोग माता के पास गए। माता ने भी सत्यपुरुष का समर्थन किया। ब्रह्मा के पहले के कार्यों का स्मरण कराया गया जब वे पिता का दर्शन किए बिना ही झूठ बोले थे। ब्रह्मा कुछ शांत हुए तो महादेव कुछ अपनी उपेक्षा से रुष्ट हो गए। गरुड़ ने देखा कि इस तरह बात बनती नहीं। कोई अन्य युक्ति करनी चाहिए। बंगदेश का एक ब्राह्मण कुमार था जिसकी आयु समाप्त हो गई थी। उसे गरुड़ ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव के संमुख उपस्थित किया। बालक ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों से अपने बचाने की प्रार्थना की। तीनों ने असमर्थता दिखलाई। इस प्रकार उन लोगों का भारी दंभ दूर हुआ और अपनी सच्ची स्थिति का उन्हें पता चला। फिर गरुड़ उस बालक को जिलाने के लिये मानसरोवर गए। मानसरोवर से पुनः वरुण के यहाँ गए। वरुण ने उन्हें सत्यपुरुष के यहाँ भेजा। वहाँ श्रवण नामक हंस (मुक्त जीवात्मा) से गरुड़ की बहुत वार्ता तथा ज्ञान की चर्चा हुई। बालक अमृत पीकर तृप्त हुआ। इसी तरह वासुकिनाग की कन्या को भी गरुड़ ने ज्ञान दिया और उसका उद्धार किया। कबीर पंथ के पुराणों में गरुड़ की कथा संभवतः रामचरितमानस के प्रभाव से आई है। मानस में गरुड़ और कागभुशुंडि संवाद आया है। कागभुशुंडि द्वारा पूरी रामकथा सुनने पर गरुड़ का संदेह दूर होता है और रामभक्ति में वे पूर्णरूप से निष्णात होते हैं। तबसे गरुड़ की गिनती प्रसिद्ध रामभक्तों में होती है। ऐसे रामभक्त गरुड़ को कबीर की महिमा और भक्ति में आपादमस्तक मग्न दिखलाने में लोगों पर कबीरदास जी और कबीर पंथ का प्रभाव अंकित करना रहा होगा।

इसी प्रकार हनुमतबोध में हनुमान का कबीरदास का धर्मानुयायी होना दिखाया गया है। धर्मदास ने कबीरदास से जिज्ञासा की कि हनुमान अत्यंत अभिमानी माने जाते हैं और उनकी गणना रामचंद्र के अन्यतम भक्तों में की जाती है। वे भी आपके भक्त हो गए। यह कैसे हुआ। कबीरदास ने तब अपने त्रेतायुग की कहानी बतलाई। त्रेतायुग में वे मुनींद्र के रूप में थे। उनकी भेंट हनुमान से हुई। सेतुबंध के समय उनका शरीर वज्र सम दृढ़ हो गया था। उनको मुनींद्र ने सत्यपुरुष का संदेश दिया। फिर पूछा कि आप किसकी पूजा करते हैं। हनुमान ने इसका उत्तर अत्यंत गर्व भरी वाणी में दिया। उन्होंने बतलाया कि उनके समान बल और पराक्रम वाला पृथ्वीतल पर और कोई नहीं है। मैं जैसा चाहूँ वैसा कर सकता हूँ। सभी लोग मेरी इन विशेषताओं से अवगत हैं। हनुमान की यह बात सुनकर मुनींद्र जी ने उन्हें गर्व का त्याग करने की सलाह

दी। उन्हें बतलाया कि समस्त सृष्टि में वे सबसे बड़े समर्थ सत्यपुरुष हैं। उनको काल स्पर्श नहीं कर सकता। तुम रामचंद्र के भक्त हो। यही सही है। किंतु तुम्हें सत्यपुरुष की महिमा का ज्ञान नहीं है। तुम जिनकी सेवा करते हो उन्हें भी शांति और चैन नहीं। किंतु मुनींद्र जी का यह उपदेश सुनकर हनुमान संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट कहा कि मैं राम का भक्त रहा हूँ और रहूँगा। उनके जैसा प्रताप और किसी का तीनों लोकों में नहीं है। उन्होंने समुद्र पर पत्थर तैराया। फिर हनुमान अपनी उत्पत्ति और माता पिता के संबंध में बतलाए। उनकी उत्पत्ति वीर्य और गर्भ से नहीं हुई थी। गौतम की पत्नी अहिल्या की पुत्री अंजनी थी। वह जंगल में कुटी बनाकर एकांतवास करती थी। एक बार वहाँ साधु का वेश धारण कर शिव जी पहुँचे। शिव ने आते ही पीने के लिये पानी माँगा। तब अंजनी ने जल उनके समक्ष ला रखा। तब शिव जी ने कहा कि तुम तो अभी तक गुरु से दीक्षित नहीं हो। मैं साधु तुम्हारे हाथ का पानी कैसे पीऊँ। तब अंजनी ने कहा महाराज, इस एकांत जंगल में मैं गुरु कहाँ ढूँढूँ। तब शिव ने तत्काल दीक्षा देने के लिये अपनी सहमति दी। उस समय शिव के पास शृंगी था। उसी से अंजनी के कान फूँकते किंतु उन्होंने छल से उसके कान में अपना वीर्य डाल दिया। उसी से यह हमारी देह उत्पन्न हुई और कान के ही मार्ग से मेरा अवतरण भी हुआ। मेरा शरीर इसी कारण वज्र के समान कठोर और दृढ़ है। हे मुनींद्र जी, आप न जाने किसे समर्थ कहते हैं। मैं तो केवल राम को ही समर्थ मानता हूँ। जो राम तीनों लोकों में पूज्य हैं, उनके समान और कौन हो सकता है। सारा ज्ञान और कार्य राम के बिना फीका है। अतः आप भी उसी राम की भक्ति कीजिए। तब मुनींद्र ने पुनः उन्हें समर्थ सत्यपुरुष के संबंध में थोड़ा विस्तार के साथ बतलाया। तुम अपने को यती कहते हो। छः यतियों में तुम्हारा स्थान सबसे नीचे है—कातिक, भीष्म, शंकर, गोरख, लक्ष्मण और हनुमान ये ही छः यती हैं। किंतु ये सभी काल के चारा हैं। उस सत्यपुरुष की गति ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी नहीं जानते हैं और काल से जिसको बचना हो, वह सत्यपुरुष की शरण में जाय। तब हनुमान ने उत्तर दिया कि काल की हमें कोई चिंता नहीं क्योंकि काल ही तो स्वयं ज्योतिपुंज निरंजन है जिसकी माया तीनों लोकों में व्याप्त है। तीनों देवता उसकी पूजा करते हैं। उसकी कथा अपार है। मेरा पौरुष जगत्विख्यात है। जन्म लेते ही मैंने सूर्य को निगल लिया। माता के कहने पर तो उसे छोड़ा। मैंने समुद्र पार किया। द्रोणगिरि को अपनी भुजाओं पर उठा लाया। मुनींद्र सब बात सुनते रहे। फिर उन्होंने हनुमान से कहा कि

जिस समय की बात मैं कर रहा हूँ वह आपके निरंजन से भिन्न है। वह उससे सर्वथा पृथक् और बहुत महिमावान् हैं। यह सुनकर हनुमान की जिज्ञासा बढ़ी। उन्होंने मुनींद्र जी से उनके संबंध में पूरा बतलाने के लिये कहा। मुनींद्र ने हनुमान को सृष्टि की उत्पत्ति से सारी बातें बतलाईं। सुनकर हनुमान ने कहा कि बिना देखे मैं किस प्रकार आपकी बात का विश्वास करूँ। यह जान मुनींद्र जी ने अपना चमत्कार दिखाया। वे वहीं पर लुप्त हो गए। असंख्य चंद्रमा और सूर्य का प्रकाश उन्हें दीख पड़ा किंतु उसमें मुनींद्र नहीं दिखाई पड़े। तब हनुमान उनके वियोग से दुखी होकर उन्हें पुकारने लगे। तब मुनींद्र पुनः वहाँ प्रकट हुए। उन्होंने हनुमान को समझाया कि सारी सृष्टि के मूल में मैं हूँ। निरंजन तो जो कुछ है, मेरी सेवा करके हुआ है। उसका नाम काल और धर्मराय भी है। यह सब देखने और सुनने के बाद हनुमान भी मुनींद्र के भक्त हो गए। मुनींद्र ने सद्पुरुषों के लक्षण तथा अन्य प्रकार के ज्ञान हनुमान को बतलाए। इस प्रकार हनुमान अपने मोहबंधन को काटकर सत्यपुरुष के भक्त हुए।

लक्ष्मणबोध में और भी बहुत सी कथाएँ हैं। लक्ष्मणबोध में लक्ष्मण का प्रसंग केवल वहीं आया है जहाँ पर ज्ञानी जी रावण से मिलकर वन में राम लक्ष्मण के यहाँ जाते हैं। उस समय सीता का हरण हो गया था। राम और लक्ष्मण अत्यंत चिंता में थे। जब लक्ष्मण ने मुनींद्र जी को देखा तो वे दौड़कर उनके चरण पर गिर पड़े। अपनी सारी कष्टकथा उन्होंने सुनाई। सुनकर मुनींद्र जी को दया आई। उन्होंने समस्त शिला को काठ के समान हल्का बना दिया और राम, लक्ष्मण और उनकी सेना समुद्र पार हुई।

इन देवताओं संबंधी कथाओं के वर्णन से तो हिंदू देवताओं और भक्तों के ऊपर कबीरदास जी का प्रभाव दिखलाना था। इसके अतिरिक्त सामान्य चमत्कार संबंधी कहानियाँ तो कबीर साहब, ज्ञानी जी आदि को लेकर कई हैं। वीरसिंह बोध और अमरसिंह बोध ग्रंथों में इन दोनों राजाओं पर कबीर द्वारा पड़नेवाला प्रभाव वर्णित हुआ। अपने समय के ये दोनों परम प्रतापी राजा थे किंतु कबीर साहब के ज्ञान और प्रताप से अंततः प्रभावित होकर उनके अनुयायी हो गए।

पौराणिक प्रवृत्तियों में स्वर्ग और नरक की कल्पना भी मुख्य है। सभी धर्म के पुराणों में पुण्यात्माओं को स्वर्गसुख की प्राप्ति दिखाई गई है और पापात्माओं को नरक की यंत्रणा भोगते हुए दिखाया गया है। इसमें हर जगह

यही दिखाया गया है कि स्वर्ग वह स्थान है जहाँ मनुष्य को सभी प्रकार के वे सुख उपलब्ध हैं जिनकी कल्पना और इच्छा वह मानव जीवन में करता रहता है।

स्वर्ग-नरक की कल्पना

शारीरिक और ऐंद्रिय सभी प्रकार के सुख इस स्वर्ग में प्राप्त होते हैं। अतः प्रकारांतर से मनुष्य के संमुख स्वर्ग के सुख का प्रलोभन रखकर उसे उचित अथवा धर्मानुकूल आचरण की ओर प्रवृत्त किया जाता है। इसी तरह अनेक प्रकार की नारकीय यंत्रणा का वर्णन करके उसके हृदय में भय का संचार किया जाता है जिससे वह पापकार्य और धर्मविरुद्ध आचरण की ओर न जाय। कबीर पंथ में उपरिलिखित जिन लोकों का वर्णन किया गया है वे सब स्वर्ग की विभिन्न कोटियों के रूप उपस्थित करते हैं। उसी प्रकार अमरसिंह बोध में नरक का भी वर्णन अच्छी तरह किया गया है। उसका भी वर्णन उतना ही रोमांचकारी और भयप्रेरक है जितना हिंदू ग्रंथों में आया है।

कबीर की आज्ञा पर राजा अमरसिंह को यमराज के दो दूत नरक का दृश्य दिखाने के लिये ले जाते हैं। नरक के अनेक और बीभत्स दृश्य थे। वहाँ कोई कोल्हू में पेरा जा रहा था। किसी का शिर नीचे कर झुलाया जा रहा था। एक जीव को पकड़कर बहुत से चबा रहे थे। भागने की चेष्टा करके भी वह भाग नहीं पा रहा था। किसी को कुंड में डालकर शिर पर मोंगरी से पीट रहे थे। किसी कुंड में रक्त और किसी में पीव भरी थी। एक योजन गहरे तक वे कुंड मूत्र से भरे थे। इन कुंडों की दुर्गंधि चार योजन तक व्याप्त थी। उसी में बहुत से जीव पड़े हुए कीड़े की तरह बिलबिला रहे थे। पाँच लाख योजन गहरा अग्नि का कुंड है, उसमें पापी जीव जल रहे थे। झूठी बात कहनेवालों की जीभ काट ली गई थी। झूठी बांह दिखानेवाले टूटा हो गए थे। अगर कोई झूठी गवाही करता था तो उसकी जीभ को साँप से कटवाया जाता था। जो स्त्री अपने पति को छोड़ परपुरुष का सहवास करती थी उसे अग्निपुरुष के साथ रहना पड़ता था। उसी तरह का दंड पुरुष को भी दिया जाता था। एक जीव खड़ा था। उसे गीध और कौवे नोच रहे थे। मदिरा पीनेवालों को तप्त तेल पिलाया जा रहा था। जो मांसाहारी व्यक्ति थे उन्हें जलता हुआ लोहा खिलाया जा रहा था। जो झूठी पंचों में झूठी शपथ खाते हैं अथवा संत साधुओं की निंदा करते हैं वे गलित कुष्ठ से पीड़ित थे। इन सब दृश्यों को देखकर राजा तो घबड़ा गए। उन्होंने लौटकर कबीरदास जी का चरण पकड़ा और मुक्ति के लिये उनकी शरण की प्रार्थना की। इसके बाद स्वयं कबीरदास जी धर्मदास से

अनेक प्रकार के किए कर्मों के परिणामस्वरूप विविध नरकों का वर्णन करते हैं— जो लोग ब्रह्महत्या करते हैं उन्हें कुंभीपाक नरक मिलता है। स्त्रियों को मारकर गर्भपात करनेवालों को तेल के कोल्हू में डालकर उनके शरीर को पेरा जाता है। जो गुरु को पीड़ा देते हैं उन्हें छुराधार से मारा जाता है। जो चोरी की वृत्ति से जीविकोपार्जन करते हैं उन्हें कठिन से कठिन कष्टप्रद स्थान में रखा जाता है। जो लोग भगवान की चर्चा सुनकर मन में दुखी होते हैं उनकी देह कूकर खाते हैं। जो निर्बल व्यक्ति और मित्र को कष्ट देते हैं वे अंगारों में सुलाए जाते हैं। जो गुरु व्यभिचारी हो और शिष्य की शंका का ठीक तरह से समाधान नहीं करता है वह अंधकूप में डाला जाता है। जो दूसरों को अप्रिय बात कहते हैं उनको कर्ण-छेदन का कष्ट दिया जाता है। देवता, साधु और ब्राह्मण का धन चुरानेवाले सूचीमुख नरक में जाते हैं। जो धर्मशास्त्र, तीर्थ और हरिजनों की निंदा करता है उसे पहले कांटों पर बिठाया जाता है और मुग्दर आदि से पीटकर कुत्ता आदि के खाने के निमित्त छोड़ दिया जाता है। दूसरे प्रकार के पापियों को ताम्र की भूमि पर खूब प्रचंड आग जलाकर बिलकुल प्रलयंकर दाह उत्पन्न कर उसमें जलने के लिये छोड़ दिया जाता है। जो लोग मदिरा का पान करते हैं, मांस खाते हैं और साथ ही दूसरे भी दुराचार करते हैं उन्हें मार मार तप्त तेल पिलाया जाता है और जब रोते हैं तो ऊपर से भी तप्त तेल गिराया जाता है। फिर उन्हें तलवार के बने पत्तों वाले जंगल से चलाया जाता है। इस तरह कबीरदास जी ने और भी अनेक तरह की नारकीय यंत्रणाओं का वर्णन किया। यह सब सुन धर्मदास अत्यंत व्याकुल हो गए। मुख पर पसीना छा गया। गुरु के समझाने पर तो वे आश्वस्त हुए।

कर्मकांड का संनिवेश

निर्गुण मत में आगे चलकर जब इसका सांप्रदायिक संगठन हुआ तो अनेक प्रकार की पूजापद्धति, संस्कार और रीतिपरंपराएँ बन गईं। नित्य नैमित्तिक जीवन में, दीक्षा और प्रसाद वितरण में अनेक ऐसी रूढ़िबद्ध क्रियाएँ प्रचलित हुईं जो कबीर अथवा निर्गुण संतों के मूल विचार से सर्वथा पृथक् हैं। यहाँ पर पूजा, आराधन, रहनसहन तथा अन्य धार्मिक उत्सवों में बरती जानेवाली प्रथाओं का वर्णन रेवरेंड वेस्टकॉट द्वारा लिखित 'कबीर ऐंड कबीर पंथ' पुस्तक के 'द कबीर पंथ' शीर्षक दो अध्यायों के आधार पर दी जाती हैं। इसमें लेखक ने परिश्रमपूर्वक इस तरह के विधिविधानों का अच्छा संग्रह किया है।

कबीर पंथ की मुख्य रूप से दो शाखाएँ मानी जाती हैं। एक तो बनारस

की कबीरचौरा शाखा और दूसरी धर्मदासी शाखा बांधवगढ़ में। उत्तरी भारत में कबीरचौरा के अतिरिक्त एक छोटी शाखा मगहर में भी है जहाँ कबीरदास का देहांत हुआ था। पुरी में भी एक कबीर मठ है जिसका संमान दोनों ही शाखा के अनुयायी करते हैं। इन दोनों ही शाखाओं के प्रारंभ की ठीक तिथि नहीं बतलाई जा सकती।

मगहर में इस समय हिंदू और मुसलिम दो मठ हैं। प्रत्येक मठ में जो एक दूसरे से मिले हैं, करीब पचास साधुओं के निवास की सुविधा है। मुसलिम मठ में अगहन महीने की अंतिम तिथि को एक मेला होता है जिसमें एक पवित्र भोज की व्यवस्था की जाती है। महंत और उसके पीछे दीवान मजार तक जाते हैं। महंत हाथ में तंबा लिये रहता है जिसमें पकाई हुई खिचड़ी रहती है। एक आदमी मिट्टी के पात्र में पानी लिए रहता है जो सफेद कपड़ा से ढका रहता है। समाधि पर पहुँचकर खिचड़ी और पानी जमीन पर रख दिए जाते हैं। फिर गाय के कंडे में सुगंधि डालकर आग जलाई जाती है। महंत कुछ विनय के पद कहता है और सब लोग उसको उसके साथ कहते हैं। इसकी समाप्ति के बाद महंत भी जमीन पर बैठ जाता है। थोड़ी खिचड़ी और कुछ बूंद पानी दोनों ही पात्रों को दिया जाता है। तत्पश्चात् महंत वहाँ से चला जाता है और समारोह भंग हो जाता है। जो वहाँ धर्मालु व्यक्ति उपस्थित रहते हैं उनसे एक रुपया और कुछ चावल दाल इस अवसर पर लेने की प्रथा है।

कबीरचौरा में, उसी स्थान पर कहा जाता है कबीर ने उपदेश दिया था। इसमें वह कमरा जो गद्दी का है, प्रवेश द्वार के बिलकुल सामने है। गद्दी के ऊपर कबीरदास जी का चित्र टँगा है। उस चित्र में धरमदास और सुरतगोपाल भी कबीरसाहब के सामने घुटना टेके दिखाए गए हैं। रामानंद का भी एक चित्र उसमें टाँगा गया है। पहले कहा जाता है कि यहाँ कोई मंदिर नहीं था। किंतु हिंदू प्रभाव के कारण एक मंदिर है जिसमें काठ की बनी चरणपादुका रखी रहती है। मठ में नित्य प्रातः और सायंकाल पुजारी पूजा करता है। प्रातःकाल सभी साधु स्नान करने के उपरांत मंदिर के द्वार पर एकत्र होते हैं। पहले आरती की जाती है और गुरु के चरण धोए जाते हैं। इसके बाद दूसरी समाधि और गद्दियों पर लोग जाते हैं। तब साधु फिर मंदिर में पूजा की समाप्ति के लिये लौटते हैं। प्रातःकाल की पूजा में करीब आधा घंटा और सायंकाल करीब एक घंटा लगता है।

जिस जल में चरण पादुका धोई जाती है वह चरणामृत कहा जाता है। वह जल एक ताम्रपात्र में रखा जाता है। तीन चंमच पानी और तीन तुलसीपत्र उन सभी व्यक्तियों को दिया जाता है जो मठ में दिन के समय आते हैं। ८ बजे रात्रि में मठ के द्वार बंद हो जाते हैं और जो भी चरणामृत रहता है वह उन साधुओं को बाँट दिया जाता है जिन्हें नहीं मिला होता है। तब वह पात्र महंत को दिया जाता है जो अवशिष्ट अंश को पी जाता है। फिर बर्तन को धोकर उसे भी पी जाता है।

यहाँ का वार्षिक मेला चार दिन तक चलता है। यह जनवरी में होता है। इस समय काफी भीड़ होती है। ऐसे लोग जो वैरागी होना चाहते हैं, बारह दिन तक उपवास रखते हैं। केवल दूध और गुड़ में पकाई खीर खाते हैं। जोत परसाद के समय वैरागियों को दीक्षा दी जाती है। मठ में रखी टोपी, सेल्ही और कबीरदास का चित्र, इनको कबीरपंथी बहुत महत्व देते हैं। मठ के मुख्य अधिकारी महंत दीवान और कोतवाल होते हैं। महंत मठ की पूरी व्यवस्था करता है। उसे ज्ञानी होना चाहिए जिससे वह दीक्षा और उपदेश दे सके। दीवान के जिम्मे व्यवस्था और प्रबंध रहता है। कोतवाल सुरक्षा और अनुशासन को देखता है। पुजारी का कार्य पूजा करना, मंदिर और गद्दी की स्वच्छता देखना है।

कबीर पंथ की दूसरी शाखा बांधवगढ़ वाली है, जिसके प्रवर्तक धर्मदास कहे जाते हैं। कहा जाता है धर्मदास की पहली भेंट कबीर साहब से बनारस में हुई थी। उन्होंने मूर्तिपूजा करने के लिये धर्मदास की भर्त्सना की। फिर वृंदावन में भेंट हुई। किंतु धर्मदास उन्हें पहचान नहीं पाए। कबीर ने इस बार धर्मदास की पाषाण मूर्तियों को नदी में फेंक दिया। तीसरी बार कबीरदास उनके घर बांधवगढ़ में प्रकट हुए। धर्मदास जाति के बनिया थे। इस बार कबीरदास ने पुनः उन्हें चिताया। कहा कि तुम्हारी मूर्ति भी पत्थर की है और तुम्हारा तौल भी उसी का है। एक को तुम देवता मानते हो और दूसरे को साधारण पत्थर। इस बार धर्मदास और उनकी पत्नी सचेत हुईं। उन्होंने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। कहा जाता है, कबीरदास ने धर्मदास को आशीर्वाद दिया था कि ४२ पीढ़ी तक गद्दी उनके वंश में सुरक्षित रहेगी।

जैसे ब्राह्मण जनेऊ पहनते हैं, उसी प्रकार कबीरपंथी कंठी पहनते हैं, जो तुलसी की बनी होती है। यह कंठी पंथ के स्त्री और पुरुष दोनों धारण कर सकते हैं। यह कंठी कभी कभी गिर पड़ती है तो उसके स्थान पर कोई बड़ी गुरिया भी

धारण कर सकते हैं। जब किसी व्यक्ति को दीक्षा दी जाती है तो उसे गुरु द्वारा दिए मंत्र को किसी दूसरे से बतलाना नहीं चाहिए। इसके अतिरिक्त कबीरपंथी अपने ललाट पर अपने पंथ का सूचक टीका भी लगाते हैं।

पंथ के जो सदस्य होना चाहते थे उन सभी को बहु देववाद छोड़ना पड़ता था। उन्हें मांस और मदिरा का सर्वथा त्याग करना पड़ता था। नित्य स्नान और ईश्वरप्रार्थना अनिवार्य थी। तीन बार तक जो उनका अहित करे उन्हें क्षमा करना, दुराचारी स्त्रियों से सभी प्रकार का संपर्क तोड़ना, अपने घर से अपनी वैध पत्नी को कभी न निकालना, कभी असत्य भाषण न करना, किसी दूसरे व्यक्ति की जायदाद का अपहरण न करना, किसी के विरुद्ध झूठ साक्षी न देना—ये सभी कार्य कबीर पंथ के अनुयायियों के लिये आवश्यक थे।

कबीर पंथ के दो आधार थे—गृहस्थ जीवन बिताते हुए पंथ का आभार स्वीकार करना और संसार को सर्वथा त्याग कर विरक्त हो किसी मठ में जीवन व्यतीत करना। पिछले वर्ग के व्यक्ति वैरागी कहे जाते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों को दो वर्ष का समय परीक्षण काल के रूप में बिताना पड़ता था। उसमें सफल होने पर वे वैरागी मान लिए जाते थे। पथ की कई शाखाएँ विभिन्न स्थानों में फैली थीं और प्रत्येक में एक महंत होता था। महंत साल के अधिकांश समय में शिष्यों के यहाँ जाते रहते थे। प्रत्येक शिष्य के धर्माचरण को देखना और उसे बराबर ठीक मार्ग पर ले जाना भी उनका कर्तव्य था। प्रत्येक शिष्य का कर्तव्य गुरु को मार्गव्यय और उसके भोजन और आवास का प्रबंध करना होता था। छोटे महंत बड़े महंत के यहाँ वर्ष में एक बार जाते थे तो वे अपनी ओर से उसे बारह नारियल और बारह रुपये उसे देते थे और साल में दीक्षित प्रत्येक शिष्य की ओर से एक रुपया और एक नारियल आता था। नारियल का कबीर पंथ में काफी महत्व है। वेस्टकांट ने इसका कारण दिया है (१) नारियल का आकार मनुष्य के चेहरे से मिलता है। (२) इसकी सतह तीन भागों में विभाजित है जिससे ब्रह्मा, विष्णु और महेश का बोध होता है। (३) इसका गूदा भी मनुष्य के मांस की तरह बनता है। (४) दूसरे फलों से इसमें यह अंतर है कि इसमें बीज नहीं होता। नारियल को तोड़कर निरंजन को बलि देने में किसी प्रकार की हिंसा की भावना नहीं आती।

कबीर पंथ में चरणामृत और परवाना शब्द का प्रयोग बहुत रूढ़ हो गया है। चरणामृत वह जल है जिससे प्रधान गुरु या महंत का चरण धोया जाता है

परवाना उस पान को कहते हैं जो जोत परसाद के समय विशेष रूप से तैयार किया जाता है। रात्रि के समय एक धातुपात्र को बाहर रख दिया जाता था जिसमें ओस कणों को संचित किया जाता था जिसे अमर कहा जाता है। महंत प्रातःकाल चिंतन करता हुआ उसी जल से उस पात्र पर परमेश्वर का नाम लिखता है। पान की पत्तियाँ इस प्रकार पवित्र हो जाती हैं। इस प्रकार यह परवाना कबीर साहब के शरीर का अंग माना जाता है।

दीक्षा का संस्कार अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। शिष्य को प्रति वर्ष गुरु के संमुख आवश्यक प्रतिज्ञाएँ दुहरानी पड़ती हैं और उसे सभी प्रकार के व्यवहार के सदासद परिणाम को भी बता दिया जाता है। इसके बाद भजन के गान के बीच में गुरु आधा मंत्र शिष्य के कान में बहुत धीरे से कहता है। फिर शिष्य की अंजलि में वह कुछ तृण, पान तथा सफेद फूल रखता है। इसके पश्चात् एक बैरागी एक पीतल के बर्तन में जल लेकर उस शिष्य को कमरे के दूसरे कोने में ले जाता है जहाँ घास फूल आदि रख दिए जाते हैं और उसकी अंजलि में बैरागी अपने पात्र से पानी उड़ेलता है। पहली अंजलि के पानी से वह कुल्ला करता है। दूसरी अंजलि से मुँह धोता है। इसके बाद शिष्य फिर गुरु के समीप ले जाया जाता है। महंत तब एक कंठी बैरागी को देते हैं। बैरागी उस कंठी को समारोह में उपस्थित सभी सदस्यों को देता है। सबके स्पर्श के बाद उस कंठी को वह पुनः महंत को लौटा देता है। महंत उस कंठी को अपने खुले हाथ में लेकर गद्दी को नमस्कार करता है। फिर उसे दोनों हाथ में लेकर गुरु शिष्य के शिर पर होते हुए उसकी गर्दन पर डाल देता है जो उसके संमुख नतमस्तक रहता है। दीक्षासंस्कार के अंत में शिष्य के दाहिने कान में गुरु संपूर्ण मंत्र धीरे से कहता है। इसके बाद शिष्य को गूलर का फल खाने से दृढ़ता के साथ मना किया जाता है। संभवतः गूलर के फल के अंदर बहुत से कृमि और जीव रहते हैं। अतः जीवहिंसा से बचने के लिये यह कहा गया है। तब अनेक प्रकार की भोज्य सामग्री से जो कपड़े से ढकी रहती है, महंत एक नारियल निकाल लेता है और उसे शिष्य के हाथ में रखता है जो सीना, कंधा, और ललाट का स्पर्श करता है और उसे एक रुपये दक्षिणा के साथ गुरु को लौटा देता है। तब पान की पत्ती से नारियल को धोकर उसे एक पत्थर पर फोड़ा जाता है। फिर एक चाकू से उसकी गिरी को कई टुकड़ों में काटकर एक खुले बर्तन में गुरु रखता है। फिर शिष्य के हाथ पर वह थोड़ा सा चरणामृत उड़ेलता है जिसे वह श्रद्धापूर्वक पीता है। फिर महंत एक पान की पत्ती लेकर और उसपर नारियल का एक टुकड़ा थोड़ा बताशा,

गुड़, मुनक्का और किशमिश शिष्य के हाथ पर रखता है जो उसे खा जाता है। इस तरह शिष्य के दीक्षित हो जाने के पश्चात् वहाँ उपस्थित सभी व्यक्ति पान, नारियल, बताशा का प्रसाद पाते हैं। जो पंथ के सदस्य नहीं हैं वे नारियल की गिरी नहीं खा सकते। दीक्षा समारोह के बाद एक दावत दी जाती है जिसमें पंथ के बाहर के लोग भी आमंत्रित किए जा सकते हैं जिसमें परमेश्वर और कबीर का भजन और कीर्तन होता है।

इस संस्कार को तिनका अर्पण भी कहते हैं। धर्मदासी शाखा में शिष्य को केवल एक बार नारियल और एक रुपया देना पड़ता है किंतु कबीरचौरा शाखा में सोलह नारियल और प्रत्येक के साथ कम से कम चार आने देने पड़ते हैं। तिनका अर्पण धर्मदासी शाखा में दुहराया नहीं जाता किंतु कबीरचौरा के बड़े महंत द्वारा फिर से यह कार्य आंशिक रूप से होता है क्योंकि धर्मदासी शाखा के प्रत्येक मठ के महंत को तिनका अर्पण का अधिकार दिया गया है किंतु कबीरचौरा शाखा में दीक्षा तो कोई भी बैरागी दे सकता है, किंतु वह तिनका अर्पण नहीं कर सकता।

कबीर पंथ के प्रायः सभी सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे प्रत्येक रविवार को और प्रत्येक महीने की पूर्णमासी को व्रत रखें। सायंकाल स्नान के पश्चात् ८ बजे चौका (धार्मिक भोज) में संमिलित हों। एक जगह करीब ५ या ६ गज लंबाई चौड़ाई की जमीन नाप ली जाती है, इसकी पूर्णतः सफाई हो जाती है। बीच में एक ढाई वर्गगज की जमीन विशेष रूप से साफ करके उसपर आटा डाल दिया जाता है और बीच में कुछ फूल रख दिए जाते हैं और वहीं भजन की पुस्तक भी रख दी जाती है। महंत उस घेरे के अंदर बैठता है जिससे उसका मुख उपस्थित लोगों के सामने पड़ता है। महंत की दाहिने तरफ एक धातु का बर्तन रहता है जिसमें परवाना और चरणामृत रहता है। एक दूसरा पात्र जिसमें १२५ पान की पत्ती उसके किनारे किनारे रखकर बीच में एक पत्ती पर कपूर रखते हैं। तीसरे पात्र में रूई की लंबी बत्ती बनाकर उसे किसी के सहारे खड़ाकर घी डालकर जलाते हैं। महंत की बायीं तरफ एक तश्तरी में बताशा और गुड़ दूसरी में नारियल और तीसरे ताम्रपत्र में पानी रखा जाता है। चौका के भीतरी घेरे में प्रत्येक कोने पर एक मिट्टी के घड़े में पानी भर कर रखा जाता है। उसपर एक मिट्टी की ढँकनी रहती है जिसमें अनाज और तीसी के तेल का दीपक रखा रहता है। सारे संस्कार के अंत में महंत घी का दीपक जलाता है। फिर

एक पत्थर के टुकड़े पर कपूर को जलाता है। फिर एक नारियल लेकर उसपर वह जल छोड़ता है और उसी पत्थर पर उसे तोड़ता है। फिर पान के पात्र के बीच में रखे कपूर को वह जलाता है। जब तक कपूर जलता है उसे उपस्थित व्यक्तियों में घुमाया जाता है जो उसमें कुछ पैसे दक्षिणा डालते हैं। एक चाकू की सहायता से महंत नारियल की गिरी को काटता है और उसे एक बर्तन में रखता है। उपस्थित व्यक्ति एक एक महंत के यहाँ आते हैं जो उनकी हथेली पर एक पान का पत्ता, नारियल का टुकड़ा, थोड़ा गुड़ और बताशा रखता है। फिर इसके बाद कुछ प्रार्थना अपने मन में करता है और कुछ जोर से करता है और फिर अंत में सबको एक छोटा उपदेश देकर समारोह का अंत करता है। प्रायः प्रातः ३ बजे यह चौका का पूरा समारोह समाप्त होता है।

चौका के बाद जोत परसाद का भी धार्मिक संस्कार होता है। महंत का भृत्य घी के दीपक का सामान (डफ) कुछ आटा, घी और कुछ नारियल के टुकड़े लेकर सबको सान देता है। महंत उसी में से दो दो इंच की छोटी पूड़ियाँ बनाता है। फिर भक्तों को पुकारता है कि जोत परसाद तैयार है। सबके आने पर एक छोटा उपदेश देता है और भजन और प्रार्थना करने पर जो अपने को पवित्र और योग्य समझते हैं, गुरु के समीप जाते हैं जिनकी हथेली पर वह चरणामृत, परवाना देता है। उसे ग्रहण करने पर फिर एक छोटी टिकिया जो परसाद की बनी होती है, दी जाती है। फिर भक्त दीवान के यहाँ जाता है जो एक ताम्रपत्र से कुछ पानी की बूँदें उनकी हथेली पर डालता है और भक्त उसे ग्रहण करता है। बाद में एक नौकर पानी देता है जिससे सब लोग हाथ और मुँह को साफ करते हैं। इस प्रसाद को लोग कबीर का विशेष प्रसाद मानते हैं और उनका विश्वास है कि जिसे यह मिलता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

किसी कबीरपंथी की मृत्यु के बाद दो नारियल तुरंत खरीदे जाते हैं। एक तो नाई शव के साथ श्मशान अथवा समाधि पर उसकी बगल में रखता है। दूसरा सुरक्षित रख दिया जाता है और उसका उपयोग उस अवसर पर होता है जब मृत व्यक्ति का चौका किया जाता है। अन्य चौका तथा मृत व्यक्ति के चौका में यह अंतर होता है कि साधारण चौका में सफेद आटा जमीन पर डाला जाता है और मृत व्यक्ति के चौका में कोई लाल चीज जमीन पर डाली जाती है। सफेद कपड़े का एक टुकड़ा भी चौका में फैला दिया जाता है जो मृत व्यक्ति का बोधक होता है। फिर महंत मृत व्यक्ति की सकुशल स्वर्गयात्रा के लिये कुछ प्रार्थना करता है। वह नारियल जो विशेष रूप से इस अवसर के लिये रखा

रहता है, महंत उसे धोता है। धोने के बाद वह उसके किसी संबंधित व्यक्ति को ही वह नारियल दिया जाता है। वह आदमी अपने ललाट और वक्ष पर उसे स्पर्श कर दक्षिणा के साथ लौटा देता है। महंत उसे उस पत्थर पर तोड़ता है जिस पर कपूर जलता रहता है। नारियल की संख्या एक और नौ के बीच मृत व्यक्ति के संबंधियों के शक्ति के अनुसार होती है। नारियल की गरी और मैदा मिलाकर उसकी टिकिया बनाकर वैरागी लोग कबीरपंथियों के घर बाँटते हैं।

ऊपर दीक्षा, मठ, मृत्यु आदि सभी संस्कारों का वर्णन जिस रूप में हुआ है उससे स्पष्ट हो जाता है कि पंथ में कुछ विशेष प्रकार की क्रियाएँ, प्रथाएँ और आचार प्रचलित हो गए थे जिनका मूल कबीर वाणी से कोई संबंध नहीं था। सांप्रदायिक संगठन बनाने के लिये पौराणिक परंपराएँ, विधियाँ और कथाएँ आवश्यक ही नहीं, प्रायः अनिवार्य ही हैं। उनके बिना समाज को दृढ़ता के साथ बाँधना कठिन है। इस पौराणिक प्रवृत्ति के पीछे पुरोहितवाद, न्यस्त स्वार्थ और अंध आस्था प्रेरकशक्ति के रूप में रहती है।

निर्गुण संप्रदाय में पौराणिक प्रवृत्तियों के दो रूप हम पाते हैं। एक तो आख्यान ग्रंथों की रचना जिसमें अलौकिक और चमत्कारपूर्ण कथाओं के द्वारा कबीर के व्यक्तित्व में परम शक्ति और ईश्वरी प्रतिभा की स्थापना और मठ, महंत तथा अनेक कर्मकांडों की अवतारणा। यह प्रयास समाज के निचले वर्ग के लोगों को कबीर संप्रदाय की ओर आकर्षित करने के लिये था। कहने की आवश्यकता नहीं कबीर और दूसरे निर्गुण संतों की वाणी का प्रचार निचली जातियों और अशिक्षित जनता में हुआ था। उस वर्ग को प्रभावित करने के लिये उसी प्रकार के ग्रंथों की आवश्यकता थी।

दूसरा रूप ज्ञानमूलक और भक्तिपरक ग्रंथों की रचना का था। इन ग्रंथों में दर्शन और भक्ति के गंभीर विषय को लेकर बोधसागर लिखा गया है। अन्य ग्रंथों की तरह यह भी कबीरदास तथा धर्मदास जी के संवाद के रूप में लिखा गया है। यह ग्रंथ निरंजनबोध, ज्ञानबोध, भवतारणबोध, मुक्तिबोध, चौका-स्वरोदय, कबीरबानी, कर्मबोध और अमरमूल नाम की उपपुस्तकों में बँटा है। इनमें से अधिकांश में कबीर पंथ की सांप्रदायिक, दार्शनिक और भक्ति विषयक मान्यताएँ उपस्थित की गई हैं।

●

दशम अध्याय

उपसंहार

१०

उपसंहार

निर्गुण साहित्य को प्रेरणा देनेवाली सांस्कृतिक शक्तियों के रूप का परिचय देते हुए हमने एक अत्यंत महती विचारधारा की अनेक गतिविधियों, मोड़ों, संगमों और बिखराव को देखा। देश के ऐतिहासिक काल से उस समय तक के इस कालप्रसार को देखते हुए हमने भारतीय चिंता के निरंतर विकासोन्मुख रूप से भी परिचय प्राप्त किया। इस देश के धनधान्य, प्रकृति की उर्वरता और धरती की अगाध संपन्नता से आकृष्ट होकर न जाने कितने प्रकार की जातियाँ, धर्म और संस्कृतियाँ आईं, संघर्ष हुए किंतु कुछ काल बाद ही देश की प्रतिभा संतुलन और समन्वय का मार्ग ढूँढ़ निकालती और समन्वित रूप से भौतिक और वैचारिक संपन्नता का प्रयास आरंभ हो जाता। यहाँ भी स्वार्थी वर्ग का जन्म हुआ, धार्मिक और सामाजिक शोषण के लिये अनेक विधि विधान निर्मित हुए और स्थिर स्वार्थों की रक्षा के लिये धर्म को सामूहिक हितसंपादन का साधन न मानकर एक विभीषिका के रूप में प्रस्तुत किया गया जिससे मनुष्य आतंकित और त्रस्त होकर अत्यधिक जिज्ञासा और कौतूहल की वृत्ति का त्याग करे। संत साहित्य इस प्रकार के सभी प्रयासों की व्यर्थता का अत्यंत सबल और अकाट्य प्रमाण है। मनुष्य किसी भी विधि विधान से बलवान है और कोई भी शक्ति उसकी निरंतर प्रवहमान चेतना की विकासोन्मुखी प्रतिभा को सदैव के लिये अवरुद्ध नहीं कर सकती।

संत साहित्य की प्रगतिशीलता

स्मरण रखने की बात है कि संतमत के उद्बोधक प्रायः सभी ऐसे व्यक्ति थे, जिनकी गणना मनु पराशर और याज्ञवल्क्य आदि के समाज में धूल से भी हीनतर थी। कबीर जाति के जुलाहे थे, दादूदयाल मोची या धुनिया थे, सुंदरदास बनिया थे, रैदास चमार थे, भक्तमाल के रचयिता नाभादास डोम

थे। इसी प्रकार धना, सेन सभी उस वर्ग के व्यक्ति थे, जिन्हें वर्ण व्यवस्था में निम्नतम स्थान दिया गया है। ये सभी लोग शूद्र थे। कबीर तो शूद्र से भी निम्न थे। एक तो म्लेच्छधर्मी मुसलमान और उसमें भी जुलाहा, जिसे हिंदू समाज के अंतर्गत शूद्र का स्थान दे दिया गया था। किंतु इन सभी संतसाधकों में इतनासा हस और आत्मविश्वास आ गया था कि सभी उच्च जातियों और सत्ताधारियों को बिना हिचक चुनौती देते फिरते थे, उनकी स्वार्थपरता, वंचकता और अधार्मिकता की पोल खोलते थे। ऐसा आत्मविश्वास इन निम्नजन्मा व्यक्तियों में कैसे आया ? वास्तव में हिंदी के ही क्षेत्र में यह स्थिति नहीं थी। थोड़े बहुत अंतर के साथ यही भावना और इसका प्रतिपादन हमें इसी काल के आसपास समूचे देश में मिलता है। दक्षिण में तमिल के शूद्र संतों को प्रेम उच्छल वाणी की शक्ति हम देख ही चुके हैं, जिसे ब्राह्मण आचार्यों ने भी पंचम वेद कहा और उनकी रचनाओं को शास्त्रप्रतिपादित करके समूचे देश में फैलाया। महाराष्ट्र में नामदेव, तुकाराम आदि भी निम्न वर्ण के थे। उसी प्रकार गुजरात, सौराष्ट्र महाराष्ट्र उत्कल और बंगाल की भी स्थिति थी। सर्वत्र ही आठवीं दसवीं शताब्दी के बीच एक ऐसा विचार का ज्वार आया था कि उससे बहुत कम बचे। उत्कल में निरंजन संप्रदाय का पर्याप्त प्रचार था। बंगाल में तो यह स्थिति पाल वंश के राज्यकाल में रही कि भौतिक शक्ति और आध्यात्मिक नेतृत्व दोनों ही केवल अब्राह्मणों के हाथ रहा वरन् ब्राह्मण क्षत्रिय सभी अभिजात वर्ग लुंठित थे राज्य की सत्ता पाल वंश के हाथ में थी जो शूद्र थे और जिन्होंने सहजिया औ बज्रयानी सिद्धों को अपने राज्य में आश्रय दिया। कहना नहीं होगा, ये सिद्ध सभ ब्राह्मणवाद के कटु विरोधी रहे। ये तो न केवल जातिपाँति विरोधी थे, अथव मूर्ति और मंदिर आदि के विरोधी थे, वरन् इनका विरोध तो समस्त वैदिक शास्त्रीय परंपरा से था और उनके प्रतिपादित जीवन के मौलिक मूल्यों से था। पंचमका की उपासना करके उन्होंने वैदिक और शास्त्रीय सिद्धांतों और मान्यताओं की जड़ पर ही प्रहार किया। इस तरह समस्त आर्यावर्त एक ऐसी नयी चेतना से आंदोलित हो रहा था जिसमें मनुष्य को उसके मूल रूप में प्रतिष्ठित करने की अदम्य प्रेरणा थी। थोड़ा बहुत भेद इन मूल्यों की व्याख्या और स्वरूप में अवश्य हो गया था। पूर्व के मगध और बंगाल के साधक प्रारंभ से ही अधिक क्रांतिकारी और अतिवादी थे। बौद्ध और जैन धर्म की स्थापना से लेकर सहजिया संप्रदाय तक के विकास में हम देखते हैं कि उन्होंने सभी कृत्रिम बंधनों को अस्वीकृत करके केव

निम्नजन्मा साधकों का साहस

मनुष्य को उसकी सहजात वृत्ति और सहज अनुभूति के अनुशासन में रखने का समर्थन किया। उनके पश्चिमी साधक और सहयोगी भी इन्हीं मानवमूल्यों को प्रतिष्ठित करने में कृतसंकल्प थे, किंतु उन्होंने ऐसा करने में जीवन और आचरण के कतिपय सिद्धांत पूर्व परंपरा से भी ग्रहण किए। पूर्व के सिद्धों की तरह सभी को अस्वीकार नहीं किया, किंतु दृष्टि में समानता अवश्य थी। इस प्रकार समूचे देश में आद्यंत एक ही प्रकार की विद्रोह की भावना का नेतृत्व और उद्बोधन समाज के ये तथाकथित निम्न वर्ग के लोग कर रहे थे। इसके पीछे शताब्दियों की अनेक शक्तियों की समवेत प्रेरणा थीं। शुंगकाल और उसके परवर्ती काल में भारतीय चिंता के विकास का मार्ग प्रायः अवरुद्ध हो गया था। स्मृति और पुराण ग्रंथों की रचना करके समाज के चिंतन आचार और संगठन को इतना जटिल और कठोर कर दिया गया था कि लोगों को उसमें नवीनता लाने के लिये अवकाश ही नहीं था। द्विजातियों में क्षत्रिय ही चेतनप्रबुद्ध थे, किंतु वे उस स्मृति पुराण अनुमोदित समाज और धर्म व्यवस्था के प्रहरी घोषित कर दिए गए। ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित राजधर्म के भोक्ता, रक्षक और संचालक बनकर उन्होंने पुरोहित वर्ग के साथ एक प्रकार का मूक समझौता कर लिया। उस काल की शासन-व्यवस्था की एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि सिद्धांत में तो सम्राट या नरेश निरंकुश शासक था, किंतु व्यवहार में वह किसी भी प्रकार से नये विधान अथवा नियम की रचना नहीं कर सकता था। आज की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसको विधाननिर्माण (लेजिस्लेचर) का अधिकार नहीं था। अतः द्विजातियाँ केवल स्मृति और पुराणों में कही गई समाजव्यवस्था का अंध समर्थन कर सकती थीं। ब्राह्मण का स्थान शास्ता और नियामक के रूप में सुरक्षित था।

इस व्यवस्था में सबसे अधिक दुर्दशा और प्रतारणा उस समुदाय की थी, जो शूद्र अथवा अंत्यज कहा जाता था। कहा जाता है, जब स्थिति सहन के बाहर चली जाती है, तो परिणाम की चिंता नहीं रह जाती। शूद्रों और तथाकथित निम्न वर्णों के लोग जो समाज के सभी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित थे, अंत में इन सभी शास्त्र पुराण ग्रंथों के बोझ को फेंककर, उठ खड़े हुए और उच्च स्वर से उन्होंने मानव की समता का उद्घोष किया। इसी समय मुसलमानों का आक्रमण हुआ। उहोंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों के सामने देखा कि राजपूतों का शस्त्र बल और ब्राह्मणों का शास्त्र देव बल कोई भी विधर्मियों के आक्रमण को रोकने में समर्थ नहीं और उन सबकी मर्यादा उनकी प्रचंड पाशवशक्ति के नीचे पदमर्दित हो गई। यद्यपि इन निम्न जातियों में से बहुतों ने इस्लाम धर्म भी स्वीकार कर

लिया था, किंतु उन्होंने मुसलमान, हिंदू, वर्ण अथवा अवर्ण सभी भेदों से ऊपर उठकर अपने हृदय में उठनेवाले इन प्रबल विचारों को व्यक्त करने में संकोच नहीं किया।

यह हमने देखा है कि मनुष्य की चिंताधारा कभी भी सर्वथा अवरुद्ध नहीं हो सकती। उसके अवरोधक सभी साधन और उपकरण उसके उच्छ्वल और उद्दाम प्रवाह के वेग में खंड खंड हो जाते हैं। स्मृति पुराणकाल में यह चेष्टा अत्यंत कौशल और युक्ति के साथ की गई थी। पुरोहितों और ब्राह्मणों ने मनुष्य की चिंतना और विचारणा को इतनी प्रवीण शैली और अटूट बंधनों से बाँधा था कि उन्हें यह विश्वास नहीं था कि वे कभी टूट सकेंगे किंतु उनको तोड़ा उन निर्बल अशक्त और पदमर्दित निम्नजन्मा शूद्रों, अंत्यजों और निर्धन विधर्मियों ने, जिनसे इस तरह की कभी कोई आशंका भी नहीं की जा सकती थी। हिंदी-भाषी क्षेत्र में तो इन संत कवियों ने अपनी ऐसी अटूट परंपरा और व्यापक प्रभाव फैलाया कि अभिजात वर्ग ने भी अपने पुरातन मूल्यों को बदलने की आवश्यकता समझी और उन्होंने वेद और शास्त्रों का समर्थन देकर सगुण उपासना को परमार्थ का सबसे बड़ा साधक माना। उनको सगुण उपासना निर्गुण के समकक्ष स्पष्टतः ग्राह्य और उपादेय प्रतीत हुई, किंतु निर्गुण संप्रदाय और उपासना के इस प्रबल विद्रोह के पीछे के वैचारिक औचित्य को सभी को स्वीकार करना पड़ा।

संतों की दृष्टि—सामाजिक और व्यक्तिवादी

निर्गुण संतों ने जीवन और विचार के क्षेत्र में जो दृष्टि अपनायी, उसमें एक ओर नवीन सामाजिक और वैचारिक क्रांति के बीज तो संनिहित थे, किंतु उनका दृष्टिकोण शुद्ध सामाजिक और समष्टिवादी नहीं था। सामाजिक विधि विधान, उपासना और आचार के क्षेत्र में तो उनकी दृष्टि सामाजिक और समष्टिवादी थी। इसी कारण उन्होंने मानव समता और स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रवर्तन और समर्थन किया, किंतु साधना के क्षेत्र में उनकी भी दृष्टि व्यक्तिवादी थी। साधना के लिये उन्होंने भी एकांतवास, निस्संगता और लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता उतने ही अंश में आवश्यक माना, जितना विरतिवादी और संन्यासमार्ग के समर्थक पुराने परंपरावादियों ने। उनकी साधना के साथ भक्ति के समावेश के कारण यह उनमें निस्संगता और संन्यास की वृत्ति तो अवश्य कुछ मंद हुई, किंतु कुछ परंपराबद्ध मूल्य उनके भी बीच प्रतिष्ठित रहे।

इस संबंध में हमें सबसे अधिक खटकनेवाली बात प्रतीत होती है उनका स्त्रियों के प्रति अनुदार दृष्टिकोण। संत कवियों ने वैसे तो मानव अधिकारों की प्राप्ति और व्यवहार के लिये अपने विचारों को बहुत स्पष्टता से व्यक्त किया है, किंतु स्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण परंपरायुक्त ही है। इतना अवश्य है कि संत कवियों में अधिकांश प्रचारक और प्रवर्तक गृहस्थ जीवन व्यतीत करनेवाले थे। वे संन्यासी नहीं थे वरन् विवाहित जीवन बितानेवाले थे। पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए और उसमें अनुरक्त होते हुए स्त्रियों के प्रति जो असहिष्णु और अनुदार विचार उन्होंने व्यक्त किए हैं, वे उनकी समस्त विचारपरंपरा के साथ मेल नहीं खाते। वैदिक और शास्त्रीय परंपरा में स्त्रियों के साथ भी वही दृष्टिकोण अपनाया गया था, जो शूद्रों तथा अन्य निम्न जातिवालों के साथ था। संत कवियों ने मनुष्य के सार्वभौमिक और शाश्वत समानता के अधिकारों की तो घोषणा की, किंतु उन्होंने स्त्रियों के प्रति पापमय, नरकमय आदि न जाने कितने अपमानसूचक विशेषणों और संबोधनों का प्रयोग किया है। गार्हस्थ्य जीवन में उन्हीं नारियों के साथ का नित्य नैमित्तिक जीवन तो सौहार्द्रपूर्ण व्यतीत होता था, किंतु सिद्धांत और उपासना के क्षेत्र में उन्हें नारकीय मानना किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। मेरी समझ में संत कवियों ने स्त्रियों के प्रति जो यह अनुदार भाव व्यक्त किया है वह मानवी के रूप में नहीं, किंतु उसके संपर्कजन्य आचारगत शिथिलता और स्खलन के कारण कहा है। किंतु चारित्रिक स्खलन के लिये जितना नारी उत्तरदायी है उतना ही पुरुष भी। अतः वासना के प्रतीकरूप केवल स्त्री को ही मानकर उसकी भर्त्सना करना उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसा संभव है कि संत कवियों ने बहुत समय से चली आती हुई स्त्रियों संबंधी इन मान्यताओं को बिना उनकी यथार्थता की परीक्षा किए ही स्वीकार कर लिया। धर्म, जाति और व्यवहार में होनेवाले अन्य अत्याचारों और असमानताओं का उन्हें स्वयं अनुभूत ज्ञान था। स्त्रियों के संबंध में उन पर होनेवाले अन्याय और अत्याचार का रूप ही स्पष्ट नहीं हो सका। इसका एक और भी कारण प्रतीत होता है। स्त्रियों की जो स्थिति शूद्रों के परिवार में थी, वही स्थिति द्विजों के भी परिवार में। द्विज के परिवार में पालित होनेवाली स्त्री उसी प्रकार सभी सामाजिक, धार्मिक और मानवीय अधिकारों से वंचित थी, जिस प्रकार द्विजेतर जातियों की स्त्रियाँ थीं।

नारी के प्रति संतों का दृष्टिकोण

संभवतः इस दृष्टि से द्विज परिवार की स्त्रियों की स्थिति द्विजेतर परिवार की स्त्रियों से भी हीनतर रही हो। अतः इन संतों और साधकों का ध्यान समाज में उनकी स्थिति के औचित्य या अनौचित्य की ओर आकृष्ट ही नहीं हुआ। विषमता का ज्ञान तो तब होता है, जब हम अपनी दृष्टि के संमुख भेदभाव की स्थिति पाते हैं। जब एक वर्ग के साथ सर्वत्र एक ही प्रकार का दृष्टिकोण और सामाजिक आचार बरता जाता है तो सामान्यतः उसके अंतर्विरोध और असंगति की ओर कम दृष्टि जाती है। संतमत के आविर्भाव के समय आचारगत दृढ़ता को विशेष बलपूर्वक कहने की आवश्यकता इन भक्तिवादी साधकों को पड़ी होगी, क्योंकि वाम उपासना के व्यापक प्रचार के कारण समाज में अनेक प्रकार की उच्छृंखलता व्याप्त थी। अतः उस उच्छृंखलता को समाप्त करने के लिये यह आवश्यक प्रतीत हुआ होगा कि स्त्रियों के प्रति उदासीनता और उपेक्षा का दृष्टिकोण अपनाया जाय।

निर्गुणी कवियों और साधकों के संबंध में एक और विशेषता भी हमें आकृष्ट करती है। सभी संत साधकों ने श्रम के महत्त्व को उचित मान्यता दी है।

श्रम का महत्त्व

वे केवल खँजड़ी, तंबूरा अथवा झोली लेकर न तो केवल 'कहानी अथवा उपख्यान' ही कहते थे और न केवल भक्तों और अनुयायियों की शक्तिभावना और गुरुश्रद्धा के ही भरोसे बैठकर गुलछर्रा ही उड़ाते थे। यह सर्वविदित है कि कबीर जाति के जुलाहा थे। दादू धुनिया थे। रैदास चमार थे। सेन नाई थे। नाभादास डोम थे। सदन कसाई था। जो जिस प्रकार से ही पैतृक अथवा स्वेच्छा से चुना उद्यम करता था, उसे करते हुए ही वह भजन, उपासना अथवा पारलौकिक चिंतना करता था। उनका धार्मिक चिंतन समाज के कोलाहल से दूर, एकांतवाद की कृत्रिम सुरक्षा और शांति की अपेक्षा नहीं रखता था, वरन् समाज के बीच अन्य सभी लोगों के साथ नित्यजीवन का कार्य करते हुए, वे भगवद्भक्ति करते थे। कबीर ने बड़े यथार्थवादी ढंग से कहा है कि भूखे पेट भक्ति नहीं हो सकती। भूखा पेटवाला माला नहीं सँभाल सकता। उसे वह दूर फेंक देगा। हाँ इतना अवश्य है कि ये किसी के ऋणी नहीं हैं। अतः उन्हें किसी को कुछ देना नहीं है और न किसी से कुछ याचना करनी है। उन्हें तो केवल संतों के चरण की धूलि ही पर्याप्त है। कबीर ने अपनी संक्षिप्त आवश्यकताओं को बड़ी स्पष्टता से बतला दिया है। वे कहते हैं कि मुझे अधिक नहीं चाहिए। सेर दो सेर नित्य के लिये अन्न, पाव भर घी और नमक। इसके अतिरिक्त आधा सेर दाल। बस इतने में बहुत अच्छी

तरह हमारा उदरपोषण हो सकता है। एक खाट, तकिया और रजाई से उनकी सब आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती हैं।[1] ये सभी साधक न केवल सामाजिक दृष्टि से हीन थे आर्थिक दृष्टि से भी विपन्न थे। जीविका का बहुत सामान्य साधन और उसके ऊपर से राजा, ब्राह्मण और पुरोहितादि के अनेक कर। अतः उनके पास आराम और विलास के लिये बहुत कुछ बचता ही नहीं था। किंतु जितना भी उन्हें जीविकोपार्जन के लिये अपने परिश्रम से प्राप्त होता था, उसी से वे संतोष करते थे। दूसरों का हड़पना उनका न तो कभी उद्देश्य था और न उसकी इच्छा ही थी। कबीर के समय में व्याज से रुपया और धन की वृद्धि का व्यापार खूब चलता था और न देने पर राजा के यहाँ नालिश करके वसूलनेवाले सुदखोर महाजन किसी भी प्रकार की दया और उदारता नहीं दिखाते थे वरन् 'हरही गाय' की तरह दुलत्ती झाड़ने में अत्यंत पटु थे—

कलि का स्वामी लोभिया, पीतल धरी षटाय।
राज दुआरा यों फिरै, ज्यूं हरिहाई गाय॥
कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ।
दैंहि पईसा व्याज कौं, लेखा करता जाय॥[2]

समाज में निर्धनों की सर्वथा उपेक्षा थी। यदि कोई निर्धन धनवान के यहाँ जाता था, तो वे मुँह फेर लेते थे और उसपर कोई ध्यान नहीं देते थे।[3]

---

१. भूखे भगति न कीजै। यह माला अपनी लीजै।
हौ माँगौं संतन रे ना। मैं नाहीं किसी का देना।
माधव कैसी बने तुव संगे। आपिन देउ तलै बहु मंगे।
दुइ सेर माँगौं चूना। पाउ घीउ संग लूना।
अध सेर मागौं दाले। मौकौं दोनौं बखत जिवाले।
खाट मागौं चौपाई। सिरहाना और तुलाई॥
डा० श्यामसुंदरदास (संपा०): कबीर ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी पृ० ३१४।

२. कबीर ग्रंथावली, पृ० ३६।

३. निर्धन आदर कोइ न देई। लाख जतन करे ओहु चित न धरेई।
जो निरधन सरधन के जाई। आगे बैठा पीठ फिराई।
जो सरधन निरधन के जाई। दीया आदर लिया बुलाई॥
डा० श्यामसुंदरदास (संपा०): कबीर ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ३०२।

एक ओर सब लोग धन की इस प्रकार प्रतिष्ठा करते थे वहाँ कबीर और दूसरे संत साधक थे, जिनके समीप धन का कोई कृत्रिम मूल्य नहीं था। उन्होंने केवल उतना ही अपने लिये पर्याप्त समझा जितने से उदरपूर्ति हो सके। चिंतामणि विनायक वैद्य ने यह लिखा है कि उस समय एक बहुत उल्लेखनीय बात यह थी कि भिखमंगों का देश में नितांत अभाव था।[1] इन सब तथ्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि संत साधक ठोस भूमि पर खड़े थे। उन्होंने समाज के संमुख श्रम का आदर्श रखा। इस कारण दूसरे के श्रम पर खानेवाले बहुत कम रहे होंगे। भिखमंगों की कमी में एक कारण यह भी हो सकता है। इन संत कवियों में बहुत से मुसलमान भी थे। उन्होंने हिंदूसमाज में रहते हुए, जिस पेशे या व्यवसाय का सहारा जीविका के लिये लिया था, उसको मुसलमान होने के बाद भी चलाते रहे। पेशे या जाति के कारण वे अपने को निम्न नहीं समझते थे। बल्कि उनका तो यह कहना था कि वह जाति धन्य है, जिसमें उच्च आचरण का भगवद्भक्त जन्म ले। व्यक्ति की महत्ता उसके कर्म और आचरण पर अवलंबित है, उसकी जाति या पेशे पर नहीं—

उत्तमता का प्रतिमान

कबीर मेरी जाति कौं, सब कोई हँसने हारु।
बलिहारी इस जाति कौं, जिहि जपियो सिरजनहारु॥[2]

वास्तव में कबीर के संमुख उच्चता और हीनता का दूसरा ही मान था। वह मान था चरित्र और आचार का। सिद्धांत के प्रति मौखिक स्वीकृति को वे बिलकुल व्यर्थ मानते थे। उन्हें तो वही उच्च प्रतीत होता है जो कही बात को जीवन में आचरित करता है। जिसने आचरण नहीं किया उसका बनाया महल बिलकुल कच्ची नींव पर खड़ा है। जरा सा धक्का लगने पर ध्वस्त हो जायगा[3]।

---

१. वी नाउ गो आन टु डिस्क्राइब द थर्ड आस्पेक्ट आव् सोसायटी ह्विच मस्ट हैव कंट्रिब्युटेड टु द हैवी कंडीशन आव् द कंट्री विज द ऐबसेंस आव् बेगिंग बैंड्स। —सी० वी० वैद्य, हिस्ट्री आव् हिंदू मेडिवल इंडिया, पृ० २५२।

२. कबीर ग्रंथावली, पृ० २५८।

३. कथणी कथी तौ क्या भया, जे करणी ना ठहराय।
कालबूत के कोट ज्यों, देखत ही ढह जाय॥—का० ग्रं० ३८।

निर्गुणी कवियों की कतिपय सामान्य विशेषताओं का उल्लेख अलग से इसलिये करने की आवश्यकता प्रतीत हुई कि भारतीय चिंता के अविराम और अजस्र प्रवाह में जो हमें नैरंतर्य और गति मिलती है, उसका एक बहुत बड़ा प्रमाण निर्गुण साहित्य है। यहाँ के जीवन में विभिन्न तत्वों का संतुलन और समन्वय कुछ इस प्रकार और इस मात्रा में रहा है कि कभी भी चिंता की धारा चिरकाल तक कुंठा और अवरोध से ग्रस्त नहीं हो पाई। इसका लक्ष्य ही एक उन्नतमना, उदार, सहिष्णु और मानवीय दृष्टि को लेकर मानव के समष्टिमूलक जीवन में सौंदर्य, सौहार्द्र और सौख्य की अभिवृद्धि करना रहा है।

प्रमुख सहायक ग्रंथ

अपभ्रंश साहित्य : हरिवंश कोछड़
अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय : दीनदयाल गुप्त
अशोक के फूल : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
आदि ग्रंथ
आदि साहब की बानी
आसा जी की बार
उत्तरी भारत की संतपरंपरा : परशुराम चतुर्वेदी
कबीर बचनावली : अयोध्यासिंह उपाध्याय
कबीर साहित्य की परख : परशुराम चतुर्वेदी
कुरान : सुंदरलाल
कुरान-सार : राहुल सांकृत्यायन
कुरान शरीफ : अहमद बशीर
केनोपनिषद्
कठोपनिषद्
कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी
कबीर और जायसी : गोविंद त्रिगुणायत
कबीर बोध
कबीर साहित्य का अध्ययन : पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
कबीर बीजक : महाराज विश्वनाथसिंह
कबीर बीजक : महात्मा पूरनसाहब
कबीर ग्रंथावली : श्यामसुंदरदास
गोरखबानी : पीतांबरदत्त बड़थ्वाल
गोपाल बोध
गुलालसाहब की बानी
चरनदास की बानी (२ भाग)
जायसी ग्रंथावली : रामचंद्र शुक्ल
जगजीवन की बानी
जपुजी
तसव्वुफ अथवा सूफीमत : चंद्रबली पांडेय
तत्व कौमुदी (सांख्य कारिका)
दोहा कोश : राहुल सांकृत्यायन
दादू वाणी : पं० सुधाकर द्विवेदी
दूलन दास
दया बोध : दया बाई
दरिया सागर : दरिया
धनीधरमदास जी की बानी
नाथ संप्रदाय : हजारीप्रसाद द्विवेदी
नारद भक्ति सूत्र
पंचग्रंथी : रामरहसदास
प्रश्नोपनिषद्
पंच मुद्रा
पलटू की बानी (३ भाग)
पुरातत्व निबंधावली : राहुल सांकृत्यायन
पाहुड़ दोहा : मुनिरामसिंह
बौद्ध धर्म दर्शन : आचार्य नरेंद्रदेव
बोधसागर

बुल्ला साहब की शब्दावली
बौद्ध संस्कृति : राहुल सांकृत्यायन
भक्तमाल : नाभादास
भारतवर्ष में जातिभेद : क्षितिमोहन सेन
भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण : भगवतशरण उपाध्याय
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
भागवत पुराण (२ भाग) : गीताप्रेस
भारतीय संस्कृति का विकास : डा० मंगलदेव शास्त्री
महात्माओं की वाणी : रामबरनदास साहब
मुण्डकोपनिषद्
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति : गंगानाथ झा
मानव सभ्यता का इतिहास : रामविलास शर्मा
मुहम्मद बोध
मार्कंडेय पुराण
यारी साहब की रत्नावली
योग प्रवाह : डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल
रैदास जी की बानी
संत कवि दरिया : धर्मेंद्र ब्रह्मचारी
संत कबीर : रामकुमार वर्मा
सिद्ध साहित्य : धर्मवीर भारती
संस्कृति संगम : क्षितिमोहन सेन
सर्वज्ञ सागर
संतोष बोध
सर्वदर्शन संग्रह (मध्वाचार्य) : वेंकटेश्वर मुद्रणालय
संत सुधासार : वियोगी हरि
सुंदर विलास : वेलवेडियर प्रेस
सहज प्रकाश : सहजो बाई
सूफी संप्रदाय : राहुल सांकृत्यायन
सुंदर ग्रंथावली : पुरोहित श्रीनारायण जी
शंकराचार्य
शैव संप्रदाय : डा० यदुवंशी
शिव स्वरोदय
विश्व संहिता
श्री राधा का क्रम विकास : शशिभूषणदास गुप्त
हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय : पीतांबरदत्त बड़थ्वाल
हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा
हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचंद्र शुक्ल
हिंदी साहित्य की भूमिका : हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिंदी साहित्य का आदिकाल : हजारीप्रसाद द्विवेदी
हिंदी काव्यधारा : राहुल सांकृत्यायन
हजरत मुहम्मद और इसलाम : सुंदरलाल
हठयोग प्रदीपिका